

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY****KOTA (Raj)**

Students can retain library books only for two weeks at the most

| BORROWER S No | DUE DATE | SIGNATURE |
|------------------|----------|-----------|
| | | |

उपनिषदों में काव्यतत्त्व

POETIC ELEMENTS

IN THE

UPANISADS

1988-89

30 MAY 1990

डॉ० कृष्णकुमार धवन



विश्वेश्वरानन्द-वैदिकशोध-संस्थान

होगिआरपुर

१९७६

सर्वे अधिकारा सुरक्षिता

प्रकाशक-संकेत

विश्वेश्वरानन्द-वैदिकशोध संस्थानम्
साधु-आश्रम (प ग), होशियारपुरम् (भारतम्)
प्रथम संपादनम् १९७६



All Rights Reserved

FIRST EDITION, 1976

Publishers

VISHVESHWARANAND VEDIC RESEARCH INSTITUTE
Sadhu Ashram (P O) Hoshiarpur (India)

भारत होशियारपुरे वि वै शो स-मुद्रागृहे ।
शास्त्रिणा देवदत्तेन मुद्राप्येद प्रकाश्यते ॥

Printed and published by DEVA DATTA Shastri,
at the V. V. R. I Press, Hoshiarpur (Pb., India)

सम्पूर्ण

पूज्य

श्री पितृ-चरणों में

जिन्होंने

सम्पूर्ण प्रोत्साहन देकर मुझे

सुरभारती संस्कृत के

अध्ययन में प्रवृत्त

किया

विषयानुक्रमणिका

CONTENTS

| | पृष्ठ |
|--------------------------------|----------|
| FOREWORD By Dr V Raghavan | xxii-iv |
| अभिनन्दन—डा० मङ्गलदेव शास्त्री | vi-vii |
| प्रामुख | xiii-xiv |
| नाम-संक्षेप (ABBREVIATIONS) | xvii |

अध्याय 0 : उपक्रम

| | |
|---|-------|
| 0 १. उपनिषद्-साहित्य का परिचय | १-१४ |
| १. वैदिक साहित्य और उपनिषद् | १ |
| २. उपनिषद् का निर्वचन | १ |
| ३. उपनिषदों की संख्या | २ |
| ४. उपनिषदों का प्रतिपाद्य | ३ |
| ५. दर्शन और कविता | ४ |
| ६. उपनिषदों की कला | ६ |
| 0 २. काव्य के तत्त्व | १५-४६ |
| १. विषय-प्रयोग | १५ |
| २. काव्य-सिद्धान्तों का मूल | १७ |
| ३. अलंकार-सिद्धान्त | २१ |
| ४. गुण | २३ |
| ५. रीति | २९ |
| ६. शब्दा तथा पाद | ३१ |
| ७. व्योम्न | ३५ |
| ८. रस | ३६ |
| ९. छवि | ४१ |
| १०. ओचित्य | ४५ |
| ११. ओचित्य के सेव | ४८ |
| 0 ३. वैदिक-साहित्य में काव्यतरंगों का मूल | ५०-६१ |
| १. वेदों में अलंकार | ५२ |
| २. वेदों में गुण | ५६ |

| | |
|----------------------|-------|
| 0 ३ (गत पृष्ठ म आगे) | पृष्ठ |
| ३ वेदों में रीति | ५८ |
| ४ वेदों में ध्वनि | ६० |
| ५ वेदों में औचित्य | ६१ |

अध्याय १ : अलंकार

| | |
|-----------------------------|--------|
| १ १ वस्तुनिर्देश | ६३ |
| १ २ शाब्दालंकार | ६४—७४ |
| १ अनुप्रास ✓ | ६४ |
| २ यमक ✓ | ६९ |
| ३ वक्रोक्ति ✓ | ७१ |
| ४ श्लेष ✓ | ७३ |
| १.३ अर्थालंकार | ७५ |
| १ ४. सादृश्यमूलक अर्थालंकार | ७६—१४१ |
| १ उपमा ✓ | ७६ |
| २ पूर्णोपमा | ७९ |
| ३ लुप्तोपमा | ८५ |
| ४ भालोपमा | ८८ |
| ५ वाच्यार्थोपमा | ९२ |
| ६ उपमेयोपमा | ९५ |
| ७ रूपक ✓ | ९६ |
| ८ परिणाम | १०८ |
| ९ मन्देह ✓ | ११० |
| १० छान्तिमान ✓ | १११ |
| ११ उल्लेख | ११२ |
| १२ उद्देश्यता ✓ | ११५ |
| १३ मतिशयोक्ति ✓ | ११९ |
| १४ बोधक | १२३ |
| १५. मृद्वप्योगिता | १२५ |
| १६ प्रतिबन्धोपमा | १२६ |
| १७ वृष्टान्त ✓ | १२६ |

१४ (गत पृष्ठ से भाग)

| | |
|------------------|-------|
| १८ निदर्शना | पृष्ठ |
| १९ परिकर | १३० |
| २० परिकराकुर | १३२ |
| २१ अर्थापेक्षित | १३४ |
| २२ अर्थांतरन्यास | १३८ |
| | १४० |

१५ विरोधमूलक अलंकार

| | |
|--------------|---------|
| १ विरोध | १४२—१४३ |
| २ विभावना | १४२ |
| ३ विरोधोक्ति | १४६ |
| ४ विषम | १४७ |
| ५ अन्योन्य | १४८ |
| ६ विरोध | १४९ |
| | १५१ |

१६ शृङ्खलाबन्धमूलक अलंकार

| | |
|-----------|---------|
| १ करणमाला | १५४—१५८ |
| २ सार | १५४ |
| | १५६ |

१७ काव्यन्यायमूलक अलंकार

| | |
|--------------|---------|
| १ अर्थाप | १५६—१६८ |
| २ परिवृत्ति | १५९ |
| ३ परितोषा | १६० |
| ४ अर्थापत्ति | १६१ |
| ५ समुच्चय | १६४ |
| | १६६ |

१८ तर्कन्यायमूलक अलंकार

| | |
|-----------------|---------|
| १ काव्यार्थानुग | १६६—१७४ |
| २ अनुमान | १६९ |
| | १७३ |

१९ लोकन्यायमूलक अलंकार

| | |
|---------|---------|
| १ उत्तर | १७५—१७८ |
| २ तदनुष | १७५ |
| | १७७ |

११० गूढार्थप्रतीतिमूलक अलंकार

| | |
|----------|---------|
| १ भाविक | १७९—१८३ |
| २ उदात्त | १७९ |
| | १८१ |

पृष्ठ

| | |
|----------------|---------|
| १११. उभयालंकार | १८४—१८९ |
| १. सत्पृष्टि | १८५ |
| २. सकार | १९० |

अध्याय २ : गुण-रीति-पाक

| | |
|----------------|---------|
| २.१. गुण | १८२—२०३ |
| १ माधुर्यगुण | १९५ |
| २ ओजोगुण | १९७ |
| ३. प्रसादगुण | २०० |
| २.२ रीति | २०४—२१२ |
| १ वैदर्भी रीति | २०६ |
| २ गौडी रीति | २०८ |
| ३ पाचाली रीति | २१० |
| २.३ पाक | २१३—२१८ |
| १ नारिकेलपाक | २१५ |
| २ प्रपुमपाक | २१६ |
| ३ तिलिन्दीपाक | २१७ |
| ४. मूडीबापाक | २१८ |

अध्याय ३ : ध्वनि

| | |
|---|---------|
| ३.१ ध्वनिसिद्धांत | २१६—२२१ |
| ३.२ ध्वनिभेद | २२२—२४७ |
| १ सशब्दामूलक अर्थान्तरितमिलितवाच्यध्वनि | २२२ |
| २. सशब्दामूलक अर्थान्तरितरहितवाच्यध्वनि | २२४ |
| ३ अस्मिन्नामूलक अर्थान्तरितमूलध्वनि | २२५ |
| ४ पदध्वनि | २३९ |
| ५ वाक्यध्वनि | २४२ |
| ६ निधानध्वनि | २४४ |
| ७ प्रत्ययध्वनि | २४५ |
| ८. प्लुतध्वनि | २४६ |

अध्याय ४ : रस

पृष्ठ

| | |
|------------------|---------|
| ४.१ रस-सिद्धान्त | २४८—२५० |
| ४.२ रस-विदलेषण | २५१—२५५ |
| १. शान्त रस | २५२ |
| २. अद्भुत रस | २५४ |
| ४.३ भाव | २५६—२५७ |

अध्याय ५ : औचित्य

| | |
|----------------------|---------|
| ५.१. औचित्य का परिचय | २५८—२५९ |
| ५.२. औचित्य के भेद | २६०—२६२ |
| १. पद-औचित्य | २६१ |
| २. वाक्य-औचित्य | २६३ |
| ३. अलंकार-औचित्य | २६४ |
| ४. विशेषण-औचित्य | २६९ |
| ५. लिंग-औचित्य | २७१ |
| ६. वचन-औचित्य | २७२ |
| ७. प्रत्यय-औचित्य | २७४ |
| ८. निपात-औचित्य | २७५ |
| ९. नाम-औचित्य | २७७ |
| १०. क्रिया-औचित्य | २७८ |

अध्याय ६ : गद्य-काव्य

| | |
|--------------------------------|---------|
| ६.१. उपनिषदों का गद्य | २८३—२८६ |
| १. सूर्यक गद्य | २८५ |
| २. वृत्तगन्धि गद्य | २८९ |
| ३. उत्कलिकाग्रय गद्य | २९० |
| ६.२. निष्कर्ष | २९२—२९४ |
| ६.३. कथात्मक तथा नाटकीय गद्य | २९५—२९६ |
| १. कथात्मक शैली | २९५ |
| २. नाटकीय अथवा संध्यात्मक शैली | २९६ |
| उपसंहार | ३०० |

परिशिष्ट

पृष्ठ

(क) उपनिषदों के उपमान

३०३—३११

| | |
|--------------------------------------|-----|
| १ दिव्य | ३०३ |
| २. वनस्पति तथा अन्य प्राकृतिक पदार्थ | ३०४ |
| ३ जीवजन्तु | ३०६ |
| ४ दैनिक व्यवहार में आने वाले पदार्थ | ३०७ |
| ५ विविध | ३१० |

(ख) छन्द

३१२—३१७

| | |
|---------------------------|-----|
| १ छन्दों के भेद | ३१३ |
| २ उपनिषदों में छन्दोयोगना | ३१३ |
| अनुष्टुप् | ३१५ |
| इन्द्रवज्रा | ३१५ |
| उपजाति | ३१६ |
| वशास्थ | ३१७ |

(ग) सूक्तियाँ

३१८—३१९

अनुशीलित ग्रन्थ सूची (BIBLIOGRAPHY)

३२१—३२८

विशिष्ट शब्द सूची (SUBJECT INDEX)

३२९—३४९

शुद्धि पत्र

३५०—३५१

FOREWORD

I am glad to write this short Foreword to the study of the poetic elements in the Upanisads offered in the following pages by Dr K. K. Dhavan. The literary approach to the Vedas which has received much attention in the modern study of Sanskrit literature is, however, not something absolutely new. Brahmā is counted as the first Poet, and the Vedas, the first Poetic creations. The Seers of the hymns are also called *Kavis* and the seeds of the Indian poetic theory can be traced to the *Rgveda*. In the *Nirukta*, Yaska and, before him, Gārgya, considered the words conveying simile and the concept of simile. The *Upanisads* resort as much to the simile and metaphor, and the *Vedānta-Sūtras* discuss the use of *ropaka* in the well-known description of the body as the chariot and the soul as the charioteer. Rājasekhara therefore declares that Poetics, which thus holds the key to the understanding of many Vedic passages, is, over and above the accepted six *Angas*, the seventh *Anga* of Vedic exegesis.

The *Rgveda*, of course, leads in the manifestation of the poetic style and there have been several studies of the poetical aspects of the *Rks*, particularly of the similes. Some have extended this kind of study to the *Atharva-Veda* also and produced interesting results. The present work of Dr Dhavan takes the *Upanisads* for a similar analysis. Although there has been some examination of the similes of the *Upanisads*, this, I think, is the first systematic treatment of all the poetic elements in

Upanisadic writing—*Śabdāṅkara*, *Upamā* and several other *Arthāṅkara*s, *Guna Riti*, *Aucitya*, *Rasa* and *Dhvanī*, the quality of the prose dialogues is also evaluated and the handling of metres, too, has received some attention. In the end, a classified list of the similes in the *Upanisads* is also given.

It is quite a painstaking work to sift and select from the ancient Upanisads passages answering precisely to the definitions of the different *Āṅkara*s as distinguished very much in later *Āṅkara* works. The author may well be congratulated for the analysis and presentation of the material and contributing to the enjoyment of the literary side of a literature which had been held in esteem all over the world as the highest peak of Indian Philosophy.

V RAGHAVAN

Madras

23 11-1975

अभिनन्दन

मैं तो अपना सौभाग्य ही कहूँगा कि मुझे डॉ० कृष्णकुमार धवन के ग्रन्थ उपनिषदों में काव्यतत्त्व को देखने का अवसर प्राप्त हुआ। मैं वर्षों से वेद तथा उपनिषत्-साहित्य का विद्यार्थी रहा हूँ। इनलिए वैदुष्यपूर्ण उक्त निबन्ध को देखकर मुझे अत्यन्त हार्दिक प्रसन्नता हुई है।

मेरी यह दृढ़ धारणा है कि उपनिषत्-साहित्य पर जिस मूढम दृष्टि से डॉ० धवन ने अपने विचार प्रतिपादित किए हैं, वे निर्दिष्ट ही सोपन्न हैं। मेरी दृष्टि में ऐसी कोई पुस्तक नहीं आई जिसमें उपनिषत्-साहित्य पर प्रकृत दृष्टि से कुछ भी विचार किया गया हो। उपनिषदों के सम्बन्ध में इस विचार का महत्त्व कई दृष्टियों से है। पता नहीं, सहस्रो वर्षों से दुर्भाग्य-वश हमारे देश में वैदिक साहित्य के प्रति, जिसमें उपनिषदों का प्रधान स्थान है, विद्वानों की बराबर उपेक्षा क्यों रही है? वेदों का सार्वभौम उपदेश मानवमात्र की अमूल्य सम्पत्ति है। ऐसी अवस्था में भी यह समझ में नहीं आता कि हमारे संस्कृत-साहित्य में वैदिक-साहित्य के प्रति हीनता की भावना कैसे पैदा हो गई? निम्न निर्दिष्ट पद्य को देखिए। महाभारत में दो स्थलों पर, कुछ पाठभेद के साथ यह पद्य आता है :—

श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याविपरिचतः ।

अनुवाकहता बुद्धिर्नृपा तत्त्वार्थदर्शिनी ॥

(शा० प० १० १, उ० प० १३२-६)

साथ ही, विक्रमोर्वशीय का वह पद्य तो प्रसिद्ध ही है जिसमें ब्रह्मा के लिए वेदाभ्यासजडः कहा गया है—वेदाभ्यासजडः कथं नु विषय-व्यावृत्तकौतूहलः। ऐसे वचन और भी कई स्थानों पर मिलेंगे।

प्रकृत गवेषणात्मक ग्रन्थ का प्रमुख महत्त्व तो यही है कि इसके द्वारा भारतीय विद्वानों की परम्परा में भी वैदिक साहित्य के प्रति प्रायेण जो इस प्रकार की हीनबुद्धि है, उसकी निर्मूलता सिद्ध हो जाती है। इसके अनुशीलन से मुझे ऋग्वेद के दशम मण्डल की इन ऋचाओं का ध्यान मन में आ जाता है —

यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥
देवस्यै पश्य काव्यं ... ॥

इसी प्रकार सैकड़ों मंत्रों में वैदिक-साहित्य के शब्दों में ही वेदों के साहित्यिक महत्त्व का प्रतिपादन स्पष्ट शब्दों में किया गया है। निस्सन्देह वैदिक साहित्य, जिसमें उपनिषदों का अत्युत्कृष्ट स्थान है, साहित्यिक दृष्टि से भी उसी प्रकार अपना महत्त्व रखता है जिस प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से।

प्रस्तुत शोध-निबन्ध का एक विशिष्ट महत्त्व यह है कि इसमें साहित्य-शास्त्र की विभिन्न दृष्टियों से, बड़े परिश्रम-पूर्वक, प्रधान उपनिषदों का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है। इस अभिनव अध्ययन के कारण मेरी मम्मति में डॉ० धवन के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि की पूर्वावृत्ति उक्ति सार्थक हो जाती है और हम उनके लिए सुमेधाः विशेषण का प्रयोग कर सकते हैं।

इस परिश्रम-साध्य विशिष्ट कृति के लिए मैं हृदय से डॉ० धवन का मवर्धन करता हूँ। पूर्ण आशा है वे अपने इसी प्रकार के वैदिक अध्ययन को भविष्य में भी जारी रखेंगे।

मङ्गलदेव शास्त्री

मङ्गल भवन,

दिल्ली—७,

१६. ९. १९७५

श्रामुख

वैदिक साहित्य निखिल ज्ञान-विज्ञान की अक्षय निधि है। प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्वानों द्वारा इसका मानव-संस्कृति एवं आध्यात्मिक दर्शन के विकास की दृष्टि से सूक्ष्म तथा सुविस्तृत अध्ययन किया गया है। भाषाविज्ञानवेत्ताओं एवं धर्मविज्ञान के अध्येताओं ने भी, वेदों का अध्ययन अनिवार्य समझकर, इनका पर्याप्त रूप से मन्थन किया है। इसके साथ-साथ इस कथन में भी कोई अशुक्ति नहीं कि वेद श्रृष्टि का अमर काव्य भी है। इनका सौन्दर्यपक्ष भी उतना ही प्रबल है जितना कि सत्य और शिव। पर इन्हें एकमात्र धर्मग्रन्थ मानने के कारण, काव्य की दृष्टि से इनका अध्ययन प्रायः उपेक्षित ही रहा है। अब विद्वानों का ध्यान धर्म-धर्म इस ओर आकृष्ट हो रहा है तथा इनमें भारतीय संस्कृति एवं ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न परम्पराओं के समान काव्य-परम्परा के बीज भी ढूँढ़े जा रहे हैं। कुछ विद्वानों द्वारा ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के साहित्यिक पक्षों का अध्ययन किया भी गया है।

वेदों के समान उपनिषदों के विषय में भी अब तक यही धारणा रही है कि ये मानव-जीवन के गूढ़ रहस्यों के प्रकाशक तथा आत्मिक शान्ति प्रदान करने वाले अद्वितीय ग्रन्थ हैं। इनकी दार्शनिक महत्ता को विभिन्न युगों एवं विभिन्न देशों के मनीषियों ने एकमत से स्वीकार किया है। फलतः अब तक इनका अनुशीलन आध्यात्मिक दृष्टि से ही होता आ रहा है। पर, इनके सूक्ष्म अध्ययन से प्रतीत होता है कि उपनिषद्-साहित्य न केवल गम्भीर तथा उदात्त विचारों के कारण ही गौरवान्वित है, अपितु अभिव्यक्ति की कलात्मकता की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

यह तो सत्य है कि उपनिषद् दार्शनिक दृष्टिकोण लिए हुए है, पर उपनिषद् का रूप अपने दर्शन तथा चिन्तन को मूर्त-रूप देने एवम् उसे साधारण जिज्ञासुओं को हृदयङ्गम कराने के लिए प्रायः काव्यात्मक साधनों का प्रयोग करता है। परन्तु उपनिषदों का यह गरिमायुक्त साहित्यिक पक्ष विद्वानों के गम्भीर चिन्तन का विषय नहीं बना। ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषदों का उदात्त दर्शन हिमालय के महानहिम-

शाली शिखर के समान विद्वानों को अभिभूत करता रहा है और इस कारण उसके अन्तस् में प्रवाहित होने वाली काव्य-मन्दाकिनी की ओर उनकी दृष्टि ही नहीं गई ।

उपनिषदों में यद्यपि प्रभुसम्मित वाक्यों की प्रधानता है, पर देखा जाय तो कान्तासम्मित वाक्यों की भी वहा बनी नहीं । इतना होते हुए भी, इन महान् आप ग्रन्था का काव्यगत अध्ययन कही इनकी पवित्रता को खण्डित न कर दे अथवा इनके गौरव को किसी प्रकार हानि न पहुँचा दे, सम्भवतः इसलिए काव्य के रूप में इनका अध्ययन उचित नहीं समझा जाता रहा । परन्तु, उपनिषदों की रचनाशैली बताती है कि ऋषित्व और कवित्व, दशन और कविता परस्पर विराधी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं ।

वेद ही नहीं, अपितु निखिल ब्रह्माण्ड भी ईश्वर का काव्य है । ऐसी स्थिति में ईश्वर और उसकी सृष्टि के गूढ़ रहस्य का प्रकाशन करने वाले उपनिषद् काव्यत्व से शून्य कैसे रह सकते हैं ? भरतमुनि ने इसी कारण नाट्य के सभी अंगों की उत्पत्ति वेदा में ही मानी है^१ । राजशेखर ने भी त्रयो और आन्वीक्षिकी के उपरान्त साहित्य विद्या को पाचवी विद्या मानते हुए उसे चारों विद्याओं का निष्पन्न माना है तथा अलङ्कार शास्त्र को सप्तम वेदांग भी, क्योंकि इसके बिना वेदार्थ का ज्ञान सम्भव नहीं^२ । अतः वेदा और उपनिषदों के अन्य पक्षों के अध्ययन के साथ

१. जग्राह पाठ्यमृगवेदात् सामभ्यो गीतमेव च ।

यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथवणादपि ॥

वेदोपवेद सम्बद्धो नाट्यवेदो महारमना ।

एव भगवता मृष्टो ब्रह्मणा सतितात्मकः ॥

—भा० शा०, १ १७ १८

२. पञ्चमो साहित्यविद्या इति यायावरीयः । सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्पन्नः ॥

शिखा बन्धो व्याकरणं निष्कन द्वादशविजिति ज्योतिषं च यद्व्याजि' इत्याचार्यः । उपकारवाक्यसकारं सप्तममगम्' इति यायावरीयः । ऋते च तात्पर्यपरिज्ञानाद् वेदार्थानवगतिः ॥

—भा० शी०, द्वितीयाध्याय, शास्त्रनिर्देश

काव्य के रूप में भी इनका अध्ययन, इनमें निहित विचारों का पूर्णतः अभिव्यक्ति के लिए नितान्त आवश्यक है। तथापि, ऋग्वेद काल से प्रवर्धमान भारतीय दर्शन के विकास के अध्ययन के लिए यदि उपनिषदों का अनुशीलन अनिवार्य है, तो भारतीय काव्यपरम्परा के अध्ययन के लिए भी वह अनिवार्य नहीं तो उपयोगी अवश्य है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इसी दृष्टिकोण से ईश, वेन, कठ आदि पूर्वतन एकादश उपनिषदों का काव्य-शास्त्रीय अध्ययन किया गया है। इनमें काव्यगत विविध विशेषताएँ प्रप्रस्थापित रूप से उपलब्ध हैं।

इस ग्रन्थ को छः अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय में अलंकार-सौन्दर्य का निरूपण करते हुए उपनिषदों में उपलब्ध अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों, उपमा, रूपक आदि अर्थालंकारों तथा उभयालंकारों का विवेचन किया गया है। इस विवेचन के लिए आचार्य विश्वनाथकृत साहित्यवर्णन को मुख्य आधार माना गया है। द्वितीय अध्याय में पद और वाक्ययोजना की दृष्टि से उपनिषदों की भाषा और शैली की रमणीयता का गुण, रीति व पाक के रूप में प्रतिपादन किया गया है। उपनिषदों में छवि-सौन्दर्य की भी कमी नहीं है। तृतीय अध्याय में छवि-सौन्दर्य का उद्घाटन करते हुए छवि के कतिपय भेदों का दिग्दर्शन कराया गया है। चतुर्थ अध्याय में रस का विवेचन किया गया है। उपनिषदों में मध्यतः शान्त तथा अदम्य रस की ही अभिव्यक्ति हुई है। अंग के रूप में शङ्कार की भी अभिव्यञ्जना पाई जाती है। रस के अतिरिक्त, उपनिषदों में भावादि के दर्शन भी पर्याप्त रूप में होते हैं। स्थान-स्थान पर ऋषि अग्नि, आदित्य आदि देवों के प्रति रति की अभिव्यक्ति करते देखे गये हैं। काव्य को सजीव एवं सार्थक बनाने वाले औचित्य नामक तत्त्व का विवेचन पञ्चम अध्याय में किया गया है। ऋषियों ने ब्रह्म-तत्त्व तथा जीवन-दर्शन को सुस्पष्ट करने के लिए उपनिषदों में सर्वत्र उचित पदों, वर्णों, प्रत्ययों, वाक्यों आदि का प्रयोग किया है, जिससे उनके चक्षुओं में प्राणप्रतिष्ठा के साथ-साथ सुन्दरता भी आ गई है।

गद्य-रचना की दृष्टि से भी उपनिषद्-साहित्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। औपनिषदिक गद्य उत्तरवर्ती संस्कृत-साहित्य में प्रचलित विविध गद्य-शैलियों का पूर्वगामी प्रतीत होता है। लौकिक संस्कृत-साहित्य में प्राप्त गद्य की कथा, आख्यायिका, चम्पू आदि अनेक विधाओं एवं उनमें

प्राप्त चूर्णक, वृत्तगन्धि, उत्कलिषा इत्यादि अनेक शैलियों के सुन्दर निदर्शन उपनिषदों में प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त सम्वादात्मक (नाटकीय) शैली का भी प्रभूत प्रयोग उपनिषदों में हुआ है, जिससे मिथ होता है कि लौकिक मस्त्रुत के नाटकों का सम्बन्ध एवम् वेद के सम्वाद-मूक्तों से न होकर औपनिषदिक गद्य की इस नाटकीय शैली में है। उपनिषत्-साहित्य में प्राप्त गद्य के पूर्वोक्त विविध रूपों का सोदाहरण विवेचन पृष्ठ अध्याय का प्रतिपाद्य है।

उपनिषत् साहित्य का परिचय, काव्य के तत्त्वों का मैदान्तिक विवेचन तथा वैदिक साहित्य में काव्य के तत्त्वों के मूल का प्रतिपादन उपक्रम भाग में तथा उपनिषदों के प्रसिद्ध उपमानों, सूक्तियों एवम् उनमें उपलब्ध कतिपय लौकिक छन्दों का निर्देशन परिशिष्ट-भाग में समाविष्ट है।

कृतज्ञता-प्रकाशन

प्रस्तुत ग्रन्थ मूलरूप में पञ्जाब विश्वविद्यालय (चण्डीगढ़) द्वारा पीएच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है। इसके प्रकाशन के अवसर पर मैं इस शोधकार्य में अपने निर्देशक, डॉ० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, अध्यक्ष, मस्त्रुत-विभाग, पञ्जाब विश्वविद्यालय के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ। इस विषय में अनुसन्धान करने की मूलप्रेरणा मुझे अपने परममित्र, साहित्यशास्त्र प्रवीण डॉ० रविशङ्कर नागर (दिल्ली) से मिली थी। तथा च. इसकी पूर्ति के निमित्त भी इनमें सतत समित सहयोग एवं प्रोत्साहन मिलता रहा। तदर्थ मैं इनका अत्यन्त ऋणी हूँ। अब तरु बेवत उच्च दार्शनिकता के लिए विख्यात उपनिषदों की काव्यात्मकता का उद्घाटन करने-जैसे दु माध्य कार्य में अनेकानेक समस्याओं का उभरना स्वाभाविक था। परन्तु, सौभाग्य में इनके समाधानार्थ मुझे भाषाविद् व साहित्य के मर्मज्ञ डॉ० देवीदत्त शर्मा (चण्डीगढ़) तथा प्राच्य-विद्याविमरद प० इन्द्रदत्त उनियान (होशिधारपुर) से तत्परतापूर्वक सहायता प्राप्त होती रही। तदर्थ मैं इन विद्वानों का हृदय से आभारी हूँ। प्रस्तुत ग्रन्थ की विशिष्ट शब्द सूची के निर्माण का कार्य श्री प्रमोदनमिह विन्दा ने तथा प्रफ-अनुसन्धान प्रो० रत्नचन्द्र शर्मा ने अत्यन्त मनोयोग व परिश्रम में किया है। इनका मैं बिन शब्दों में

धन्यवाद करें ? इसके साथ ही मैं अपनी धर्मपत्नी श्रीमती कृष्णा धवन का भी धन्यवाद किये बिना नहीं रह सकता, जो इस दिशा में समय-समय पर मेरी प्रेरणा के स्रोत रही हैं ।

यह मेरा परम सौभाग्य है कि इस पुस्तक का FOREWORD (आग्रहपत्र) भारतीय काव्य-शास्त्र के निष्णात व आधिकारिक विद्वान् पद्मभूषण डॉ० वी० राघवन् ने लिखने की कृपा की । मैं उनके प्रति अपनी असीम कृतज्ञता प्रकट करता हूँ । साथ ही मेरे इस सारस्वत-परिग्रम के अनुमोदनार्थ अभिनन्दन वेदमनीषी मुनिमेधातिथि डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री ने अभिव्यक्त किया । उनके बहुमूल्य विचारों तथा प्रोत्साहनक आशीर्वाद के लिए मैं अत्यन्त आभारी हूँ ।

पाण्डुलिपि में अशेषित परिष्कारसहित सुचारु एवं सुव्यवस्थित सरणि से प्रस्तुत पुस्तक का संपादन-कार्य विश्वेश्वरानन्द वैदिकशोध-संस्थान के उपसंचालक तथा संस्थान की शोध-ग्रन्थमालाओं के प्रधान संपादक, श्री एस० भास्करन् नायर ने किया । वस्तुतः इस ग्रन्थ के वर्तमान रूप में प्रकाशित होने का श्रेय उन्हें ही प्राप्त है । मैं उनके प्रति और अन्ततः वैदिक वाङ्मय के प्रचार-प्रसारार्थ गत सात दशकों से भी अधिक समयपर्यन्त अतवरत कार्यरत विश्वेश्वरानन्द-वैदिकशोध-संस्थान के प्रति भी अपनी हार्दिक कृतज्ञता अंकित किए बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने इस पुस्तक को अपनी विद्यार्त्त दुल्हर-भारतभारती-ग्रन्थमाला (*Woolner Indological Series*) में प्रकाशित करना महर्पं स्वीकार किया ।

कृष्णकुमार धवन

संस्कृत-विभागाध्यक्ष,
डी० ए० वी० कॉलेज,
चण्डीगढ़,
१०१२ १९७५

नाम-संक्षेप

ABBREVIATIONS

| | | |
|------------|---|--------------------|
| अ० स० | = | अलङ्कारसर्वस्व |
| अथर्व० | = | अथर्ववेद |
| ईश० | = | ईशोपनिषद् |
| ऋ० | = | ऋग्वेद |
| ऐत० | = | ऐतरेयोपनिषद् |
| मी० वि० च० | = | मीमांसाविचारचर्चा |
| कठ० | = | कठोपनिषद् |
| का० | = | काव्यादर्श |
| का० अ० | = | काव्यानुशासन |
| का० प्र० | = | काव्यप्रकाश |
| का० मी० | = | काव्यमीमांसा |
| कुष० | = | कुवलयानन्द |
| केन० | = | केनोपनिषद् |
| छा० | = | छान्दोग्योपनिषद् |
| तै० | = | तैत्तिरीयोपनिषद् |
| द्व० | = | द्वन्द्वान्तोऽ |
| ना० शा० | = | नाट्यशास्त्र |
| प्र० द० | = | प्रतापद्वीप |
| प्रान० | = | प्रश्नोपनिषद् |
| बृ० | = | बृहदारण्यकोपनिषद् |
| भा० | = | भाष्यभूषणोपनिषद् |
| मु० | = | मुण्डकोपनिषद् |
| र० ग० | = | रसगणान्तर |
| व० जी० | = | वज्रोक्तिजीवित |
| व्य० वि० | = | व्यक्तिविवेक |
| श्वे० | = | श्वेताश्वतरोपनिषद् |
| मा० द० | = | माहित्यदर्पण |

0.१. उपनिषद्-साहित्य का परिचय

0११ वैदिक साहित्य और उपनिषद्

विश्व का प्राचीनतम साहित्य वेद है। वेद के अन्तर्गत अनेक शाखाओं में प्रचलित चार वैदिक संहिताएँ और उन पर लिखे गए व्याख्यात्मक ग्रन्थ, ब्राह्मण माने जाते हैं।^१ ब्राह्मण ग्रन्थों के दो भाग हैं— १ शुद्ध ब्राह्मण, जिनमें वेद-मन्त्रों की व्याख्या तथा कर्मकाण्ड का प्रतिपादन है। २ आरण्यक, जिनमें दार्शनिक तथा आध्यात्मिक चिन्तन पाया जाता है। इसी चिन्तन का चरमोत्कर्ष आरण्यक ग्रन्थों के उपनिषद्-खण्ड में प्राप्त होता है। प्रत्येक ब्राह्मण के अन्त में आरण्यक परिशिष्ट के रूप में जुड़ा हुआ है तथा प्रत्येक आरण्यक के साधारणतया अन्त में उसका उपनिषद् सम्बद्ध है। निदान्ततः प्रत्येक उपनिषद् का सम्बन्ध किसी न किसी वैदिक शाखा के ब्राह्मण से होना चाहिए।^२ इस प्रकार प्रत्येक शाखा का अपना ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् रहा होगा।

0१२ उपनिषद् पद का निर्वचन

उपनिषद् शब्द का साधारण अर्थ है वह विद्या जो गुरु के अत्यन्त निकट बैठ कर सीखी जाती है। इस आधार पर उपनिषद् पद का निर्वचन सप्त ब्रह्मसामोष्यं नि निश्चयेन सीदति प्राप्नोति यथा सा उपनिषद्— इस प्रकार से किया जा सकता है। ऐतरेय-आरण्यक में भी उप-नि पूर्वक सद् घातु बैठने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—

विश्वामित्रं ह्येतदहं शसिष्यन्तमिन्द्र उपनिषसाद^३।

१ मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामयोयम्। (आपस्तम्ब, परिभाषा ३१)

२. एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिषन्मता। (मुक्तिकोपनिषद्, १-१४)

३ ऐतरेय-आरण्यक, २. २ ३

उपनिषद् यौगिक शब्द है। इसका निर्वचन कई प्रकार से किया जाता है। उपनिषद् शब्द की रचना उप+नि+पद्लृ (सद्) धातु से क्विप् प्रत्यय का योग करने से होती है। पद्लृ धातु के विशरण (विनाश), गति (ज्ञान) और अवसादन (शियिलीकरण) तीन अर्थ हैं। शंकराचार्य ने भी वठोपनिषद् की भूमिका में उपनिषद् शब्द की निरुक्ति इस प्रकार से की है—सदेर्घातोविशरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विप्-प्रत्ययान्तस्य रूपमुपनिषदिति। उपनिषच्छब्देन च ध्यानिध्यासितप्रत्यप्रतिपाद्यवेद्य-वस्तुविषया विद्योच्यते। ग्रन्थस्यापि तादर्थ्येन तच्छब्दत्वोपपत्ते 'आपुर्वं धृतम्' इत्यादिषत्। उपनिषद् शब्द के निर्वचन के सम्बन्ध में परम्परा से प्राप्त निम्नाद्धृत श्लोक भी प्रसिद्ध हैं—

उपनीय तमात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं यत ।
निहन्त्यविद्यां तज्ज च तस्मादुपनिषद् भवेत् ॥
निहन्त्यनर्घंभूलं स्वादिद्यां प्रत्यक्तया परम् ।
मयत्यपास्ततमेदमतो वोपनिषद् भवेत् ॥
प्रवृत्तिहेतून् निरोपास्तन्मूलोच्छेदकत्वतः ।
यतोऽवसाद्येद् विद्यां तस्मादुपनिषद् भवेत् ॥

० १ ३ उपनिषदों की सख्या

उपनिषदों की सख्या कालक्रम से धीरे धीरे बढ़ती हुई २०० में ऊपर तक आ पहुँची है। वर्णानुक्रम से अक्षमात्रोपनिषद् से लेकर हरम्बोपनिषद् तक लगभग २२० उपनिषदें प्राप्त हैं। परन्तु प्राचीन वैदिक शाखाओं से निकटतम तथा साक्षात् सम्बन्ध रखने वाली १५-२० उपनिषदें ही उपलब्ध हैं। अन्य उपलब्ध उपनिषदें वस्तुतः अवाचीन साम्प्रदायिक ग्रन्थ हैं। शंकराचार्य ने केवल निम्न १० उपनिषदों पर भाष्य लिखा है— ईश, ऐतरेय, कठ, वेन, छन्दोग्य, तैत्तिरीय, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य तथा बृहदारण्यक। इनके अतिरिक्त शंकर ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में श्वेताश्वतर तथा कौषीतकी को भी उद्धृत किया है। प्राचीनता, भाषा, शैली, विषयगठन और उपादेयता के आधार पर ईश, वेन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर ही मुख्य व विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। अनेक विद्वानों ने इन्हीं पर भाष्य लिखा है, अतः इन्हीं ही सर्वमान्यता और प्रामाणिकता प्राप्त हैं।

०१४ उपनिषदों का प्रतिपाद्य

पूर्वपृष्ठों में उल्लिखित उपनिषद् शब्द की सभी व्युत्पत्तिमां इसी अर्थ की बोधक है कि ब्रह्मविद्या तथा मोक्ष, जन्म-मरण अथवा ससार के बन्धन अथवा अज्ञान का उच्छेद करने वाली विद्या का नाम उपनिषद् है। अतएव वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत ब्रह्मज्ञान के प्रतिपादक ग्रन्थविशेष उपनिषद् कहलाते हैं। वैदिक वाङ्मय में उपनिषदों का स्थान सबसे अन्त में आता है, अतः इन्हें वेदान्त नाम से भी अभिहित किया जाता है। वेदान्त ही ब्रह्मविद्या है। इसी ब्रह्मविद्या के कारण विश्व में उपनिषदों की प्रतिष्ठा है। प्रस्थानत्रयी में भी उपनिषदों का प्रथम स्थान है। यह अब सर्वमान्य है कि इहलोक व परलोक में सच्चो शान्ति का मार्ग दिखाने वाली अकेली ये ही पुस्तकें हैं। ब्रह्म का स्वरूप, आत्मा का परिचय, परलोक का रहस्य, उपासना की विधि, उपासना द्वारा अभ्युदय तथा निश्चेयस की प्राप्ति, सृष्टि का रहस्य, आत्मा और परमात्मा के दर्शन का उपाय, ब्रह्मानन्द की प्राप्ति—इन सब विषयों का शका-समाधान-सहित विशद विवेचन उपनिषदों में पाया जाता है। पराविद्या और अपराविद्या के साथ कर्मवाद, ज्ञान की गरिमा, एकत्व (अद्वैत) की भावना का विश्वबन्धुत्व की भावना तथा अमृत के रूप में निरूपण^१ और नानात्व की भावना का भृत्यु (विनाश) के रूप में निदर्शन भी उपनिषदों में पाया जाता है। ब्लूमफील्ड के शब्दों में भारतीय चिन्तन का कोई भी रूप ऐसा नहीं, बौद्धधर्म भी नहीं, जो उपनिषदों से निस्सृत न हो।^२

उपनिषद् एकमात्र दर्शन-ग्रन्थ ही नहीं, इनमें भारतीय सस्कृति के विभिन्न पक्षों, जीवनमूल्यों तथा नैतिक मानदण्डों के भी दर्शन होते हैं। तत्कालीन सामाजिक संगठन, ब्राह्मणादि का स्थान, आश्रम-व्यवस्था तथा नारी की सन्तोषजनक दशा के वर्णन के साथ यज्ञ की विश्व की प्रक्रिया के रूप में एवं श्रेष्ठ कर्म के रूप में व्याख्या—यज्ञों व श्रेष्ठतम कर्म, यज्ञों व ब्रह्म, यज्ञों व विष्णु—भी मिलती है। कोरे वेदपाठ, जन्म-

१. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानत ।

तत्र को मोहः कः शोकः एतन्मनुषयतः ॥ (ईश० ७)

२. *The Religion of the Veda*, p. 51.

गत वर्ण व्यवस्था, हिंसात्मक यज्ञवाद तथा आडम्बरशील जीवन के प्रति उपनिषद्काल में मोह न था और नाहीं तत्कालीन ऋषि पलायन-वादी थे, इस प्रकार के क्रान्तिकारी वातावरण की सूचना भी इन ग्रन्थों से मिलती है।

अतएव, उपनिषदों को भारतीय चिन्तन, जीवन, दर्शन, सत्सृष्टि और सभ्यता का मूल स्वीकार किया जाता है। भारतीय भक्ति पद्धति का मूल रूप भी विवेचकों ने, वैदिक महिताओं और आरण्यकों के पश्चात्, उपनिषदों को ही माना है। वस्तुतः उपनिषद् दुस्तरकाल के जो भिन्न भिन्न विचार प्रवाह हैं, उनका उद्गम उपनिषद् ही है।

०१५ दर्शन और कविता

वेदों के अनुशीलन से अवगत होता है कि दर्शन और कविता का घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त से स्पष्ट विदित होता है कि दर्शन और कविता का मगम होता है। इसे शताब्दियों के बाद उपनिषदों के ऋषियों ने देखा और कई प्रयोग भी किए। कविता तथा दर्शन दाना कल्पना की भूमि पर पनपते हैं। अन्तर यह है कि दर्शन की कल्पना को तर्क की कसौटी पर कसा जाता है, कविता के लिए ऐसी वाध्यता नहीं। तर्क की भी कोई ऐसी यन्त्री बनाई कसौटी नहीं है, जो सर्वत्र एक-ही काम कर सके। मन्नाट् जनक को आत्मा का स्वरूप समझाने हुए याज्ञवल्क्य ने कहा—

तस्य चा एतस्य पुण्यस्य द्वे एव स्थाने भवत । इव च परलोकस्थान च । सग्न्य तृतीय स्वप्नस्थानम् । तस्मिन् सग्न्ये स्थाने निरुद्वेगेति उभे स्थाने पापतीव च परलोकस्थान च ।^१

—तथावर्णिन इत पुण्य के दो स्थान हैं—इह (लोक) और परलोक। तीसरा सग्न्य-स्थान है स्वप्न। उस सग्न्य स्थान में खड़ा होकर (वह) इहलोक और परलोक दोनों स्थानों को देखता है।

यहां लोक और परलोक के बीच मग्न्य स्थान के रूप में स्वप्न का जा मान्यता दी गई है क्या इसे तर्क द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है? नहीं। तो इसे दर्शन कहा जाय या कविता? दर्शन

और कविता के सम्बन्धित पर रचित होने के कारण उपनिषदों को साहित्य की एक नई विधा के रूप में स्वीकृत किया जाना चाहिए।

आत्मा और ब्रह्म का विषय जितना दर्शन का हो सकता है उतना साहित्य का भी। इसी प्रकार परमानन्द की उपलब्धि तथा शिवेतर की क्षति का विषय भी जितना दर्शन का है उतना काव्य का भी। दर्शनकार अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए बौद्धिक युक्तियों का सहारा लेता है तो साहित्यकार कल्पना एवं मनोवेगों का। उपनिषद्-कार की यह विशेषता है कि वह अपने गहन चिन्तन में प्रभूत गूढ़ दर्शन को सुन्दर, सुस्पष्ट व आकर्षक बनाने के हेतु उसमें वाक्य की पुष्ट भी देता है। वह यथोपलब्ध भाषा में मनानुकूल परिवर्तन करके अभीष्ट सिद्धि करता है। वह कभी शब्दों में नया अर्थ देखर, कभी दो पदों के जोड़ में नया पद बनाकर, कभी विम्बविधान, कभी प्रतीक-योजना, कभी रूपक-योजना तो कभी अप्रस्तुत योजना, कभी उपमान विधान और कभी दृष्टान्त-योजना द्वारा दार्शनिक सिद्धान्तों का मार्मिक विवेचन करता है। ज्योतिष् शब्द का सामान्य अर्थ तो भौतिक प्रकाश है, किन्तु ऋग्वेद ३ १० ५ तथा ७ ३३ = में बुद्धि प्रयत्न ज्ञान के लिए भी आया है। उपनिषत्कार तम को अज्ञान के अर्थ में (ईश० ३ ९), अज्ञा को प्रकृति (श्वे० ४ ५) जाल को माया (श्वे० ५ ३), हृत् को परमात्मा (श्वे० ६ १५), पुष्ट को हृदय अथवा आत्मा (कठ० २ २०), अन्तर् को ससार (कठ० ६ १) के अर्थ में प्रयुक्त करके अभिप्राय की सिद्धि करता है। बृहदारण्यक ३ ८ ८ में समस्त-व्यस्त के रूप में नम्र का अत्यधिक प्रयोग करके लौकिक अनुभूति से ब्रह्मानुभूति का पार्थक्य दिखाया गया है—

स होवाच—एतत् सशरीरं यानि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्तु तन्मनश्च ब्रह्म
मवीक्षन्मत्तोहितमस्नेहमन्त्यायमतमोऽवाध्वनाकाशमस्यगरस्यमश्वमवधुक्कमभोजनमवा-
गमनोऽस्तेजस्कमप्राणममुखमगात्रमनन्तरमबाह्वम् ।

ये सारे शब्द चिन्तन और भावना की नई दिशा की ओर मकेत करते हैं। इन प्रयोगों को साहित्यिक उपलब्धियों के रूप में स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

०१६ उपनिषदों की कला

उपनिषदों का महत्व जितना अविकल रूप से ब्रह्म, जीव और प्रकृति के रहस्य का उदघाटन करने अथवा गूढ़ आध्यात्मिक दर्शन के कारण है, उतना ही उन तत्त्वों का ऐसी शैली से प्रतिपादन करने में है जिससे उनमें रमणीयता तथा उत्तमता का आधान हो गया है। इस रीति में उन्हें अत्युच्च एवं गहन विचारों को जनसाधारण तथा अपरिपक्व-बुद्धि शिष्यों तक पहुँचाने में आशातीत सफलता मिली है।

ब्रह्म क्या है ? हम क्या हैं ? हम कहाँ हैं ? हमारी स्थिति किसमें है ? हमारा पर्यवसान कहाँ होगा ? इत्यादि रहस्यों के मौन्दर्यपूर्ण उदघाटन के लिए उपनिषदों के चिन्तक कवियों ने काव्य के उपकरणों का अचिन्तित रूप में ही खूब प्रयोग किया है। वे मुगूढ में मुगूढ दार्शनिक तत्त्वों की प्रभावोद्गम में अभिव्यक्ति के लिए अनजाने में अलङ्कृत भाषा व्यंग्य ध्वनि विरोधाभास तथा आख्यान, संवाद आदि का महज रूप में प्रयोग कर गए हैं।

पर, उपनिषदों का विषय जीवन का गहन रहस्य तथा आध्यात्मिक चिन्तन है। अतः परवर्ती कालिदास भारवि, माघ आदि कवियों के समान इनमें मनावेगों का प्रबल चित्रण नहीं है और न ही इनके काव्य की शैली कृत्रिम तथा आडम्बरपूर्ण है। उपनिषदों का काव्य रहस्यात्मक नैतिक तथा उदात्त विचारों में परिपूर्ण है। ऋषियों के अभिव्यञ्जना-कौशल ने उनकी कृति को काव्यत्व का रूप दे दिया है। जब ऋषि ब्रह्मानुभूति की स्थिति में होता है या सृष्टि के रहस्य को अनुमाना चाहता है, उस समय उसकी कृति में अपने आप काव्य के तत्त्वों का समावेश हो जाता है। छन्द की धारा प्रवाहित होती है, उपमानों की लड़ी बन जाती है, भावानुरूप कोमल ललित पदयोजना हो जाती है। इस प्रकार उपनिषद् के ऋषि की कृति में महज काव्य का दर्शन होने लगता है।

साहित्यशास्त्रों के लिए उपनिषदों की विचार सामग्री भले ही आसर्पण का विषय न हो, परन्तु वह अभिव्यक्ति, वह विद्या जिसमें ऋषि ने अपने गहन चिन्तन को साकार किया, भाषा का वह परिधान जो उसने अपने विचारों का पहनाया, अवश्य ही साहित्यिक दृष्टि में महत्वपूर्ण है और परवर्ती साहित्यकारों के लिए प्रेरणा का स्रोत भी।

ऋषियों के इस अभिव्यक्ति-कौशल में अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि, श्रोत्रिय के तत्त्व अन्तर्हित हैं।

हम देखते हैं कि एक ही विचार को व्यक्त करने के लिए उपनिषदों का कवि अपनी अभिव्यक्ति को नाना रूप प्रदान करता है। उसकी यह अभिव्यक्ति परवर्ती साहित्यज्ञों की दृष्टि में कभी किसी अलंकार का रूप धारण करती है, कभी रीति, कभी ध्वनि तथा कभी श्रोत्रिय का। जब ऋषि को इस तत्त्व के दर्शन होते हैं कि आत्मा सर्वनियन्ता है, सर्वशासक है, तो उस विचार की अभिव्यक्ति में उपमा अलंकार स्वाभाविक रूप में घुलमिल कर प्रकट होता है तथा ऋषि के विचार को मूर्तरूप प्रदान करता है। जैसे—

अथा इव रमणीया सहसा यत्र नादयः ।

स एषोऽन्तरचरते बहुधा जायमानः ॥

—मु० २ २ ७

यह उपमा कृत्रिम तथा बाह्य नहीं, अपितु ऋषि के विचार का नैसर्गिक अंग बन गई है जैसे कि विदग्ध रमणी द्वारा प्रयुक्त कुकुम-पीतिका आदि प्रसाधन उसके लावण्य में घुलमिल कर तदाकार हो जाते हैं।

आत्मा सर्वव्यापी है, इस विचार को बोधगम्य बनाने के लिए ऋषि की अभिव्यक्ति में विरोध अलंकार सहज रूप में आकर उसे प्राजल बना देता है—

तदेवमिति तन्मममिति तद्दूरे तदन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥

—ईश० ५

यदि यहाँ ऋषि केवल यही कह देता है कि आत्मा सर्वव्यापी है, तो उसकी वाणी में कोई सौन्दर्य नहीं था। परन्तु ऋषि ने विरोध से उस भाव को कितना आकर्षक रूप दे दिया है—वह आत्मतत्त्व प्राप्त भी है और दूर भी। इस विरोध में चमत्कार है और इससे आत्मा के सर्वव्यापित्व का रमणीय रूप में ज्ञान होता है। इसी प्रकार—

हिरण्यमेव पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

—ईश० १५

में ऋषि उपमेय का उल्लेख न करके ओता के मन में कुतूहल उत्पन्न करता है। केवल उपमान (हिरण्य पात्र) का ही उल्लेख पाठक को चमत्कृत कर देता है। यह प्रयोग रूपकातिशयोक्ति अलंकार ही तो है।

उपनिषदों के ऋषियों के कुछ अन्य काव्यात्मक प्रयोग भी दर्शनीय हैं—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽप्यग्निः ।
तमेव भान्तमनु भानि सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

—वठ० ५ १५

उम अक्षय्य ज्योति के सामने सूर्य, चन्द्र, तारक, विद्युत् आदि ज्योतिषा नगण्य हैं। इस भाव का यह विलक्षण काव्यमय वर्णन है।

मानव की अन्तरिक्ष में उड़ने की तानसा की पूर्ति के लिए बृहदारण्यक में स्वप्नावस्था का आश्चर्यकारी आश्रय लिया गया है।

प्राणेन रक्षन्मवर कुत्साय बहिष्कुत्सायावमृतरचरित्वा ।
स ईयतेऽमृतो यत्र काम हिरण्मय पुरुष एरुहस ॥
स्वप्नान्त उवचावचमोदमानो जपाणि देव कुदते बहूनि ।
उतैव स्त्रीभि सह मोदमानो जघकुतैवापि भयानि पश्यन् ॥

—वठ० ४ ३ १२ १३

—अवरनीड की रक्षा का भार प्राण को सौंपकर नीड से बाहर बिकरता हुआ वह अमृत स्वर्णहंस (अमृत आत्मा) जहाँ इच्छा होती है वही पहुँच जाता है। स्वप्नावस्था में ऊँचे देवादि और नीचे पशु आदि जातों को प्राप्त होता हुआ आत्मा अनेक रूपों को रच लेता है। तथा स्त्रियों के साथ हर्ष बनाता हुआ सा और मित्रों के साथ हँसता हुआ सा तथा भयों को देखता हुआ प्रतीत होता है।

हम अपनी मम्बी उड़ान के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। वह हिमानय के उम पार में घाता है और कुछ मास इधर व्यतीत करने लौट जाता है। स्वप्नराल में आत्मा की मम्बी उड़ान के लिए इसमें अधिष्ठित उपयुक्त उपमान नहीं मिल सकता। ऋग्वेद में हमों की पवित्रवद्ध उड़ान का वर्णन आया है। पर उपर्युक्त मंत्र में उपनिषद् का प्रवेश हम अधिष्ठित उपयुक्त और आकर्षक है।

एव उदाहरण साहित्यिक प्रवचन का देगिए—

माह मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद य ।
यो नस्तुवेद तद्वेद नो न वेदेति वेद य ॥

—वेन० २. २

—इस को भली भाँति जानता हूँ, यह मैं नहीं मानता और न (यही मानता हूँ कि) नहीं जानता हूँ (क्योंकि) जानता भी तो हूँ। हम लोगो में जो उसे जानता है वही उसे (मेरे अभिप्राय को) जानता है कि 'मैं जानता हूँ' और 'नहीं जानता हूँ', ये (दोनों ही) नहीं हैं।

इस प्रकार के कथन का साहम बोर्ड साहित्यिक हो कर मदता है, दार्शनिक की दृष्टि में तो ऐसा कहना बहुत ध्यायत होगा। इसी प्रकार का चमत्कारपूर्ण वर्णन निम्न मन्त्र में भी है—

यस्याप्यत तस्य यत् यत् यत् न वेद स ।

अविज्ञात विज्ञात विज्ञातमविज्ञातम् ॥

—केन० २ ३

जीवन का रहस्य चिन्तकों को अनादि काल में झकझोरता आया है। इस मृत्यु को सुलझाने के लिए ब्रह्म के ऋषि ने एक आख्यान का सहारा लिया कि एक युवा ने मृत्यु का ही द्वार जा खट खटाया था। परन्तु रहस्य, रहस्य ही बना रहा। कठोपनिषद् के इस काल्पनिक आख्यान द्वारा कोशलपूर्ण एव आकर्षक शैली में मृत्यु लोभ की यात्रा, यम के प्रबोधन और नविकेता द्वारा उनके दृढ़ प्रत्याख्यान, तथा सुन्दर उक्तियों के माध्यम में भौतिक पदार्थों की क्षणभंगुरता एवं असारता तथा मृत्यु के रहस्य का वर्णन करने का सुन्दर प्रयास है। यह ऋषि की साहित्यिक प्रवृत्ति और हवि की ओर ही संकेत करता है। ऋग्वेद में भी कुछ ऐसे सूक्त हैं, जिनमें मृष्टि के ध्रुवगुठन को सरकाने की इसी प्रकार चेष्टा की गई है।

तैत्तिरीय, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक में उपनिषद्कारों ने शुष्क दार्शनिक तत्त्वों को अनेक रोचक आख्यानों द्वारा वर्णित करके उन्हें सरम और मजीब रूप प्रदान किया है। सत्यकाय जावाल की कथा, उपस्ति-कथा, श्वेतकेतु की कथा, श्वान-कथा, दृप्त बालाकि की कथा उदाहरण रूप में देखी जा सकती है।

उपनिषदों के ऋषि शब्दों की आत्मा से परिचित थे और उन का औचित्यपूर्ण विधि में प्रयोग करने में निपुण भी। देखिए—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तर्गतं सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेज ।

अपि सर्वं जीवितमप्यमेव तद्वयं बाह्यस्तथ नृत्यगते ॥

—कठ० १ २६

इस मन्त्र में श्लोभाया (जो कल तक भी नहीं टिके रह सकते) पद का कितना सुन्दर और उचित प्रयोग हुआ है। ऐसे प्रयोग स्वतः ही साहित्यिक काटि में ग्य जाने के अधिकारी हो गए हैं। इसी प्रकार—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ मनात्मन ।

तदेव शुक्र तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।

तस्मिँस्तोका श्रिता सर्वे तदु नात्येति वरचन ॥

—कठ ६ १

इस मन्त्र में सर्वोपरि ब्रह्म व विवेचन में ब्रह्म का ऊर्ध्व शब्द में तथा समार को अवक्ष वृक्ष के रूप में और अहंकारादि तन्वा का अपकृष्टताद्योनय अवाक्शाख शब्द में वर्णित किया गया है।

जनमाध्यायन का जिस प्रकार अपनी बात समझाई जाय, इस बात में ऋषि भुगत थे। उन्हें वृक्ष में ब्रह्म व समार के दर्शन हुए। समार ब्रह्म का ही फँसा हुआ रूप है तथा ब्रह्म उसका मूल है। इसे समझाने के लिए उन्होंने उपयुक्त मन्त्र में वृक्ष का उपमान के रूप में ले लिया। जिस प्रकार तिम्र में अतिरिक्त प्रतितिम्र का अस्तित्व नहीं, उसी प्रकार परमात्मा में अलग अलग कर्णावच्छिन्न चेतन का कोई अस्तित्व नहीं, इस तत्त्व का आलंकारिक भाषा द्वारा प्रभावपूर्ण रीति में समझाया गया है। इस काव्यमय रीति व अत्रन्म्वन में ही दार्शनिक तत्त्वा की हृदयहासिणी अभिव्यक्ति हुई है।

जैसा कि ऊपर मनेन किया गया है, दृश्यमान मृष्टि व अदृश्य शून्य की मुख्य समस्या का चिन्तन और समाधान ही उपनिषदों का विषय है। इस स्पष्ट करने और तन्त्रात हृदयगत कराने के लिए ऋषियोंने प्राकृतिक दृश्या व गेहिक काय-वस्त्राव के माध्यम में ऐसी काव्यमयी पद्धति को अपनाया है कि अत्यन्त तत्त्व तथा अमूर्त भाव समझे आ सके प्रतीत होते हैं। कठोपनिषद् के ऋषि ने ब्रह्म का किसी यात्री के गन्तव्य स्थान की तरह माना है, जिसकी प्राप्ति के लिए साधन से घनत्व साधना की आवश्यकता होती है। कोई रथी यदि यात्रा कर, तो उसे मारथि, रथ, घोड़े, लगाम आदि अनेक साधन

चाहिए, तभी वह गन्तव्य तक पहुँच सकता है। इस व्यावहारिक ज्ञान का उपयोग ऋषि ने रूपक बाध कर किया है—

आत्मान रश्मि विद्धि शरीर रथमेव तु ।

बुद्धि तु सारथि विद्धि मन प्रग्रहमेव च ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयास्तेषु गोचरान् ।

... .. ॥

—कठ० ३ ३-४

इस रूपकमय दृष्टान्त की प्रेरणा न तो खोत यजुर्वेद का यह मंत्र हो सकता है—

सुषारथिश्चानिव धम्मनुप्यान्नेनोपतेज्मोऽग्निरुभिर्वाजिन इव ।

हृत्प्रसिद्धं यदजिर जघिष्ठ तन्मे मन शिवसवरूपमस्तु ॥

—यजु० ३४ ६

एक वृक्ष पर बैठे पक्षियों को ऋषि ने जीव और ब्रह्म के व्यवहार के रूप में देखा और प्रकृति में प्रभावित लौकिक कवि के समान उस दृश्य को चित्तवत् प्रस्तुत कर दिया तथा अन्यथा अगम्य तत्त्व को गम्य भी बना दिया—

इह सुपर्णा मयुजा सत्राया ममान वृक्ष परिष्वज्जाते ।

तयोरग्न्य पिप्पल स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

—मु० ३. १ १

जीव अपने कर्मों की समाप्ति पर निर्विकार परमात्मा में मिल जाता है। इस अवस्था में उसका अपना अस्तित्व शेष नहीं रहता, वह ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। इस दार्शनिक विचार को मुण्डक के ऋषि ने नदी के प्रवाह तथा समुद्र की उपमा से प्रस्तुत किया है—

यथा नद्य स्यादमाना समुद्रेऽस्त वसद्भन्ति नामरूपे विहाय ।

तथा विद्वान्नामस्माद्विमुक्त पशत्यर वुक्ष्यमुपैति विष्णुम् ॥

—मु० ३ २. ८

उपनिषद् के ऋषियों ने ब्रह्म में मृष्टि की उत्पत्ति तथा उसी में ब्रह्म की व्याप्ति को समझाने के लिए, अपने मुख से निकले तन्तुओं का जाल बना कर उसी में अपने को निपटा लेने वाली, मकड़ी के दृष्टान्त से बताना उचित समझा है—

स यथोर्ध्वनाभिस्तन्तुनीच्चरेद्यथाजने क्षुद्रा विस्फुलिगा व्युच्चरन्त्येव-

मेधास्मादात्मन सर्वे प्राणा सर्वे लोका सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि

—बृ० २ १ २०

निम्न मन्त्र में ऋषि ने ब्रह्मरूपी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ब्रह्मजिज्ञासुरूपी लक्ष्यवेधक की कल्पना की है, और उत्तम धनुष व तीक्ष्ण बाणों के साथ वेध-चातुर्य का भी उसी प्रकार के उपमानों में विधान किया है—

धनुर्गृहीत्वौपनिषद महास्त्रं शरं द्युपासानिर्गमितं मदधीत ।

आयम्य तत्त्वमावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तत्संक्षयमुच्यते ।

अप्रमत्तेन वेदध्याय शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

—म० २ २ ३-४

यहां, रूपक अलंकार की सहायता से, ब्रह्मजिज्ञासु कुशल धनुर्धारी के रूप में मग्न होकर अपने लक्ष्य में रमा हुआ प्रत्यक्ष-सा दीख रहा है ।

छान्दोग्योपनिषद् के प्रथम अध्याय के १२ वे खण्ड में शंख उद्गीथ (श्वान-वधा) में एक बड़ा कटाक्षपूर्ण प्रसंग है । इस कथा का सम्बन्ध भीतिर सम्पत्ति की प्राप्ति के उद्देश्य से भ्रूचचारण करने से है । इसका अभिप्राय उन भ्रूचद्वारा का उपहास करना प्रतीत होता है जो किसी न किसी भौतिक पदार्थ की प्राप्ति की इच्छा से ही भ्रूचगायन करते थे । यह कथा आधुनिकतम साहित्यिक विधा विडूषिका (Parody) का मूल प्रतीत होती है । इस विडूषिका के द्वारा ऋषि साहित्यिक ज्ञान में भौतिकता पर आध्यात्मिकता की श्रेष्ठता स्थापित कर रहा है ।

उपनिषदों में कविता व प्राण संवेदनशीलता के भी दर्शन होना है । मुद्गालोपनिषद् संवेदनशील रचना का सुन्दर उदाहरण है ।

उपनिषदों के अनेक गद्यांशों में भी ऐसे हैं जो भावप्रवणता की दृष्टि में उच्चकाटि की कविता प्रतीत होते हैं । इनमें, प्रायः पद्य में दृश्यमान भावुकता और उर्वर करपना उभर कर आई है । उदाहरण के रूप में निम्न गद्यभाग दर्शनीय है—

असौ वा आदित्यो देवमथु तस्य क्षीरेण त्रिरथचोनवरोऽन्तरिक्षमपूषो मरीचय पुत्राः । तस्य ये प्रांचो रश्मयस्ता एवास्त्य प्राच्यो मधुनाह्य ऋच एव मधुहृत ऋचेद एव पुण्य ता मधुता आपस्ता वा एता ऋच ।

... अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाऽर्चो
मज्जूष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुण्य ता अमृता आप । ... अथ
येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतोच्यो मधुनाऽर्च सामान्येव मधुकृतः
सामवेद एव पुण्य ता अमृता आप । ... अथ येऽस्योर्ध्वो
रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वो मधुनाऽर्चोऽधर्वागिरस एव मधुकृतः इतिहास-
पुराण पुण्य ता अमृता आप । ... अथ येऽस्योर्ध्व रश्मयस्ता
एवास्योर्ध्व मधुनाऽर्चो गृह्या एवादेशा मधुकृतो ब्रह्मं पुण्य ता अमृता
आप । ... अथ तत् ऊर्ध्व उर्ध्व नैवोदेता मास्तमेतैकत एव मध्ये
स्थाता तदेव रत्नोक्त ।

न च तत्र न निम्नोच्च नोद्विष्य कदाचन ।

वेदास्तेनाह सत्येन मा विरायिषि ब्रह्मणेति ॥

न ह वा अस्मा उदेति न निम्नोच्चति सकृद्विवा हैवास्मै भवति य एतामेव
ब्रह्मोपनिषद वेद ।

—छा०, प्रपाठक ३, खण्ड १ से ११ तक

आदित्योपासना का वर्णन करता हुआ ऋषि कहता है—निरख्य
से यह सूर्य देवों का मधु है, धी—आदित्यलोक—ही तिरछा वरुण है, मधुघटा
भगने का स्थान है । अन्तरिक्ष मधु कोश है और किरणें उसके पुत्र (भ्रमरिया)
हैं । इनके द्वारा वह मधुसूतक करता है । पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशा
में फंसी जो किरणें हैं, वे ही इसकी मधुनाऽर्चिया हैं । चारों वेदों की ऋचाएँ
मधुनविपया हैं, और वेद पुत्र हैं जिनका वे रश्मि संचित करती हैं । ... सूर्य
के रश्मि, श्वेत, कृष्ण आदि वर्ण ही विभिन्न प्रकार के अमृत हैं, जो देवों के
जीवन का आधार हैं ।

यहाँ ऋषि ने रूपक के द्वारा आदित्यवर्ण, सवितारूप
परमात्मा के आनन्दमय रूप का हृदयावर्जक निरूपण किया है । इस
गद्य खण्ड को उच्चकोटि की पद्यमय कविता के समकक्ष माना जा
सकता है ।

ठीक है कि उपनिषदों में प्रकृति-काव्य (nature poetry) अथवा
प्रेम-काव्य नहीं है, अतः इनमें कविता का सत्य और शिव पक्ष ही
प्रबल है । मुन्दर का औपनिषदिक विचारधारा के साथ प्रत्यक्ष
सम्बन्ध भी नहीं है, न ही वह उपनिषदों के क्षेत्र में इतना घाता है ।
परन्तु उपनिषदों में प्रकृति तथा मानसिक प्रदेश के उदात्त रूप और
लोकोत्तर जगत् का मुन्दर एवं विषद वर्णन है, जो इन्हें बरबस ही काव्य
की कोटि में ला विठाता है ।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि अज्ञात शक्ति का स्पर्श अथवा साक्षात्कार गूढ़ दर्शन के द्वारा किया जा सकता है, तो कविता उस में सहायक है। उपनिषद् इस तथ्य का प्रत्यायक उदाहरण है। इनमें प्रवचन, मवाद, वादविवाद, आख्यान प्रश्नोत्तर, गद्य, पद्य आदि विविध साहित्यिक विधाओं का यथावसर उपयोग किया गया है। भाव की सुन्दर एवं सुस्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए वाद में उपमा, दृष्टान्त, रूपक, अतिशयोक्ति आदि अलंकार कहे जाने वाले तथा गुण, रीति, ध्वनि, औचित्य आदि नामों में अभिहित काव्य के तत्त्वों का भी उनमें समावेश है। इस प्रकार काव्य के प्रायः सभी उपकरण उपनिषदों में दृष्टिगोचर होते हैं, चाहे सर्वथा उस रूप में नहीं जो शक्तियों वाद लक्षणग्रन्थों में निर्धारित हुए।

उपनिषद्कारों की वाणी में जो तथाकथित अलंकार, माधुर्य आदि गुण आज हमें दिखाई देते हैं वे तो ऋषि की केवल अभिव्यक्ति की विधाएँ हैं जो उनके गहन विचारों को मरलता तथा सुन्दरता में पाठक के हृदय में उतार देती हैं। इन विधाओं के प्रयोग से उसकी अभिव्यक्ति न केवल मरम व मरम हुई है, अपितु उसमें शक्तिमत्ता तथा प्रभावशालिता भी आ गई है। जब ऋषि के सामने कोई दार्शनिक समस्या आती है, वह अष्टाण्ड के रहस्य का मूलज्ञान चाहता है, तब बिना प्रयत्न के ही और अनजान में ही उसकी वाणी में अलंकार उभरने लगते हैं। ये अलंकार उनके विचार का विशद करते हैं, उनके अनुकूल होते हैं और उनके दार्शनिक चिन्तन की धारा के साथ मिल कर प्रवाहित होते हैं। जब ऋषि का मस्तिष्क किसी गहन विचार में समाप्त हो जाता है, तब उसकी अभिव्यक्ति भी प्रबल हो उठती है और वह साहित्यिक रूप धारण कर वह निकलती है।

इस प्रकार उपनिषद् महज काव्य है, कृत्रिमता का उसमें लेख भी नहीं। अलंकार, गुण, रीति आदि सभी ऋषि की अभिव्यक्ति का प्रयोजित उपकरण बने हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध में इसी दृष्टि में उपनिषदों का तथ्य के तत्त्वों के आधार पर अध्ययन किया गया है।

०.२. काव्य के तत्त्व

० २.१. विषय-प्रवेश

काव्य का प्रभाव मीठा हृदय पर भिन्न-भिन्न रूप में पड़ता है। अतः इसका निष्कृष्ट लक्षण परिभाषित करना साहित्यशास्त्र के आचार्यों के लिए मदा ही कठिन रहा है। काव्य के दो प्रमुख तत्त्व हैं—(१) अनुभूति और (२) उसके सम्प्रेषण का माध्यम—शब्द और अर्थ अर्थात् भाषा। आचार्य भट्टनीत जब कहते हैं शब्दनाद वर्णनाच्चाप हृदा लोके ऋषिभूति^१, तब वे दर्शन तथा वर्णन के नाम से काव्य के उपर्युक्त दोनों तत्त्वों का निर्वेश करते हैं। कवि को ऋषि कहा गया है। नृपि उसे कहते हैं जिसमें दर्शन शक्ति हो, जो मत्तो का द्रष्टा हो, तथा कवि वह है जो कान्तदर्शी हो। कवि भी ऋषि है जो मत्तो का न सही, म्थावर जगम जगत् का सूक्ष्म दर्शन तो करता ही है। जिस कवि में जितनी अधिक दर्शनशक्ति होती है, उतना ही वह काव्य में अपने लोकदर्शन को उपनिबद्ध करने में सफल होता है। दर्शन के रूप में काव्य के अनुभूतिपक्ष का महत्त्व द्योतित करते हुए भट्टनीत कहते हैं—नानुपि, कविस्त्पुत्र ऋषिश्च किल दर्शनात्^२। परन्तु दर्शनशक्ति होने पर भी यदि कवि में अपने दर्शन को अभिव्यक्ति देने की क्षमता नहीं है, तब उसका दर्शन अनुर्वर भूमि में पड़े बीज के समान अस्फुटित ही रहेगा। अतः दर्शन को वर्णन की भी नितान्त अपेक्षा है। अतएव कवि के दर्शनपक्ष का महत्त्व प्रोद्घोषित करने के बाद भट्टनीत मोक्षिता कविता लोके साध्यागता न वर्णना^३, यह कहकर अभिव्यक्ति के महत्त्व पर भी बल देते हैं। यनाविल दर्शन जब सफलतापूर्वक अभिव्यक्त होता है, उसी समय सुन्दर काव्य की मृष्टि होती है।

इस दृष्टि से काव्य की कोई भी परिभाषा किसी भी युग तथा देश में उपनिबद्ध की जाए, उसमें काव्य के इन्हीं दो प्रमुख तत्त्वों का

१. भट्टनीत 'उद्घुप्त हेमचन्द्र, वाक्यानुशासन, पृ० ४३२, बम्बई १९३८

२. वही

३. वही

समावेश रहेगा। फिर भी काव्य के लक्षण में एकस्यता देखने में नहीं आती। इसका कारण है कि कुछ आचार्य काव्य में अनुभूति को अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं तथा अन्य उस अनुभूति के सम्प्रेषण के माध्यम, अभिव्यक्ति प्रकार को। इस प्रकार काव्य का लक्षण परिभाषित करते समय आचार्यों में न कवन मनभेद ही रहा है, अपितु उस मनभेद के आधार पर काव्यशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों का भी जन्म हुआ है। रस, ओचित्य, अलंकार गुण, गति, छवि, वक्रोक्ति आदि सिद्धान्त वास्तव में आचार्यों के ऐसे दृष्टिकोण हैं, जिनके द्वारा उन्होंने काव्य के कभी अनुभूतितत्त्व तथा कभी अभिव्यक्तितत्त्व को प्रोद्घाटित किया है। प्राक्तन आचार्य भरत मुनि ने प्रारम्भ करके नव्य आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ पर्यन्त काव्यस्वरूप के चिन्तन की धारा अविच्छिन्न गति में प्रवाहित होनी रही है, और अपने युग तथा देश की आवश्यकतानुसार आचार्यों ने साध्यतत्त्व के भूम्यासन के लिए विविध मापदण्ड प्रस्तुत किए हैं।

महप्रथम आचार्य भरत ने यह समाद श्रुते करिचर्यं प्रवर्तते^१ कहकर काव्य में अनुभूति के महत्त्व को रेखांकित किया और फिर आचार्य भामह ने वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलकृति^२ कहकर अभिव्यक्ति का टिण्डिमनाद किया कि काव्य में वक्ष्य की अपेक्षा उच्यन-प्रकार = अणिनिर्वचिद्य का अत्रिक महत्त्व है। अपने मन्तव्य का पुनरा-म्यान करने हुए वे फिर कहते हैं—

मेषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाथी विमाप्यते ।

यन्तोऽप्येव क्विना कार्यं कोऽनकारोऽनया विना ॥^३

कुछ भी हा उपर्युक्त विवेचन में यह तो स्पष्ट है कि मन्त्र के काव्यशास्त्रियों ने काव्य के मौनिक तत्त्वा पर व्यापक तथा गहन दृष्टि में विचार किया है। सभी आचार्य काव्य के उपादानभूत शब्द तथा

१. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, पृ० ६२, काव्यमात्रा ४२, १९४१

२. भामह, काव्यालंकार, १. १६

३. वही, २. ८१

अर्थ से काव्य के लक्षण को प्रारम्भ करते हैं। परन्तु इनमें कौन प्रधान है, कौन गौण है, या दोनों ही प्रधान हैं, इस विषय को लेकर उनमें मतभेद उत्पन्न हो जाता है। दण्डी तथा पण्डितराज जगन्नाथ जैसे आचार्य शरीर तावत्शिष्यायं व्यञ्जिन्ना पदावली^१ तथा रमणोपायं प्रतिपादक शब्दः काव्यम्^२ कहकर काव्य में शब्दतत्त्व अर्थात् अभिव्यजन को प्राधान्य देते हैं तथा भामह शब्दार्थो^३ सहितौ काव्यम्^४ और भम्मट तद्दोषो शब्दार्थो^५ सगुणावनलकृती पुन स्वाधि^६ कहकर शब्द तथा अर्थ अर्थात् अभिव्यक्ति तथा अनुभूति दोनों को काव्य में महत्त्वपूर्ण समझते हैं। इस प्रकार संस्कृत-काव्यशास्त्र में शब्दप्राधान्यवाद तथा शब्दार्थो भयप्राधान्यवाद का प्रचलन हुआ। इन्हीं के आधार पर काव्य के भिन्न भिन्न लक्षण उपनिवद्ध किए गए।

काव्य के लक्षण में चाहे शब्दप्रधान हो या शब्द और अर्थ दोनों, परन्तु शब्द तथा अर्थ में जब तक वैशिष्ट्य या विलक्षणता का समावेश नहीं होता तब तक उन्हें काव्य की सजा से अभिहित नहीं किया जा सकता। काव्य के उपादानभूत शब्दार्थ के वैशिष्ट्य के विवेचन में ही अनेक सिद्धान्तों का जन्म हुआ, जिनके आधार पर आचार्या ने अपनी अपनी दृष्टि से शब्दार्थ की इस विशिष्टता का विवेचन करते हुए काव्य में अनुभूतितत्त्व या अभिव्यक्तितत्त्व का विश्लेषण किया।

०२२. काव्य सिद्धान्तों का मूल

रुद्रक के अलंकारसर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध ने अपनी विवृतिटीका में शब्दार्थ के वैशिष्ट्य के आधायक तत्त्वों का विवेचन करके उनके आधार पर काव्यशास्त्र के प्रचलित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।^७ शब्दार्थ का साहित्य काव्य है। परन्तु यह साहित्य विशिष्ट

१. दण्डी, काव्यादर्श, १. १०

२. जगन्नाथ, रसगोश्वर, १. १

३. भामह, काव्यालंकार, १. १६

४. भम्मट, काव्यप्रकाश, १. ४

५. इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुत्तेन व्यापार-
मुत्तेन व्याप्यमुत्तेन वेति त्रयं पक्षाः। साक्षेऽप्यलंकारतो गृह्यते वेति द्विविध्यम्।
द्वितीयेऽपि भगिनिर्वचिन्त्येण भोगकृत्वेन वेति द्विविध्यम्। इति पक्षसु पक्षेऽप्याद्य
उद्धृतादिभिरपीकृताः, द्वितीयो घामनेन, तृतीयो बन्धोऽविततोऽवितकारेण, चतुर्थो
मृदनापकेन, पंचम आनन्दधर्मेन।

(समुद्रबन्ध, विवृतिटीका [वि० सं० सी०], पृ० ४)

होना चाहिए। शब्दार्थ का यह विशिष्ट साहित्य ही काव्य को काव्येतर साहित्य से विभिन्न करता है। अतः समुद्रबन्ध ने सर्वप्रथम तो ॥१॥ विशिष्टो शब्दाद्यौ काव्यम् कहकर विशिष्ट शब्दार्थ को काव्य कहा, विशेषताविहीन शब्दार्थ को काव्य नहीं माना और, जिस विशेषता से शब्दार्थ काव्य बनते हैं, उसे तीन प्रकार से (१) धर्म (२) व्यापार और (३) व्यंग्य द्वारा प्रतिपादित किया। समुद्रबन्ध का आशय है कि शब्द अथ यदि धर्मो है तो कुछ धर्म ऐसे होते हैं जो उन्हें विशिष्ट बना देते हैं। सभी मनुष्य समान होते हैं परन्तु शौर्य, औदार्य आदि धर्म उन्हें विशिष्ट बना देते हैं, जिनके कारण वे दूसरों से विलक्षण हो जाते हैं। इसी प्रकार कुछ धर्मों के कारण शब्दार्थ विशिष्ट होकर काव्य बन जाते हैं। वे धर्म दो प्रकार के हैं—(१) अलंकार और (२) गुण। भामह उद्भट, दण्डी प्रभृति आचार्य अलंकारों को शब्दाद्य की विशेषता के आधायक धर्म मानकर उनसे विशिष्ट शब्दार्थ का काव्य मानते हैं। अतः ये अलंकारवादी आचार्य हैं, क्योंकि इनकी दृष्टि में अनुप्रास आदि शब्दालंकार तथा उपमा आदि अर्थालंकार शब्दाद्य के चारुत्व के आधायक धर्म हैं। आचार्य वामन ने अलंकारों की अपेक्षा माधुर्य, आज, प्रसाद आदि गुणों को शब्दाद्य के विशिष्ट्य या आधायक धर्म स्वीकार किया तथा गुणविशिष्ट रचना का काव्य या परमतत्त्व अंगीकार किया। यही सिद्धान्त के प्रवर्तक हुए। इनकी दृष्टि में शब्दाद्य का विशिष्ट्य इतना अलंकारों से नहीं, जितना गुणों से है। इसका बाद भट्टनायक तथा कुन्तल जैसे आचार्यों ने अलंकार गुण रूप धर्मों से अतिरिक्त व्यापारों को शब्दाद्य की विशेषता का आधायक तत्त्व प्रतिपादित किया। कुन्तल की दृष्टि में यह व्यापार कवि का है, जिसमें उन्होंने कहा है 'कवि अपने भणित्ति रचित्र्य में शब्दाद्य का विशिष्ट बनाता है। यह कवि व्यापार का ही प्रभाव है जिससे शब्दाद्य पहिले साधारण प्रतीत होते थे, वे ही कवि व्यापार से विशिष्ट होकर महदया का चमत्कृत बनन लगते हैं।

यानेव शब्दान् वयमासयाम, यानेव चार्थान् वयमुत्तिष्ठाम ।

तरेव विद्यासविशयमव्यं समोहयते वचसो जगति ॥^१

१ कवि व्यापारवत्प्रकारा संभवन्ति यतः ।

(कुन्तल, वक्रोक्तिजीवित, १. १८)

२ नीलकण्ठदीनित, विषयीमार्गव, १. १३

कवि की वाणी में वक्रता रहती है, उसके कथन-प्रकार में वैचित्र्य होता है। कवि की वाणी की यह वक्रता ही बक्रोक्ति है। यह वैदग्ध्यभगी भणिति है। कुन्तक की दृष्टि से यह काव्य की आत्मा है। जो बात वक्रता में रहित है, वह साधारण बात है, काव्य नहीं—
 'बातामेना प्रवक्षते।' जो कथन वक्रता से युक्त है वही काव्य है।

शब्दार्थौ सहितौ चक्रकविष्यव्यापारसामितिः ।

अन्ये व्यवस्थितौ काव्ये तद्विराट्प्रकारकारिणः ॥^१

यद्वचनं यच्च शास्त्रं लोके च यच्च एव तत् ।

वचनं यदयंवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः ॥^२

जहाँ कुन्तक ने कवि की दृष्टि से काव्य में वक्र-व्यापार का प्राधान्य सिद्ध कर बक्रोक्ति नामक नए सिद्धान्त को जन्म दिया, वहाँ भट्टनायक ने भोगीकृत व्यापार को काव्य में प्रधानता देकर रसिक की दृष्टि में शब्दार्थ के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन किया।

द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवितुं ।^३

इस भोगीकृत व्यापार के रूप में भट्टनायक ने काव्यशास्त्र में रस की प्रतिष्ठा की, जिसका निर्देश पहिले आचार्य भरत कर ही चुके थे। भट्टनायक ने कहा—

अभिधा भावना धान्या तद्भोगीकृतमेव च ।

अभिधाधातता याते शब्दार्थात्कृती ततः ॥

भावनामात्म्य एयोऽपि भृगुरादिगणो मतः ।

तद्भोगीकृतत्वेन व्याप्यते सिद्धिमान् भरः ॥^४

१. भामह, काव्यालंकार, २. ८७

२. कुन्तक, बक्रोक्तिजीवित, १. ७

३. भोज, भृगुराजप्रकाश, प्र० भा०, अध्याय ६, पृ० ४२६

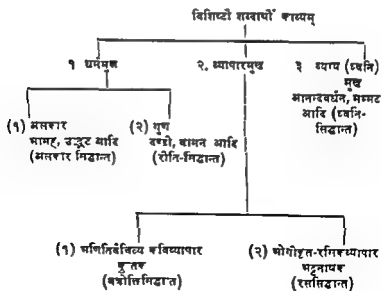
४. भट्टनायक : उद्धृत, ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० १६१, (कु० स्वा० रि० ६०)

५. भट्टनायक : उद्धृत, हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, टिप्पण, पृ० ६३-६७

इस भोगीकृत व्यापार को प्रधानता देकर भट्टनायक ने सहृदय की रसास्वादशक्ति पर बल दिया और काव्य के अनुभूतिपक्ष का परिपोष किया।

समुद्रबन्ध की दृष्टि में अन्तिम पक्ष व्यंग्य का है। ध्वनिवादी प्राचायें काव्य में व्यंग्य को महत्त्व देते हैं। व्यंग्यार्थ के प्राधान्य पर ध्वनि होनी है और ध्वनि ही उत्तम काव्य है। वाच्यार्थ साधारण होता है। व्यंग्यार्थ रमणीय एवं सहृदयहृदयकवेद्य है। काव्य में उसी की ही परम प्रतिष्ठा होनी चाहिए। इस पक्ष में अभिव्यक्ति तथा अनुभूति दोनों का समन्वय है, क्योंकि व्यजित होने पर ही रस रम है। यदि रस की व्यजना न हुई तो, उसकी अनुभूति नहीं होती। ध्वनन ही रस का प्राण है। सुन्दर अभिव्यक्ति ही अनुभूति का सम्प्रेषण करती है। अभिव्यक्ति = व्यजना वाक् है, ता रस अर्थ है। व्यजना और रस, अभिव्यक्ति तथा अनुभूति दोनों ध्वनिमिद्धान्त में अध्वनारोश्वर के समान सम्पृक्त होने हैं। अतः ध्वनिमिद्धान्त को सर्वोत्तम मिद्धान्त स्वीकार किया गया है।

समुद्रबन्ध के इस विवचन का निम्नलिखित तालिका में स्पष्ट किया जा सकता है—



० २ ३ अलंकार-सिद्धान्त

प्रसिद्ध कोशनिर्माता अमरसिंह ने अलम् के चार अर्थ दिए हैं— भूषण, पर्याप्ति, शक्ति, वारण (अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारण-वाचकम्) । इनमें भूषणार्थ अलम् + √कृ के साथ भाव या करण के अर्थ में घञ् च भावकरणणो सूत्र से घञ् प्रत्यय के घाय में अलंकार शब्द निरूपन्त होता है। भाव में घञ् करने से अलंकार का अर्थ है अलंकृति = मौन्दर्य । जैसा कि अलंकार का प्रयोग करने हुए वामन ने कहा है—सौन्दर्यमलंकार^१ । यह अलंकार का व्यापक अर्थ है जिसकी परिधि में काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का समावेश हो जाता है, क्योंकि ये सभी तत्त्व काव्य का सौन्दर्य हैं। परन्तु जब करण के अर्थ में घञ् प्रत्यय का प्रयोग होता है, तब अलंकार में उपमा आदि प्रसिद्ध अलंकारों का ग्रहण होता है। जो काव्य की सुन्दरता में भाग्य है, वे अलंकार हैं। उपमा आदि का अलंकार नाम सार्यक है, क्योंकि ये शब्दार्थ के मौन्दर्य का साधन हैं।

सर्वप्रथम भामह ने—

रूपकादिलंकारस्तथान्येवंदृष्टोदितः ।

न कान्तमपि निर्भूय विमतिं वनितानुष्ठम् ॥^२

वहकर काव्य में अलंकारों के ग्रहत्व को प्रतिष्ठित किया। अलंकार-वादी आचार्यों ने अलंकारहीन कविता को विधवा कहा है। जिस प्रकार सुन्दर होने पर भी रमणी का मुख तिलक, कुण्डल आदि अलंकारों के बिना आकर्षक नहीं होता, उसी प्रकार शब्दार्थ भी अलंकारों के बिना काव्य नहीं बनते। इन अलंकारों की जननी है वक्रता या प्रतिशयोक्ति। गोरक्ष जीतीवर्दस्तुणान्वसि मुखे स. आदि वाक्य काव्य नहीं हैं, क्योंकि इनमें कथन की वक्रता न होने के कारण कोई अलंकार नहीं है। इस सन्दर्भ में भोजराज के विषय में कथा प्रचलित है कि उन्होंने भूसे ब्राह्मणों को—

भोजन देहि राजेन्द्र, घृतसूपसमन्वितम् यह वचन कहने पर भोजन तो दे दिया, परन्तु उनकी इस छन्दोबद्ध रचना पर उन्हें पारितोषिक

१. का० मू० १. १. २

२. भामह, नाट्यालंकार, १. १३

नही दिया। परन्तु जब उन्होंने अपने अपूर्ण पद्य की पूर्ति करते हुए कहा—

साहित्यं च शरत्तन्त्रचन्द्रिकाद्यवत् दधि ।

तब उनकी पद्ययोजना पर प्रसन्न होकर भोजराज ने उन्हें प्रभूत पुष्कार दिया।

पहिला पद्यग्रन्थ वक्रता में रहित, अलंकार विहीन था और दूसरा अनुप्रासोपमा में भण्डित होकर आकर्षक बन गया था। पहिला कथन साधारण था, परन्तु दूसरा अलंकारों से युक्त होकर विशिष्ट बन गया था। पहिला काव्य नहीं था, दूसरे में अलंकारों के योग से काव्यत्व आ गया था।

अलंकारों के महत्त्व का स्पष्ट करते हुए अग्रजी साहित्य के आलोचक वेन न कहा है—

A figure of speech is a deviation from the plain and ordinary mode of speaking for the sake of greater effect, it is an unusual form of speech.¹

भामह जा अलंकारतत्त्व के प्रजापति के पद में अभिहित हुए, के बाद उद्भट रुद्रट प्रतिहागन्दुराज अण्णदीक्षित आदि आचार्यों ने अलंकारों का विवेचन किया। इनमें जयदेव तो अलंकारों के इतने समर्थन हुए कि उन्होंने अलंकारों का काव्य में महत्त्व न देने वाले मम्मट पर कटाक्ष करने हुए कहा—

अगोचरोति य काव्य शब्दार्थविनलहृती ।

असी न मन्यते कस्मादनुष्णमनलहृती ॥²

काव्यशास्त्र के प्रारम्भ के युग में आचार्यों की दृष्टि काव्य के स्थूल पक्ष पर ही अधिक थी। अतः अलंकारों का महत्त्व स्वाभाविक

१ *Basic Rhetoric and Composition*, 1

(As Quoted by Dr V Raghavan in *Some Concepts of Alankāraśāstra*, p 50)

२. जयदेव, क.शांभोज, १. ८

था। परन्तु बाद में जब रस, ध्वनि आदि सिद्धान्तों का, जो काव्य के अन्तरंग को प्रोद्घाटित करते थे, महत्त्व बढ़ा, तब भी अलंकारों की उपेक्षा न हो सकी। रस और ध्वनि सिद्धान्त में उपलब्ध के रूप में अलंकारों को स्वीकार किया गया है और उनका स्वरूप इस प्रकार निर्धारित हुआ है—

उपकुर्वन्ति त सन्त केऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।

हारादिष्वलङ्कारास्तेऽनुप्राणोपमादयः ॥^१

ऋग्वेद से प्रारम्भ करके अब तक के साहित्य में अलंकारों का प्रयोग बराबर होता आ रहा है। वैदिक ऋषि तो लक्षणग्रन्था से परिचित नहीं थे, फिर भी उन्होंने स्वाभाविक रूप से अलंकारों का प्रयोग किया है। वैदिक साहित्य में प्रायः बहुत से अलंकार उपलब्ध हैं, जिनके लक्षण परवर्ती साहित्यशास्त्रियों ने अपने अलंकार-ग्रन्थों में उपनिबद्ध किए हैं। इसमें अलंकारों की व्यापकता तथा सर्वजनप्रियता प्रकट होती है। अलंकारों के प्रयोग का महत्त्व प्रकट करते हुए ठीक ही कहा गया है—

विनोत्कर्षापहर्षाभ्यां स्वदग्तेऽर्था न जातुचित् ।

तदर्थमेव नवयोऽलंकारान् पर्युपासते ॥^२

०२४ गुण

भरत मुनि ने प्रारम्भ कर पण्डितराज जगन्नाथ पर्यन्त साहित्य-शास्त्र के आचार्यों ने गुणों की चर्चा की है और काव्य में उनसे महत्त्व को स्वीकार किया है। परन्तु काव्यस्थानीय गुणों का कौन आश्रय है, इनका क्या विषय है, इनका स्वरूप क्या है, इनकी मझ्या कितनी है, इस विषय को लेकर उनमें मतभेद है।

सर्वप्रथम भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में दस गुणों का उल्लेख किया—

इतेषु प्रसाद समता समाधिर्मार्ग्युद्योगोऽपवसोऽनुमार्ग्यम् ।

अर्थस्य व्यक्तित्वद्वारा च कान्तिश्च वाक्यार्थगुणा इतीति ॥^३

१. मम्मट, काव्यप्रकाश, ४. ६७

२. उद्धृत महिममट्ट, व्यक्तिविवेक, पृ० २१८, चौखम्बा, बनारस, १९३६

३. भरत, नाट्यशास्त्र, १६. ६७

भामहाचार्य ने तीन गुण माने—

माधुर्यमभिवाञ्छन्त प्रसाद च सुमेधसः ।
समासवन्ति भ्रूयांसि न पदानि प्रयुज्यते ॥
केचिदोजोऽभिधित्सन्त समस्यन्ति बह्व्यपि ।^१

दण्डी ने दस गुण स्वीकार किए—

श्लेष प्रसाद समता माधुर्यं मुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज कान्तिसमाधय ॥
इति वैदमंमार्गस्य प्राणा दस गुणा स्मृता ।^२

वामन ने बीस गुण स्वीकार किए—दम शब्दगुण तथा दम अर्थगुण । उमने शब्दगुण तथा अर्थगुण दोनों के समान नाम रखे—

भोज प्रसाद श्लेष-समता-समाधि माधुर्यं सौकुमार्य-उदारता-अर्थव्यक्ति-
कान्तयो अर्थगुणा । त एवार्थगुणा ।^३

रद्रट न अपने काव्यालंकार में वाक्य ही पदगुणता के सौन्दर्य को लेकर गुणा का विवेचन किया है—

रचनाचारुत्वे अत्र शब्दगुणाः सन्निवेशचारुत्वम् ।
सर्वाण्युर्ध्वे तदपस्मिन्नसकटं च भुने ॥^४

परन्तु रद्रट ने गुणों की भरपाई के विषय में कोई स्पष्ट मत नहीं दिया है ।

रद्रट के टीकाकार नमिमाधु ने पाच शब्दगुणों और चार अर्थ-गुणों का उल्लेख किया है—

शब्दाय हि वञ्चोक्तपादय पञ्च गुणाः । अर्थस्य पुनर्गुणाः वास्तवार्थपरश्चत्वारः ।^५

१. भामह, काव्यालंकार, २. १-२

२. दण्डी, काव्यालंकार १. ४१-४२

३. वामन, काव्यालंकारमूलवृत्ति, ३. २. १

४. रद्रट, काव्यालंकार, २. १०

५. नमिमाधुटिप्पण—काव्यालंकार, ११. ३६ (काव्यमाला-२)

नमिसाधु के ये गुण छट्ट द्वारा विवेचित मन्डालकारों के पाच वर्ग तथा अर्थालिकारों के चार वर्ग हैं। इससे प्रतीत होता है कि नमिसाधु अलकारों का अन्तर्भाव गुणों में करना चाहते हैं।

भोजराज ने अलग-अलग, शब्द और अर्थ गुणों की मट्या दम में बढ़ाकर चौबीस कर दी। उन्होंने गुणों के तीन वर्ग बनाए—
(१) बाह्य—शब्दगुण (२) आभ्यन्तर—अर्थगुण (३) वैशेषिक—
दोषों की गुणस्थिति। इनमें प्रत्येक की मट्या २४ है—

त्रिविधाश्च गुणाः बाह्ये भवन्ति ब्रह्मसम्भवा ।
बाह्याभ्यन्तरार्थैव ये च वैशेषिका इति ॥
बाह्यः शब्दगुणास्तेषु चान्तरास्तवर्षसंभवा ।
वैशेषिकास्तु ते नूनं दोषत्वेऽपि हि ये गुणाः ॥
ते तावदभिधायन्ते नामसंज्ञायोगतः ।
इत्येव प्रसाद समता माधुर्यं सुकुमारता ॥
अर्धव्यक्तिस्तथा कान्तिरदारत्वमुदात्तता ।
भोजस्तथान्वयदौर्गत्य प्रेक्षणं च मुरावत्ता ॥
तद्गतमार्गं सौख्यं च गाम्भीर्यमप्यवित्तरः ।
संक्षेपं सन्निभत्वं च भावित्वं गतिस्तथा ॥
रीतिरक्तिस्तथा प्रीतिरर्थं च तथ्यस्तथ्ये ॥^१

भोज के गुण-विवेचन से स्पष्ट है कि उनके बाह्य, आभ्यन्तर गुणों के नाम वही पुराने हैं, परन्तु उन्होंने उनकी परिभाषा भिन्न दी है। उनके वैशेषिक वर्ग के अन्तर्गत गुणों के नाम भिन्न हैं।

भोजराज से पूर्व आचार्य कुन्तक ने बन्धोक्तिजीवित में तीन मार्ग और दम गुणों का विवेचन किया है। उनके तीन मार्ग हैं—
सुकुमार, वैचित्र्य और मध्यम, और उनके गुण दम हैं। उन्होंने प्रसाद, माधुर्य, सत्यपद, दृढ, अतिमज्जर, दृढ, चर, गुणों को, अस्वाप, भेद, के

१. भोजराज, सरस्वतीकण्ठाभरण १. ६०-६३

२. असमस्तमनोहारिपदविन्यासजीवितम् ।

माधुर्यं

स्वभावमसृष्ट्यापमामिवात्य प्रचक्षते ।

सुकुमार तथा विचित्र मार्गों में अलग-अलग माना है। इस प्रकार इनके नाम यद्यपि समान हैं, परन्तु इनका स्वरूप सुकुमार तथा विचित्र मार्ग में भिन्न-भिन्न होने में इनकी सख्या आठ हो जाती है, चार सुकुमार मार्ग के गुण तथा चार विचित्र मार्ग के। इनके अतिरिक्त औचित्य और सौभाग्य दो और गुण हैं। इस प्रकार इनकी सख्या १० हो जाती है।

अग्निपुराणकार ने १९ गुण स्वीकार किए। पहिले उन्होंने सामान्य तथा वैशेषिक के नाम में गुणों को दो भागों में विभक्त किया। तदनन्तर उन्होंने सात शब्द के गुण, छ अर्थ के तथा छ शब्द तथा अर्थ दोनों के गुण प्रतिपादित किए—

साम्प्रदायेण सामान्यो वैशेषिक इति द्विधा ।
 सर्वसाधारणीभूत सामान्य इति मन्यते ।
 शब्दमर्थभूमी प्राज्ञ सामान्यो भवन्ति त्रिधा ।
 शब्दमाश्रयते काव्य शरीर य स तत्त्वगुण ।
 श्लेषो सात्त्विकमाश्रयतीकुमार्यमुदारता ।
 सत्येव धौगिकी चेति गुणा शब्दस्य सप्तधा ।
 माधुर्यं सविधानं च कोमलत्वमुदारता ।
 श्रोत्रि सामयितव्यं च तद्भेदा यद् चकारति ।
 शब्दार्थावुपकुर्वाणो नाम्नोभयगुण स्मृतः ॥
 तस्य प्रसाद सौभाग्य यथासत्य प्रशस्तता ।
 पाको राग इति प्राज्ञे यद्प्रपञ्चविधिता ॥'

भानन्दवर्धन में प्रारम्भ कर मम्मट, विश्वनाथ आदि ध्वनि-मार्गानुयायी नव्य आचार्यों ने माधुर्य, श्रोत्रि, प्रसाद तीन ही गुण स्वीकार किए—

गुणा माधुर्यमोश्रोत्र्य प्रसाद इति ते त्रिधा १ ।

याद में चलकर ये तीन ही गुण स्वीकृत हुए।

गुणों के इस इतिहास-प्रदर्शन के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि गुणा के विषय में आचार्यों की दो धारणाएँ निश्चित हैं। दण्डी,

१ अग्निपुराण, ३४६. ३-२०

२. विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, ८. १

वामन आदि प्राच्य आचार्य गुणों को शब्दार्थों का धर्म मानते हैं तथा आनन्दवर्धन प्रभृति ध्वनिवादी आचार्य गुणों को रस का धर्म स्थिर करते हैं। जैसे दण्डी गुणों के विषय में कहते हैं—

कारिचन्मार्गविभाषार्थमुक्ता प्रागप्यतन्विता ।^१

यहां उन्होंने गुणों को अलंकाररूप कहा है। उपमा, रूपकादि काव्य के सामान्य अलंकार हैं तथा माधुर्य, अोज आदि विशिष्ट अलंकार हैं। जैसे अलंकार काव्य की शोभा करते हैं वैसे ही गुण भी। परन्तु गुण काव्य की मौलिक शोभा हैं, और अलंकार उस शोभा की वृद्धि करते हैं। वामनाचार्य भी गुणों के विषय में कहते हैं—

काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणा ।

तदतिशयोक्तेरवस्थलकारा ।^२

अग्निपुराणकार भी गुण का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

य काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः ।^३

आद्याचार्य भरत गुण के स्वरूप को तो विशद नहीं करते, परन्तु वे गुण को दोष का विपर्यय मानते हैं—

एते दोषा हि काव्यस्य मया सम्भक् प्रकीर्तिताः ।

गुणा विपर्ययादेषा माधुर्योदायलक्षणा ॥^४

क्योंकि भरत मुनि ने वाग्भिनय के प्रसंग में गुणों का विवेचन किया है, इससे अनुमान होता है कि उनकी दृष्टि में गुण शब्द-अर्थ के धर्म हैं। उन्होंने गुणों के जो लक्षण दिए हैं, उनसे भी गुणों की शब्दार्थ-परता स्पष्ट होती है। यथा—

गुणप्रयोग्यैर्येष्वर्थैर्युक्तं सुस्तिष्ठतन्विभिः ।

सुकुमारार्थसमुक्तं सौकुमार्यं तदुच्यते ॥^५

१. दण्डी, काव्यादर्थ, २. ३

२. वामन, काव्यालंकारसूत्र, ३.१ १-२

३. अग्निपुराण, ३४६ ३

४. भरत, नाट्यशास्त्र, १६ २५

५. वही, १६. १-५

नव्य आचार्यों ने जब रमध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया, तब उन्होंने गुणों के विषय में परम्पराप्राप्त विचार को अपने भिद्धान्त के अनुकूल परिवर्तित करके उपस्थापित किया। जब रम काव्य का केन्द्रभूत मुख्य तत्त्व है, तो काव्य की शोभा के सभी उपकरण रम में ही किसी न किसी रूप में सम्बद्ध होने चाहिए। रम जब आत्मा है, तो अलङ्कार, गुण आदि तत्त्वों की काव्य में स्थिति ऐसी ही है जैसी लौकिक कटककण्डसादि अलङ्कारों तथा शौर्य, दाक्षिण्य आदि गुणों की आत्मवान् व्यक्ति में होती है। अतः रमध्वनिवादी आचार्यों ने गुण का स्वरूप स्थिर किया—

रसस्मादित्युपपात्तस्य धर्मा शौर्यादयो यथा ।^१

इस प्रकार रमध्वनि-भिद्धान्त में गुण शब्दार्थ के धर्म न रहकर रम के धर्म बन गए। उनका स्वरूप भी परिवर्तित हुआ, जैसे—

चित्तद्रवीभावनयो ह्यत्र माधुर्यमुच्यते ।^२

तथा

ओजश्चित्तस्य विस्ताररूप दीप्तत्वमुच्यते ।^३

तथा

चित्तं ध्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केऽग्नौ निवाकत ।

स प्रसारः^४

...

॥

और ये माधुर्य, आज प्रसाद गुणों के लक्षण बने।

लक्षणग्रन्था में गुणों का स्वरूप चाहे कुछ भी रहा हो, परन्तु वैदिक साहित्य के अनुशीलन में प्रतीत होता है कि परवर्ती मन्वृत-साहित्य में गुणों का रूप निर्धारित हुआ, उसका बीज वैदिक वाङ्मय में विद्यमान है। वैदिक ऋषि की भाषा की श्रुतिमुखदत्ता, शनक्षता, शक्तिमत्ता तथा प्रवाङ्मयता आदि विशेषताएँ परवर्ती लक्षण-ग्रन्थों में माधुर्य, आज प्रसाद आदि गुणों के रूप में विकसित हुईं।

१ दिव्यताय, साहित्यदर्पण, ८ १

२. वही, ८ २

३ वही, ८ ४

४ वही, ८ ७

0.२ x. रीति

काव्यमौन्दर्य के अन्वेषण में रीति-सिद्धान्त अलकार-सिद्धान्त से एक पग आगे बढ़ा है। इसमें काव्य के बाह्य में ग्राम्यन्तर की ओर प्रवेश करने का प्रयास है। अलकार-सिद्धान्त में काव्य की आत्मा का विचार नहीं आया था, परन्तु रीतिसिद्धान्त में वह विचार उभरा और रम्यसिद्धान्त में जाकर परिपुष्ट हुआ। अलकारसिद्धान्त में जो स्थान अलकारों को प्राप्त था, वह अब गुणों ने ले लिया। गुण काव्य की शोभा के उपादान कारण तथा अलकार निमित्त बन गए। गुण काव्य के नित्य धर्म तथा अलकार अनित्य हुए।

काव्यशीघ्राया कर्तारो धर्मा गुणाः ।

तदतिशयेतवस्तत्तत्कारा ।

पूर्वे नित्या ।^१

वामन ने रीतिसिद्धान्त में अलकारों की पुनर्व्यवस्था की। वे अब काव्य के आवश्यक या अपरिहार्य तत्त्व न रहे। काव्य में माधुर्य, ओज, प्रमाद आदि गुणों की स्थिति आवश्यक है। अलकार न भी हों तो भी गुणों के गद्भाव में काव्यत्व रहेगा। अलकार तो केवल गुण-विशिष्ट काव्य की शोभा का अतिशय करते हैं। काव्य की मौलिक शोभा तो गुण है।^२ यहाँ यह अवधेय है कि वामन ने एक बार अलकारों को जो गौण स्थान दे दिया, वह आगे भी गौण ही बना रहा। रस और ध्वनिसिद्धान्त में भी अलकारों का स्थान हीन ही रहा। अलकारों का निरमन तो नहीं हुआ, परन्तु वे काव्य में प्रधान नहीं रहे। जो अलकार भामह के समय में काव्य के स्वरूपाधारक थे, वे अब केवल उत्कर्षाधारक ही रह गए।

वामन जिन गुणों को इतना महत्त्व दे रहे थे उनका विवेचन पूर्वाचार्य कर चुके थे। भरत ने १० गुणों का निर्देश किया था तथा

१ वामन, काव्यालंकारसूत्र, ३. १. १-३

२. युक्तेरिव रूपमङ्ग काव्यं स्वदत्ते शुद्धगुण तदप्यतीर ।

विहितप्रणयं निरन्तरामि सदलकारविकल्पकरूपनामि ॥

यदि भवति बचरधुनं गुणैर्म्यो धर्पुर्विव यौवनवन्धनमंगलाया ।

अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमतंकरणानि संभयन्ते ॥

(वामन, काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, पृ० ६६, कलकत्ता, १९२२)

भामह ने तीन गुण स्वीकार किए थे। वामन के पूर्ववर्ती दण्डी ने १० गुणों का विवेचन करके उन्हें मार्ग का प्राण कहा था। दण्डी ने दो मार्ग वंदर्भ तथा गौड स्वीकार किए और गुणों को उनका निष्पादक तत्त्व माना। इसी विचार परम्परा को वामन ने ग्रहण किया। उन्होंने गुणों का परिपोष किया और उनके आधार पर रीतिसिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया।

रीति शब्द की व्युत्पत्ति रीयते गम्यते मयेति रीति है। रीति मार्ग है, पद्धति है जिसके द्वारा कवि गमन करते हैं। रीति के लिए मार्ग, वस्त्र, पन्था आदि शब्द प्रचलित हैं। दण्डी ने वंदर्भ और गौड मार्ग का प्रयोग किया तो भोजराज ने पन्था का। अतः रीति का अभिप्राय है—काव्यमरणि, काव्यमार्ग, काव्यपद्धति, काव्यपन्था। वामन रीति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

विशिष्टपदरचना रीति^१।

रीति विशिष्ट पदरचना है। पदरचना में विशेषता गुणों के कारण आती है—विशेषो गुणस्या।^२ ये गुण ही मिल कर रीति का स्वरूप निर्धारित करते हैं।

जब विशिष्ट पदरचना रीति है, तो प्रत्येक कवि की अपनी विशिष्ट पदरचना हो सकती है। इस प्रकार रीतिया अनन्त हो सकती हैं। परन्तु स्थल रूप में विशिष्ट पदरचना रीति का तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। कुछ कवि असमस्त, कोमलध्वनियुक्त पदों का प्रयोग करते हैं। उनकी पदयोजना में सरलता तथा ममृणता रहती है। कुछ कवि दीर्घ एवं ममस्त पदों एवं बठोर ध्वनियों का प्रयोग करते हैं। उनकी वाक्य रचना में तीक्ष्णता, दीप्ति तथा गाढ़त्व आ जाता है। कुछ कवियों की पदयोजना में इन दोनों तत्त्वों का समिश्रण पाया जाता है। अतः वामन ने पदों की गुणमूलक इस विशिष्ट रचना के आधार पर रीति के तीन भेद किए हैं—वंदर्भ, गौडी, पाचाली।

१. वामन, काव्यालंकारसूत्र, १. २. ७

२. वही, १. २. ३

काव्यभाषा में ध्वनियो, पदो और वाक्यों की योजना का एक प्रकार होता है। कोमल ध्वनियो तथा असमस्त पदो के प्रयोग से प्रसाद गुण आता है, जिसमें कवि की शैली बँदभी हो जाती है। समस्त पदो एवं कठोर वर्णों की योजना से ओज गुण आता है, जिससे कवि की पद्धति गौडी बन जाती है। इन गुणो तथा वाक्यों व पदो की योजना के मिश्रण में कवि की सरणि पाचानो बन जाती है।

इस प्रकार रीतिसिद्धान्त में कवि की ध्वनि-मयोजना, नाद-मोन्दर्य, वाक्यगठन को कला प्रमुख रहती है। आचार्य वामन ने विभिन्न रीतियों के घटक इन तत्त्वों का गुणों के रूप में प्रतिपादन किया और उनके उच्चावच प्रयोग के आधार पर काव्य में त्रिविध रीतियों की स्थापना की। उनकी दृष्टि में रीति शब्दार्थ के वैशिष्ट्य का आधायक तत्त्व है और यह रीति ही काव्य की आत्मा है। कुछ भी हो, कवि की शैली की दृष्टि से काव्य के मूल्यांकन का मार्ग रीतिसिद्धान्त ने प्रशस्त किया। काव्य के अभिव्यक्ति पक्ष के महत्त्व को स्पष्ट करने के लिए रीतिसिद्धान्त का भी संस्कृत के काव्यशास्त्र में अपना ही स्थान है।

यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि बाद में परिनिष्ठित बँदभी, पाचाली आदि रीतियों के मार्गदर्शक वैदिक ऋषियों के मंत्र ही रहें होंगे, जिनमें विषय तथा भाव के अनुस्यू पदयोजना उपलब्ध होती है।

०२.६ शय्या तथा पाक

शय्या तथा पाक काव्य के ऐसे तत्त्व हैं, जिनका बहुत कम प्रचलन हुआ है। संस्कृत के आचार्यों में बहुत कम ने इनका उल्लेख किया है।

शय्या—

वाण ने कादम्बरी के प्रारम्भिक पद्यों में शय्या का उल्लेख किया है। शय्या का अर्थ है—गठना या योजना। काव्य के क्षेत्र में शय्या का अर्थ होता है—शब्दों की योजना, शब्दों का विन्यास। इस रूप में 'शय्या' का विचार 'रीति' से बहुत कुछ मिलता है। जिस प्रकार शय्या पर हम विभ्राम करते हैं, उसी प्रकार काव्य में भी पदों की शय्या

होती है, जिस पर काव्य अवस्थित होता है। परन्तु संस्कृत के काव्य-शास्त्र में शब्दा के सिद्धान्त की कोई परम्परा नहीं है और न ही इसका स्वरूप विशद है। भोजराज ने शब्दालंकारों के अन्तर्गत शब्दा का विवेचन किया है। परन्तु वह शब्दा प्रस्तुत में विचारणीय शब्दा में भिन्न है।

विद्यानाथ तथा विश्वेश्वर प्रभृति आचार्यों के सम्मुख शब्दा का विचार काव्यशास्त्र के एक मत के रूप में उभरा और उन्होंने इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया। इस विषय में विद्यानाथ के विचार विशेष रूप से मननीय हैं क्योंकि विश्वेश्वर तथा विद्याधर आदि आचार्यों ने शब्दा के सम्बन्ध में उनका ही अनुसरण किया है।

विद्यानाथ ने शब्दा की परम्परा मन्त्री का शब्दा कहा है—

या पदानां पराधीनमन्त्री नम्येति कथ्यते ।

अत्र हि पदविनिमयात्तद्विष्णुत्वाद् बन्धस्य पदानुगुण्यरूपा शब्दा ।

—प्र० २० पृ० ४५

जब पदा का विनिमय न हो सके जिस रूप तथा अर्थ में वह उसी में रहे तब उनकी परम्परा मन्त्री से शब्दा का सान्दर्य उभरता है। शब्दा पदा का एक विशेष विन्यास है। जैसे कथा का एक विशेषरूप से किया गया विन्यास रमणी का सौन्दर्य बढ़ाता है, वैसे ही पदा की विशेष गठना काव्य के सौन्दर्य का वृद्धि करता है। शब्दा का आधार है—पदा का अनुगुणता प्रवाह। उनका विशेषरूप में विन्यास। शब्दा में पदा में समानता आवश्यक है और उनका कभी भी असमान अर्थ नहीं होना चाहिए। इसीलिए विद्यानाथ ने कहा है कि शब्दा में पद विनिमय के लिए अवकाश नहीं। पदा तथा वाक्या की जिस रूप में गठना पर दा गई है वही रमणीय होती है। उसमें तनिक सा भी व्यतिरिक्त किया या आदान प्रदान किया, तो शब्दा का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। शब्दा का विचार पूना की माना में मिलता जुलता है। पूना भी विशेष अर्थ में तथा परम्परा अनुकूलता में प्रिय जान पर ही माना की भाभा बढ़ाने हैं। उनमें थोड़ा सा भी विनिमय कर देने पर माला की मुदरता का हानि हो जाता है। उमा प्रकार काव्य में शब्दा की स्थिति प्रतीत होता है। शब्दा में पदघटना जिस रूप में है, उमा रूप में ही

समुचित है। जो प्रतिभावान् कवि होते हैं, उनके काव्य में पद अपने आप सुगठित हुए उभरते हैं। प्रयास के बिना ही उनकी रचना में पदों की शय्या बन जाती है। अत एव कालिदास आदि के काव्य में हम पदों के क्रम को बदल नहीं सकते। परन्तु प्रतिभाहीन कवि के काव्य में पदों का उद्घाप तथा आवाप होता रहता है। अत एव उसके काव्य में शय्या का सौन्दर्य प्रकट नहीं हो पाता।

विद्यानाथ ने शय्या का जो स्वरूप निर्धारित किया, उसे पाक के सिद्धान्त से पृथक् करना कठिन प्रतीत होता है। शय्या तथा पाक दोनों एक दूसरे की सीमा में अतिक्रमण करते दिखाई देते हैं।

पाक—

सर्वप्रथम वामन ने काव्यशास्त्र के तत्त्व के रूप में पाक पर विचार किया (का० सू० वृ० १३)। कवि अपनी भाषा को शब्दों के गठन से कलात्मक बनाता है। वह जोहरी के समान भाषारूपी काचन में रत्न के समान पदों को जड़ता है। वह उचित तथा अनुकूल पदों को तो स्थापित करता है तथा अननुकूल पदों को निकाल देता है। इस प्रकार वह अपनी भाषा को सजाता है। पदों के गठन की इस प्रक्रिया में यदि कवि ने उन्हें अपनी भाषा में ऐसा सुश्लिष्ट कर दिया कि उन्हें वहाँ से हटाया न जा सके, तो वह अपनी कला की पूर्णता पर पहुँच जाता है। कला की इस प्रौढ़ता को ही शब्दपाक कहा जाएगा। यह ऐसी स्थिति है, जहाँ पदयोजना अपने सौन्दर्य में परिपूर्ण हो जाती है। तब कवि की सरस्वती सिद्ध मानी जाती है।

पदस्य स्थापिते स्वयं ह्य सिद्धा सरस्वती ।^१

शब्दपाक का यह रूप शय्या से बहुत मेल खाता है, क्योंकि पदों की स्थिरता, जिसे हम विनिमय की असहिष्णुता कह सकते हैं, दोनों में समान है। फिर वामन ने शब्द तथा अर्थ गुणों पर विचार करने के बाद कहा है कि समग्र गुणों की उपस्थिति हो जाने पर काव्य में जो

प्रौढता आती है वह काव्यपाक है—गुणस्फुटरवसाकृत्य काव्यपाक प्रचक्षते।^१ इससे पूर्व बंदर्भी रीति के विवेचन में वामन ने पाक को अत्यधिक महत्त्व दिया था।^२

वामन के बाद पाक की ओर ध्यान देने वाले आचार्य राजशेखर हैं। उन्होंने वामन के पाक के विचार को आगे बढ़ाया और पाक के कई भेद किए, जैसे द्राक्षापाक, नारिकेलपाक इत्यादि। उन्होंने काव्य की रचना में पूर्णता लाने के लिए किए गए अभ्यास के विभिन्न रूपों को पाक के रूप में वर्णित किया।

पाक का यह विचार वामन से प्रारम्भ हुआ और उसने गुणविवेचन के प्रसंग में पाक का सन्निवेश किया। अतः पाक का साम्य वामन के गुणों से होने लगता है और बहुधा उनके गुणों तथा पाक में भेद करना कठिन हो गया है। अतः एव, प्रौढि नामक शब्दगुण को बाद में भोजराज ने पाक से मिला दिया।

विद्याधर ने पाक तथा शय्या दोनों में अन्तर स्पष्ट करने का प्रयास किया, पर हम देख चुके हैं कि पाक, शय्या एवं गुण में बहुत कुछ समानता देखने में आती है। विद्यानाथ ने शय्या को पदाश्रित तथा पाक को अर्थाश्रित कहकर दोनों को एक दूसरे में भिन्न किया। उन्होंने कहा कि अर्थगाम्भीर्य पाक है। परन्तु उनका यह अर्थगाम्भीर्य शय्या से तो पृथक् हो गया, परन्तु इसकी सीमा, जैसा कि उनके विवेचन से स्पष्ट होता है, रस के क्षेत्र में प्रवेश कर गई। विद्यानाथ ने पाक के दो भेद किए—(१) द्राक्षापाक—द्राक्षापाक त कथितो बहिरन्तरव्यवस^३, (२) नारिकेलपाक—स नारिकेलपाक स्यात् अन्तर्गुडरसोवय^४। इस प्रकार शय्या तथा पाक का विचार स्पष्ट न हो सका। कभी तो ये गुणों से मेल खाने लगे और कभी एक दूसरे से मिश्रित होने लगे। यही कारण है कि इनका साहित्यशास्त्र में प्रचलन नहीं हुआ।

१. वामन, का० सू० सू० ३.२.११

२. वही, १. २ २१

३. प्रतापरादीय, पृ० ४१

४. वही, पृ० ४६

०२७ वक्रोक्ति

भामह ने वक्रोक्ति के महत्त्व को प्रोद्घाटित करते हुए कहा है—

संवा सर्वे वक्रोक्ति जनयार्थो विभाव्यते ।

यत्तोऽस्यां कविना कार्यं कोऽतः कारोऽन्या विना ॥^१

भामह की दृष्टि से काव्य में सर्वत्र वक्रोक्ति ही श्रोतश्रोत है। लौकिक अर्थ के विभावीकरण अर्थात् विभाव में परिवर्तित होने का साधन वक्रोक्ति ही है। वक्रोक्ति के बिना काव्य में अलंकार अर्थात् सौन्दर्य नहीं आता।

वक्रोक्ति का अर्थ है—वक्र कथन, टेढ़ी उक्ति। उक्ति की वक्रता क्या है? किसी बात को सामान्य रूप में न कहकर उसे असामान्य, विचित्र रूप में कहना। जैसे, 'आप कहा से आए हैं', न कहकर 'आपने किस प्रदेश को अपने विरह से व्याकुल किया है', कहना वक्रोक्ति है, जो साधारण कथनप्रकार में भिन्न है। अतएव भामह ने वक्रोक्ति को लोकातिशयाश्रयोपरम्ब कहना है, अर्थात् लोक को अतिक्रमण करने वाला वचन वक्रोक्ति है। साधारण जन अपने भावों को प्रकट करने के लिए जिन सोधे-साधे शब्दों का प्रयोग करते हैं, उनसे भिन्न शब्द तथा अर्थ का प्रयोग करना वक्रोक्ति है।

भामह के इस वक्रोक्ति-विचार को कुत्तक ने वक्रोक्तिजीवित में सिद्धान्त रूप में स्थापित किया। वे वक्रोक्ति को काव्य की परमभूषा मानते हैं। उन्होंने वक्रोक्ति का लक्षण किया है—वक्रोक्तिरेव वंद्यममनी-षण्णितिरुच्यते।^१ वंद्य का अर्थ है—कविकर्म की कुशलता, भगी का अर्थ है—शोभा, विच्छिन्ति और भणिति का अर्थ है—कथन। जब कवि अपने कौशल से कोई बात सुन्दर रूप में कहता है तो वह वक्रोक्ति है। वक्रोक्ति के मूल में कवि-व्यापार, कवि-कौशल है। अतः कवि-कर्म की कुशलता से उत्पन्न होने वाले अलंकार पर आश्रित होने वाला कथन प्रकार वक्रोक्ति है।

१. भामह, काव्यालंकार, २. ५५.

२. कुत्तक, वक्रोक्तिजीवित, १ ।

कुन्तक ने वक्रोक्ति के ६ भेद स्वीकार किए हैं—

(१) वर्णविन्यासवक्रता (२) पदपूर्वाध्ववक्रता (३) पदपराध्व-
वक्रता (४) वाक्यवक्रता (५) प्रकरणवक्रता (६) प्रबन्धवक्रता ।

०२८ रस

भारतीय साहित्यशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्त काव्य का मर्म
खूँटने वाले विभिन्न मार्ग हैं। उनमें सर्वाधिक प्रशस्त मार्ग रससिद्धान्त
है। जब हम कहते हैं कि अमुक काव्य या नाटक प्रभावकारी है तो इस
प्रभाव का विश्लेषण कैसे किया जाए? सुन्दर प्रभावकारी कहने में
हमारा वास्तविक विवक्षित क्या होता है? इसका उत्तर है कि वास्तव
में वही कृति सर्वाधिक सुन्दर या प्रभावकारी होती है, जिससे पाठक का
पूर्ण हृदय-सवाद हो। जब कोई कृति हमारे हृदय को स्पर्श करती है,
उससे हमें आह्लास प्राप्त होता है, तो वह रचना सफल मानी जाती है।
सहृदय को भावविभोर करने की क्षमता ही साहित्य की उत्तमता की
कसौटी है और वही रस है। सहृदयचक्रवर्ती आनन्दवर्धन ने जब

काव्यस्यात्मा स एवायंस्तथा चाविक्रमे पुरा ।

जीवद्गन्धविमोगोत्थ शोक इत्येकत्वमागत ॥^१

यह कहा, तो उन्होंने प्रमाणित कर दिया कि आदिकवि के
काव्यत्व का मूल उसी हृदयस्पर्शिता तथा हृदयसवाद में निहित है,
जिसकी रससिद्धान्त के रूप में व्याख्या की जाती है। रससिद्धान्त के
आद्याचार्य भरत भी कहते हैं—

नहि रसात् श्रुते कश्चिदर्थं प्रवर्तते ।^२

वस्तुतः रससिद्धान्त ही काव्यशास्त्र का एकच्छत्र सम्राट् है,
अन्य सिद्धान्त तो उसके सेवक हैं। प्रसन्नार, गुण, रोति, ध्वनि, औचित्य
की सार्यवता रस के परिपोष में ही है।

१ कविम्यापारवन्द्यप्रकारा समवन्ति षट् ।

प्रत्येक बहवो भेदास्तेषां विच्छित्तिसोमिन ॥

(प० जी० १. १८)

२. आनन्दवर्धन, अग्र्यासोव, १.५

३. भरत, नाट्यशास्त्र, पृ० २०२, बड़ोदा

आनन्द का ही दूसरा नाम रस है। जीवन में आनन्द का स्थान सर्वोपरि स्वीकृत किया गया है। उपनिषदों में कहा गया है कि आनन्द ही ब्रह्मा है तथा आनन्द से ही अखिल भूतों की उत्पत्ति होती है। उसी से उनका जीवन धारण होता है और अन्त में आनन्द में ही उनका पर्यवसान भी हो जाता है।^१ काव्यशास्त्र में इस आनन्द की व्याख्या रस रूप में की जाती है। काव्य का परम आनन्द रस है। काव्य का प्रयोजन उपदेश आदि चाहे कुछ भी हो, उसका असाधारण तत्त्व रस ही है इसमें कोई विस्वादि नहीं। काव्य के निरतिशय सुखास्वादरूप आनन्द की उपलब्धि का साधकतम तत्त्व रस ही माना गया है। प्रायः सभी आसक्तिपूर्ण ने बिना किसी विप्रतिपत्ति के रस को काव्यात्मा का स्थान दिया है। इस प्रकार रस काव्य का सर्वोत्कृष्ट तत्त्व ही नहीं, अपितु उसका सर्वस्व है।

इस रस की निष्पत्ति कैसे होती है, इसके सम्बन्ध में सर्वप्रथम भरतमुनि ने कहा—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।^२ रति, शोक, क्रोध आदि स्वाभिभाव सहृदयों के हृदय में संस्कार के रूप में सुप्त पड़े रहते हैं। विभावो, अनुभावो, व्यभिचारिभावो का समुचित संयोग जब काव्य-नाटकादि में संपन्न देखा जाता है, तो वे भाव उद्बुद्ध होते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने भरत के रससूत्र का विश्लेषण करते हुए कहा है कि जिस प्रकार दीपक की रश्मियाँ अघकारस्थ पदार्थ को प्रकाशित करती हैं, उसी प्रकार विभाव आदि सहृदय के हृदयस्थ भावविशेषों को उद्बुद्ध करके उन्हें रसदशा की ओर ले जाते हैं। काव्य या नाट्य में सहृदय के उद्बुद्ध, ये स्थायी भाव ही रस हैं।

सहृदय के हृदय में बासनारूप में स्थित स्थायी भाव जाग्रत होकर आनन्दरूप कैसे हो जाते हैं, इस रहस्य का उद्घाटन किया भट्टनायक ने। इस प्रक्रिया का नाम उन्होंने भावकत्व व्यापार रखा जिसे साधारणीकरण कहते हैं। लोकव्यवहार में राग, मीत्र

१. आनन्दो बहोति व्यजायते । आनन्दादि पल्लवमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्द प्रयत्यभिधिसन्ति ।

(तै० भृगुवल्ली, पृष्ठ अनुवाक)

२. नाट्यशास्त्र, काव्यभाषा, पृ० ६३, १६४३

आदि की रति आदि चित्तवृत्ति नित्य व्यक्तिसम्बद्ध होती है। अतः एव उसमें नित्य स्वकीयत्व या परकीयत्व की सीमाएँ रहती हैं। लोक में जब हम प्रेम करने हैं या शोक का अनुभव करने हैं, तो वह रति या शोक देश, काल और व्यक्ति की सीमा से बंधा लौकिक ही होता है। इस रति का सुख या शोक का दुःख लौकिक ही होता है। किन्तु वही चित्तवृत्ति जब नाट्य या काव्य में विभावानुभावादि की सामग्री से द्योतित होती है, तब वह लौकिक व्यक्ति-बन्धन से मुक्त हो जाती है। व्यक्तिबन्धन से मुक्त होने से ही वह चित्तवृत्ति साधारणीभूत होती है। इस की आनन्दमयता का रहस्य चित्तवृत्ति की इस साधारणीभूतता में निहित है। जिस प्रकार यागी समाधि की दशा में स्वगत, परगत, तदस्थगत भावनाओं से ऊपर उठकर, आत्मलीन होकर परमानन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार सहृदय भी जब स्व-पर भाव से ऊपर उठकर साधारणीकृत मनोवृत्ति में स्थित होता है, तब उसे हम की अनुभूति होती है। स्वकीय-परकीय का भाव हृदय की ग्रन्थि है, जो आत्मा के आनन्दस्वरूप को आच्छादित किए रहती है। योपी यमनियमादि उपामा से इस ग्रन्थि को ताड़कर आत्मा की इस मुक्तावस्था में पहुँच कर आनन्द में विश्रान्ति प्राप्त करता है और सहृदय काव्य तथा नाटक में विभावानुभावादि के माध्यम से मन की क्षीतविघ्न स्थिति में पहुँच कर आनन्दलाभ प्राप्त करता है।

इस प्रकार भट्टनायक ने एक महत्त्वपूर्ण बात बताई है कि रसास्वाद के लिए सहृदय की चित्तवृत्ति तथा विभावादि का साधारणीकरण होना चाहिए। विभावादि जब तक अग्न्य व्यक्ति से सम्बद्ध है, तब तक सहृदय उनका भोग नहीं कर सकता। किन्तु जब इन्हीं का साधारणीकरण होता है, उस समय ये व्यक्तिनिरपेक्ष तथा देश, काल और भवस्या से रहित होकर उपस्थित होते हैं। तब रसिक इनका आस्वाद लेता है। साधारणीकृत चित्तवृत्ति एवं विभावादि का स्वाद ही रस है।

भट्टनायक और उनके समकालिक अभिनवगुप्त ने काव्य तथा नाट्य से प्राप्त आनन्द का विश्लेषण करते हुए उस पर दर्शनशास्त्र की गहरी परत चढ़ा दी। उन्होंने रस को लौकिक भूमि से उठाकर अलौकिक आनन्द के धरातल पर प्रतिष्ठित कर दिया। इससे उन्होंने न केवल रस की आनन्दमयता की समस्या का समाधान किया, अपितु

रस को ही काव्य का परम सर्वस्व स्थिर किया। रस की आनन्दमयता का रहस्य उस अनुभूति में छिपा है, जहाँ योगी के समान सहृदय भूमा की पराकाष्ठा पर पहुँचता है। उपनिषद् कहती हैं—यो वै भूमा तत्सुख माप्ते सुखमस्ति।^१ जब तक रति आदि चित्तवृत्ति का अनुभव लोक की सीमा में होता है तब तक वह अल्पता या क्षुद्रता की ही स्थिति है। परन्तु, काव्य की भूमि में गुणालंकारोपस्कृत व्यञ्जक शक्ति से सुसज्जित भाषा के प्रयोग से तथा नाट्य में विचित्र आतोद्य, गीत, नृत्य, अभिनय-कौशल तथा रंगमंच की साजसज्जा से सहृदय का चित्त लौकिक सीमा से ऊपर उठने लगता है। वह स्व पर भाव को विस्मृत करने लगता है। धीरे धीरे वह उस दशा में पहुँच जाता है जहाँ उसके मन में स्वकीय-परकीय का भाव ही नहीं रहता। वह सबको अपने में देखने लगता है। उसके क्षुद्र व्यक्तित्व का विलोप हो जाता है और वह उपनिषद् की भूमा की स्थिति में पहुँचता है। उस स्थिति में उसे आनन्द की अनुभूति होती है। यह आनन्द योगी की समाधि के आनन्द का समकक्ष हो जाता है। जैसा कहा गया है—

पाठपाठ्य अध्यागानात् तत सम्पूरिते रसे ।

तदास्वादभरंकाग्र हृष्यत्यन्तर्मुख क्षणम् ।

ततो निर्विषयस्यास्य स्वरूपावस्थितो निरः ।

व्यक्त्यने ह्लादनिष्पन्नो येन तृप्यन्ति योगिनः ॥^२

इस प्रकार देश, काल और व्यक्ति की सीमा के विगलन से शुद्ध चैतन्य अवभासित होने लगता है। सहृदय के अनुभूयमान रत्यादि भाव स्व चैतन्य से सबलित होकर आनन्दमय बन जाते हैं। इस विचार से भारतीय साहित्यशास्त्र में रस का स्वरूप प्रकाशमय, आनन्दमय तथा अखण्ड सिद्ध हुआ है।

आचार्य विश्वनाथ ने अभिनवभुक्त द्वारा संस्थापित रस के स्वरूप को सुन्दर रूप से समाहित किया—

१ छा०, ७. २३ १

२ उद्धृत महिमयट्ट, व्यक्तिविवेक, पृ० ६४, बौद्धम्यासस्करण, बनारस, १९३९

सत्त्वोत्रेकादशस्वप्रकाशानन्वचिन्मय ।

वेद्यान्तरस्पर्शान्यो ब्रह्मास्वादमहोदरः ॥^१

यद्यपि ब्रह्मानन्दस्वरूप होने के कारण रस एक ही होना चाहिए, फिर भी उपाग्रिभेद में रस को नौ प्रकार का माना गया है। रति से मयनित विदानन्द शृङ्गार, शोक में सयनित करुण, भय से मयनित भयानक । इस प्रकार आनन्द एक होने पर भी अनेक नामों से अभिहित हुआ ।

रस को ब्रह्मानन्दमहोदर कहकर सस्मृत के आचार्यों ने करुण, वीभत्स, भयानक रसों की समस्या को भी सुलझा दिया । क्योंकि, रस ववचित्निर्वृतिरूप है अतः यह स्वात्मविश्रान्ति जिस किसी भी उपाय से हाँ उसमें आनन्द की अनुभूति होती है । इस प्रकार करुण में भी जब हम स्व-पर भाव में ऊपर उठकर शोक का माधारणीकृत रूप अनुभव करते हैं, तब वह शोक लौकिक न होकर अलौकिक होता है और उसकी अनुभूति आनन्दमय ही होती है, दुःखमय नहीं ।

कवि से लेकर महदय तक एक ही विश्व है तथा यह इन दोनों में व्याप्त है और यह रस ही विश्व है । भट्टतीन कहते हैं—कवि तथा धोता दोनों का समान अनुभव होता है ।^२ अभिनवगुप्त भी कहते हैं—सरस्वादास्तरव कविसहस्राक्ष्य विजयने ।^३ यह तत्त्व जो कवि तथा सहृदय को एक मूल में बाधता है, रसतत्त्व ही है । रससिद्धान्त की इसमें बढ़कर और क्या प्रतिष्ठा हो सकती है ?

रस के अन्तर्गत शृङ्गार, वीर, करुण आदि रसों के अतिरिक्त रमाभाम, भाव, भावाभाम, भावोदय, भावशान्ति, भावमग्नि और भावशवलता का भी ग्रहण होता है । भावादिक को भी आस्वादन-रूप रसनयन होने के कारण रस कहा जाता है । जैसे विश्वनाथ कहते हैं—

१. छा० प० १२

२. भाष्यस्य कवे धोतु समानोऽनुभवस्ततः

(उद्घुन : ध्वन्यामोक्तोपन, पृ० १७०, कृ० स्वा० रि० ६०, १६४४)

३. ध्वन्यामोक्तोपन, पृष्ठ ३, कृ० स्वा० रि० ६०, १६४४

रसभावो तदाभातो भावस्य प्रसमोदयो ।

सन्धि शबलता चेति सर्वोऽपि रसनाद् रसा ॥^१

० २.६ ध्वनि

कवि के हृदय में जो कुछ स्थायित्व रहता है, उसे अशेषरूप में प्रकाशित करने का उपकरण है भाषा। उसमें स्वयं एक प्रकार की कलात्मकता वर्तमान रहती है। लोकव्यवहार की भाषा में प्रत्येक शब्द का संकेतित अर्थ ही पर्याप्त है। परन्तु संकेतित अर्थ के प्रतिरिक्त शब्द का ध्वन्यमान अर्थ भी होता है जो काव्य को रमणीय एवं हृद्य बनाता है। शब्द की ध्वन्यमानता भाषा को कलात्मक बनाती है और उसे लोकप्रचलित भाषा से भिन्न करती है। ध्वनिसिद्धान्त का मूल भाषा के इस कलात्मक प्रयोग में निहित है। जब तक भाषा में ध्वननशक्ति अथवा परमरमणीय प्रतीयमान अर्थ के अभिव्यजन का कौशल नहीं आता, तब तक वह काव्य के चरमशिखर पर आरोह नहीं हो सकती।

भाषा के सामान्य एवं कलात्मक प्रयोग को स्पष्ट करते हुए ध्वनिसिद्धान्त के संस्थापक आनन्दवर्धन ने कहा है कि महाकवियों की वाणी में प्रतीयमान अर्थ वाच्य से सर्वथा भिन्न होता है। यह प्रतीयमान अर्थ ही काव्य का लावण्य है। यही सहृदयों को शान्त होता है। यह अर्थ काव्य के अन्य वाह्य उपकरणों से सर्वथा भिन्न रूप में प्रकाशित होता है। जैसे स्त्रियों में लावण्य जैसी चमत्कारी वस्तु शरीर के वाह्य अवयवों या अलंकारों में सर्वथा भिन्नरूप में प्रकाशित होती है, ऐसे ही काव्य में व्यंग्य की प्रतीति होती है। रमणियों में विद्यमान यह लावण्य सहृदयों को चमत्कृत करता है, इसी प्रकार व्यंग्य भी रसिकों को आनन्दित करता है।^१

१. सा० २० ३ २५६

२. प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्तुवस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।

मत्तप्रतिष्ठापयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिहागनाम् ॥

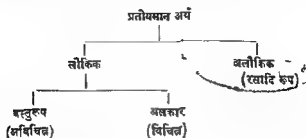
(ध्वन्यालोक १.४)

इस प्रकार ध्वनिसिद्धान्त का परमतत्त्व यह है कि भाषा में साधारण वाच्यार्थ से अतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ को व्यजित करने की शक्ति होनी चाहिए। क्योंकि प्रतीयमान अर्थ ही सहृदयहृदयानुरजक होता है, अतः यदि कवि की भाषा में उसे व्यक्त करने की सामर्थ्य न आई तो वह अपने उद्देश्य में विफल हो जाता है। समग्र रूप से प्रतीयमान जो अर्थ है वही कवि द्वारा निवेदनीय अर्थ की पराकाष्ठा है। पर यह अभिव्यजित हो, ध्वनिसिद्धान्त की वस यही एक शर्त है। प्रतीयमान अर्थ का कदापि अभिधान नहीं होना चाहिए, उसका शब्दों में प्रतिस्फुरण ही होना चाहिए। इस प्रकार यदि कवि प्रतीयमान अर्थ के अभिव्यजन की दृष्टि में शब्दयोजना करेगा, तो उसे कविमण्डली में उच्च स्थान प्राप्त होगा। सहृदयहृदयहारी काव्य का ऐसा कोई रूप नहीं है, जहाँ प्रतीयमान अर्थ के सस्पर्श से रमणीयता न आ जाए। अतः आनन्दवर्धन ने इसे परम काव्यरहस्य कहा है। प्रतीयमान अर्थ तथा उसके अभिव्यजक शब्द तथा शब्दसमूह की विशिष्टता होना महाकवित्व का गमक है। कवि को महाकवित्व की पदप्राप्ति वाच्य और वाचक के वैचित्र्य से नहीं होती, अपितु व्यंग्य और व्यजक के उचित प्रयोग से ही होती है। इस प्रकार आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान की महिमा से ध्वनिसिद्धान्त का महत्त्व स्थापित किया। इस प्रतीयमान अर्थ पर ही ध्वनिसिद्धान्त का प्रासाद प्रतिष्ठित हुआ।

अभिनवगुप्त ने प्रतीयमान के दो रूपों की ओर निर्देश किया है—लौकिक तथा अलौकिक^१। व्यंग्यार्थ का वह रूप जिसे हम चाहे तो वाच्यार्थ के रूप में भी प्रकाशित कर सकें, उसका लौकिक रूप है। जो व्यंग्य हम पूर्ण अस्त हो गया से प्रकट करना चाहते हैं उसे अभिधा से ही वह द वि अब काम समाप्त करो, प्रतीयमान का लौकिक रूप है। परन्तु प्रतीयमान का एक और भी रूप है जो इससे विलक्षण है। वह वही शब्दों द्वारा वाच्य नहीं हो सकता। रसरूप प्रतीयमान वही स्वशब्द से अभिहित नहीं किया जा सकता, वह तो आस्वादन

१. तत्र प्रतीयमानस्य तावद् द्वौ भेदो—लौकिक काव्यव्यापाररंगोच्चर-
श्चेति। लौकिको य स्वशब्दवाच्यतां कश्चिदधिरोते, स च विधिनियेष्टाद्यनेष्ट
प्रकारो वस्तुशब्देनोच्यते। (ध्वन्यालोच १.४, कारिका पर 'मोचन')

का ही विषय है, अतः वह अलौकिक प्रतीयमान है। इस प्रकार प्रतीयमान के ये रूप उभरते हैं—



यह प्रतीयमान अर्थ जब काव्य में प्रधान रूप से अवस्थित होता है, तब उस प्रधान व्यंग्य को ध्वनि कहते हैं। प्रतीयमान के प्रधान न रहने पर उसे गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं। इस प्रकार लौकिक प्रतीयमान की प्रधानता होने पर वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि तथा रसादिरूप अलौकिक प्रतीयमान की प्रधानता में रसादिध्वनि होती है।

ध्वनिसिद्धान्त में प्रतीयमान की सत्ता ही पर्याप्त नहीं है, उसका वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान होना भी अपेक्षित है, क्योंकि प्रधान रूप में अवस्थित प्रतीयमान जितना शोभावर्धक होता है, उतना गौण रूप में नहीं। इसीलिए ध्वनि का लक्षण करते हुए विश्वनाथ ने कहा है—

वाच्यातिशायिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम् ।

—सा० द० ४ १

भाव का आविर्भाव भाषा के माध्यम से होता है, इसलिए आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान की अभिव्यक्ति की दो सरणिमा मानी हैं, अभिधा के माध्यम से तथा लक्षणा के माध्यम से। और, इनके आधार पर ध्वनि के दो प्रमुख भेद किए हैं—अभिधामूलक (दिवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि), लक्षणामूलक (अविवक्षितवाच्य ध्वनि)। इन दोनों वृत्तियों को स्वीकार करते हुए आनन्दवर्धन ने तीसरी वृत्ति व्यञ्जना की भी कल्पना की। अल्प से अधिक की प्रतीति कराने की सामर्थ्य व्यञ्जना में ही है, अभिधा-लक्षणा में नहीं। इसी व्यञ्जना से भाषा में कलात्मकता आती है। व्यञ्जना की ही यह विशेषता है कि इससे प्राप्त अर्थ न कोश में होते हैं न

व्याकरण में । इससे गृहीत अर्थ सहृदयो के हृदय में अवस्थित रहते हैं । अत एव आनन्दवर्धन कहते हैं—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।

वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥

—ध्वन्यालोक १ ७

कई बार व्यंग्य की प्रतीति क्रमपूर्वक धीरेधीरे होती है और कई बार क्रम होने हुए भी उत्पलशतपत्रव्यतिभेदव्याय से तुरन्त हा जाती है । क्रम होने पर भी सहृदय को वह बहुधा अवभासित नहीं होता । इस दृष्टि से अभिधामूलध्वनि के सलक्ष्यनम व्यंग्य तथा असलक्ष्यनम व्यंग्य का भेद किए गए हैं । रसादिरूप व्यंग्य असलक्ष्य-क्रम तथा वस्तु और अलकाररूप व्यंग्य सलक्ष्यक्रम है ।

जिस प्रकार व्यंग्यमुख से ध्वनि के तीन भेद होते हैं— (१) वस्तु ध्वनि (२) अलकार ध्वनि (३) रसादि ध्वनि, उसी प्रकार व्यङ्ग्यमुख से भी ध्वनि के भेद प्रभेद होते हैं । शब्दार्थ ध्वन्यर्थ के व्यङ्ग्य होते हैं । व्यंग्यार्थ शब्दार्थों के द्वारा अनेक प्रकारों से ध्वनित हो सकता है । कभी पदार्थ से ध्वन्यर्थ व्यक्त होता है और कभी वह सम्पूर्ण वाक्य से भी सूचित होता है । केवल वाक्य या पद की क्या बात, ध्वन्यर्थ की प्रतीति तो प्रकृति, प्रत्यय आदि भाषा के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंगों से भी होती है । जैसे—

न्यवहारो ह्ययमेव मे यदरथ ... १

मे व्यङ्ग्यता की विविधता चरम सीमा पर है ।

ध्वनि का उपयोग काव्य की सृष्टि में बहुत ही अधिक है । ध्वनि का आश्रय लेकर कवियों की प्रतिभा अनन्त रूप में विवसित होती है । काव्य में नयनप्रकार का ही विशेष महत्त्व होता है । वर्णनीय वस्तु की एकता होने पर भी यदि उसके वर्णनप्रकार में विभिन्नता तथा नवीनता है, तब वह हमारे लिए नवीन तथा चमत्कार-युक्त प्रतीत होती है । ध्वनि में युक्त काव्य की भी यही दशा है ।

अर्थ की प्राचीनता होने पर भी ध्वनि का सम्योग उसमें नवजीवन का संचार कर देता है। यही कारण है कि अलंकार, गुण, रीति सिद्धान्तों के रहते भी ध्वनिसिद्धान्त काव्य का परम निकषोपल वन गया।

०२१० औचित्य

काव्यकला से सम्बद्ध ऐसा कोई तत्त्व नहीं जो रस ध्वनि से सम्पृक्त न हो जाता हो। रसध्वनि सब सिद्धान्तों की अग्रणी है। परन्तु रसध्वनि का भी यदि कोई प्राण हो सकता है तो औचित्य। अतः एव रसवादी कहते हैं—यदि रसभग का परिहार करना है, तो अनौचित्य का परिहार करो। सम्भवतः यही कारण है कि भरत के समय से औचित्य का विचार प्रारम्भ होता है। आनन्दवर्धन तथा महिमभट्ट जैसे आचार्यों ने औचित्य को सैद्धान्तिक पद पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास और आगे बढ़ाया और औचित्य का अभिप्रेत क्षेमेन्द्र ने औचित्यविचारचर्चा में किया।

कविकल्पना वास्तविकता से अतिशयिता की ओर, यथार्थ से स्वच्छन्दता की ओर, जहाँ तक चाहे उड़ सकती है, परन्तु वह होनी औचित्य की परिधि में ही चाहिए। क्या अलंकार, क्या गुण, क्या रीति, सबका नियामक तत्त्व यदि कोई हो सकता है तो औचित्य ही। औचित्य का सबन्ध हमारी नैतिकता, सामाजिक मान्यता तथा आस्था एवं विश्वास के साथ है। कवि को निरकुश होने की छूट दी गई है, परन्तु वह चाहे कितना भी उड़ ले, उसे औचित्य के धागे से बंधे ही रहना चाहिए। भाव यह है कि पृथ्वी से आकाश तक उड़ने पर भी कवि की कल्पना मानवीय सृष्टि के अनुपयुक्त एवं विरुद्ध नहीं होनी चाहिए। कलाकार द्वारा निर्मित वातावरण में जब सहृदय निमग्न होता है, तो ऐसी कोई बात नहीं आनी चाहिए जो उसके आनन्द में बाधक हो।

औचित्य शब्द उचित से निष्पन्न है। उचित से तात्पर्य है—किसी वस्तु का दूसरी वस्तु के अनुरूप होना। इस औचित्य की कल्पना कोई नवीन नहीं है। यह ठीक है कि इसको साहित्य में एक श्रेष्ठ स्थान प्रदान कराने वाले आचार्य क्षेमेन्द्र हैं, पर इसकी परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। भरत के नाट्यशास्त्र

मे औचित्य का आधार लोक की रुचि, प्रवृत्ति एवं उसके रूप को मानते हुए लिखा गया है—जो लोकसिद्ध है वह सब अर्थों में सिद्ध है और नाट्य का जन्म लोकस्वभाव से हुआ है, अतः नाट्यप्रयोग में लोक ही प्रमाण है ।^१ आगे चलकर उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि उसकी भाषा, भाव तथा कार्य पात्रानुरूप होने चाहिए ।
उन्हीं के शब्दों में—

वयोऽनुरूप प्रथमस्तु वेद्य,
वेद्यानुरूपश्च गतिप्रधार ।
गतिप्रधारानुरूपत च पाठ्य
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्य ॥

—नाट्यशास्त्र १४ ६८

इसके बाद दण्डी ने औचित्य का सकेत उपमा के प्रसंग में किया । वस्तुतः भामह, दण्डी, वामन और रुद्रट आदि आचार्यों का दोष विवेचन एक प्रकार से औचित्य के अभाव या अनौचित्य की ही व्याख्या है ।

औचित्य की सर्वप्रथम स्पष्ट व्याख्या करने वालों में आनन्दवर्धन का नाम लिया जा सकता है । उन्होंने औचित्य का बड़े विस्तार से विवेचन किया, पर लक्षण करने की ओर उनकी कोई विशेष प्रवृत्ति न रही । लक्षण की दृष्टि से कुन्तक भी हमारे सामने आते हैं । उन्होंने औचित्य का लक्षण करते हुए लिखा है—जिसके द्वारा स्वभाव का महत्त्व पुष्ट होता हो अथवा जहाँ वस्तु या ध्योता के अति स्वाभाविक सौन्दर्य के कारण वाक्य वस्तु आच्छादित हो जाती हो, उसे औचित्य कहते हैं ।^२

१ लोकसिद्ध भवेत्सिद्ध नाट्य लोकस्वभावजम् ।

तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते ॥

नानाशीला प्रकृतयः शीलं नाट्ये प्रतिष्ठितम् ।

तस्मात्लोकं प्रमाणं हि कर्तव्यं नाट्ययोगनृभिः ॥

(ना० पा० २६. १११-११)

२ आङ्गसेन स्वभाषस्य महत्त्वं येन पोष्यते ।

प्रकाशेण तद्गोचरमुच्चितादृशान्द्रीक्षितम् ॥

यत्र वक्तुं प्रमातुर्वा वाक्यं शोभातिशायिना ।

आच्छादते स्वभावेन तदप्यौचित्यमुच्यते ॥

(ब० जी० १. २३-२४)

आचार्य क्षेमेन्द्र औचित्य का लक्षण निर्धारित करते हुए कहते हैं—जो जिसके योग्य है, आचार्य लोग उसे उचित कहते हैं, उसका भाव औचित्य है ।^१

यहां आचार्य का भाव है कि काव्य का सर्वातिशायी गुण सौन्दर्य होता है। वह कोई अनपेक्ष, असंपृक्त, पूर्वसिद्ध वस्तु नहीं है। किसी वस्तु को उसी में सीमित रखकर सीमित या असीमित नहीं कहा जा सकता। अभिमानशाकुन्तल में दुष्यन्त ने जब शकुन्तला का चित्र बनाया तो उसके आसपास का वातावरण भी चित्रित किया, इसका एवमात्र उद्देश्य सौन्दर्य की पूर्ण प्रतिष्ठा करना था।

औचित्य केवल काव्य की ही वस्तु नहीं, लोक में इसकी पदे-पदे रक्षा होती है। अनुचित कार्य किसके हृदय को विक्षुब्ध करने वाला नहीं होता ? इसी बात को ध्यान में रखते हुए क्षेमेन्द्र कहते हैं कि यदि लोक में भी अनुचित स्थान में अलंकार पहन लिया जाए तो वह एकदम हास्यरस को पैदा करने वाला होगा ।^२

सही बात तो यह है कि औचित्य के बिना न तो लोक की ही रक्षा है, न साहित्य की। उसके बिना न कोई अलंकार है, न कोई सौन्दर्य। औचित्य के बिना न केवल काव्य, अपितु व्यक्ति की भी पूजा नहीं हो सकती। निर्मर्याद पुरुष या कामिनी को कौन क्षमा कर सकता है। अत स्पष्ट है कि औचित्य के बिना, गुण, अलंकार और रस से युक्त होने पर भी काव्य निर्जीव ही है। अत ठीक ही कहा गया है—

उचितस्यानविन्यासादलङ्घितलङ्घति ।

औचित्यादच्युता नित्य अवन्त्येव गुणा गुणा ॥

—श्री० वि० च० ६

औचित्य पर विचार केवल भारत में ही नहीं, अपितु विदेशों में भी हुआ है। सागिनस ने अपने उदात्ततत्त्व-सम्बन्धी ग्रन्थ

१. उचितं आह्वयार्थं. सदृशं कित्त यस्य यत् ।

उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचलते ॥

(श्री० वि० च० ७)

२. वही, ६

On the Sublime में औचित्य को मान्यता दी है। अठारहवीं सदी के महाकवि पोप ने औचित्य पर पूर्ण बल दिया है। उन्होंने लिखा है—

It is not enough no harshness gives offence
The sound must seem an echo of sense
Soft is the strain where Zephyr gently blows,
And the smooth stream in smoother number flows
But when loud surges lash the sounding shore
The hoarse rough verse should like a torrent roar,

—*Essay of Criticism*

अर्थात् “कविता में केवल उद्देगकारी कर्ण कटुता का अभाव ही पर्याप्त नहीं माना जा सकता, प्रयुक्त शब्द, भाव की प्रतिध्वनि के रूप में होना चाहिए। भलमानिल के बहने के अवसर पर प्रयुक्त शब्दों में सुकुमारता तथा कोमलता होनी चाहिए। मदमद-प्रवाही निरंतर और भी सुकोमल पदों में प्रवाहित होता है, किन्तु जब प्रचण्ड झझावात के धपेड़े खाकर भीषण ऊमिया किनारों से टकराती है, तब ओजस्वी पद भी तुमुल प्रवाह की भाँति धीरे गम्भीर गर्जन करते हैं।” कहना न होगा कि पोप का इस प्रकार का सकेत भारतीय आचार्यों के पदौचित्य तथा गुणौचित्य का ही उपलक्षण मात्र है।

आचार्य क्षेमेन्द्र का औचित्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण आधुनिक युग की धारणाओं के अनुकूल है। इतना अवश्य है कि जहाँ आज का साहित्यकार अपने साहित्य को नियमों से सर्वथा मुक्त रखने की चेष्टा कर रहा है, वहाँ क्षेमेन्द्र आवश्यक नियमों के पालन की ओर ध्यान दिनाते हुए यथार्थ चित्रण में ही स्वाभाविकता मानते हैं। इसका तात्पर्य है कि औचित्य वह तत्त्व है जिसने कवियों की लेखनीरूपी तूलिका से बने हुए कविता-नामिनी के मुखचन्द्र में निखार तो किया ही, साथ ही ज्योत्स्ना का नवीन वैभव भी उमकी प्रदान किया।

०२.११ औचित्य के भेद

औचित्य की व्याख्या करते हुए भेदों की मध्या गिनाने वालों में आचार्य आनन्दवर्धन का उल्लेख सर्वप्रथम किया जाए, तो कुछ

अनुचित नहीं। उन्होंने छ प्रकार के औचित्य माने हैं—(१) रसौचित्य, (२) अलंकारौचित्य, (३) गुणौचित्य, (४) सघटनौचित्य, (५) प्रवन्धौचित्य, (६) रीति औचित्य।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के २८ भेद माने हैं—

पदे वाक्ये प्रवन्धार्थे गुरोऽलंकरणे रसे
त्रिपादा कारके तिगे वचने च विशेषणे ।
उपसर्गे निपाते च काले वेद्ये कुले वने
तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसङ्गहे ॥
प्रतिभाषायामवस्थाया विचारे नाम्नायामिति
काल्यस्थाङ्गेषु च प्राहुरौचित्य व्यापि जीवितम् ॥

—श्री० वि० च० १०

प्राधुनिक काव्यशास्त्री महामहोपाध्याय कृष्णस्वामी शास्त्री ने भी क्षेमेन्द्र का अनुकरण करते हुए वाक्यागो मे औचित्य को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है—

औचित्यमनुपादन्ति सर्वे ध्वनिरस्तोमन्या ।
गुणात्कृतिरीतोना मयाम्बानुवाङ्मया ॥

—*Hughways and Byways of Literary Criticism*, p 27

0-३. वैदिक साहित्य में काव्यतत्वों का मूल

सामान्य धारणा यह है कि वेद धर्म का मूल है। परन्तु, धर्म ही क्या समस्त भारतीय चिन्तन, दर्शन व कला का मूल भी वेद ही है। भारतीय चिन्तन की ऐसी कोई धारा नहीं है जिसका उत्स वेद में न हो। क्या विज्ञान, क्या आयुर्वेद, क्या संगीत, क्या राजनीति, भाव यह है कि सब विद्याया का मूल वेद है। इसी प्रकार काव्य का मूल भी वेद है।

वेदा तथा उपनिषदों के मन्त्र उत्कृष्ट काव्य के उदाहरण हैं। उनमें परवर्ती साहित्यशास्त्र में प्रतिपादित अलंकार, गुण, रीति, रस, ध्वनि आदि काव्यतत्त्वा के पूर्वरूप तथा उनके निदर्शन प्राप्त होते हैं। वैदिक साहित्य के अनुशीलन में स्पष्ट होता है कि महाभारत और रामायण से प्रारम्भ होकर कालिदास, भारवि आदि के युग में जो काव्यपरम्परा प्रवाहित होती रही, उसका मूल वेदों और उपनिषदों में भी विद्यमान है। वैदिक ऋषि व्यास, वाल्मीकि के प्रेरक हैं। उन्होंने काव्य की परम्परा चलाई, काव्य प्रस्थान का निर्माण किया, जिस पर परवर्ती कवि चले और उनके पीछे पीछे कालिदास, भारवि, भवभूति आए। डा० राघवन न ठीक ही कहा है कि सौविक सस्कृतकाव्य जो आगे चलकर विकसित हुआ, यह उसी काव्य की परिणति है जिसकी सृष्टि ऋग्वेद के कवियों ने की थी।^१

आज अलंकार, गुण, रीति आदि काव्य के जिन तत्त्वा से हम परिचित हैं उनके साथ ही यदि हम वैदिक साहित्य की विच्छिन्नता का ढालने का प्रयास करें और इस चश्मे का लगाकर ही हम वेद के काव्यमौन्दर्य का ढूँढ़ें तो हमारा दर्शन एकांगी होगा। वैदिक साहित्य की काव्यसुपमा का परखन के लिए तो हम अपने दृष्टिकोण को व्यापक करना होगा। अलंकार, गुण आदि की प्रवाहित धारा को उसके मूल

१ Classical Sanskrit poetry which blossomed forth later was the outcome of the poetry which the early authors of the Rigveda cultivated

(Dr V Raghvan, *Sanskrit Literature*, p 11, 1961)

रूप में दृढ़ना होगा। प्रयाग और वनारस में प्रवहमान भागीरथी को गंगोत्री में खोजना होगा। हम सोचें कि काव्यशास्त्रियों के मन में अलंकार, गुण, रीति आदि सिद्धान्तों का विचार क्यों आविर्भूत हुआ। इसलिए कि इन्होंने वेदों, उपनिषदों तथा वाल्मीकि, कालिदास की कृतियों में काव्य के ऐसे हृदयावर्जक तत्त्व देखे जिन्हें परिभाषित एवं व्यवस्थित करने के लिए इन्होंने उन्हें अलंकार आदि परिभाषाओं तथा सिद्धान्तों में वर्गीकृत किया। अब जो वयं तथा कठघरे इन्होंने बना दिए, उनमें ही हम काव्य के आदिरूप, वैदिक विच्छिन्ति को ठूस दें, उसके अनुरूप ही उसे देखें तो यह हमारी अल्पदृष्टि होगी। वैदिक साहित्य के काव्यसौन्दर्य में से तो हम ये कुछ तत्त्व निकाल पाए हैं और उन्हें अलंकार, रीति आदि अभिधानों से परिभाषित करते हैं। परन्तु, वैदिक काव्यसौन्दर्य तो अपरिमित है। उसको उपमा का उद्घाटन तो होता ही रहेगा और उसके कई रूप बनते रहेगे। कि वक्ष्ये क्षणे यन्मन्त्रात्मपति तदेव रूप रमणीयताम्। वैदिक काव्यसौन्दर्य भी क्षण क्षण में नवीन है। वैदिक उपसूक्त को पढ़िए, पुन पढ़िए, उसमें से सौन्दर्य की नवीन रश्मियाँ फूटेंगी। उन्हें उपमा अलंकार, छेत्तानुप्रास, वैदर्भी रीति के नाम से हम व्याख्यात करते हैं। जिसे भामह रूपक अलंकार कहते हैं, जिसे वामन वैदर्भी रीति कहते हैं, जिसे ध्वनिकार ध्वनि तथा भरत रस कहते हैं, वे सब काव्य तत्त्व वेदों और उपनिषदों से ही निकले हैं। वैदिक ऋषि अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए कभी सरल सुखद वाक्य-योजना करता है, कभी उद्धत प्रचण्ड पदावली का प्रयोग करता है। क्या वैदिक ऋषि की इसी वाक्य-सघटनाने रीतियों को जन्म नहीं दिया? इसी प्रकार प्राकृतिक सौन्दर्य पर मुग्ध होकर ऋषि के मुख से अनायास उपमानों की धारा प्रवाहित होती है। क्या यह सादृश्य या समता उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारों का मूल नहीं है? भरतमुनि तो स्पष्ट कहते हैं कि चारों वेदों से मूलतत्त्व लेकर उन्होंने नाट्यवेद का निर्माण किया। गद्य-पद्य को अनेक विधाएँ भी वेदों-उपनिषदों से आईं। काव्य का सौन्दर्य उपा के समान वैदिक साहित्य में फूटा। अतः वेद और उपनिषद् न केवल धर्म का मूल हैं, वे काव्य का भी मूल हैं—वेदोद्भिन्न काव्यमूलम्। जो शब्द और अर्थ की विच्छिन्ति अलंकारशास्त्र में अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि, औचित्य आदि के रूप में व्याख्यात हुई, इन सब के मूल में वैदिक ऋषियों के शब्दार्थ की विच्छिन्ति है।

प्रतीत होता है कि अलंकार, गुण, रीति आदि काव्य के तत्त्व ऋग्वेद से विकसित होते होते उपनिषद् काल तक आए और फिर महाभारत और रामायण में से आगे बढ़ते हुए कालिदास, भारवि, माघ आदि के समय तक पूर्ण रूप से पल्लवित तथा पुष्पित हो गए। इनका पूर्ण परिपाक हो जाने पर ही लक्षणग्रन्थों में आचार्यों ने इनका श्रौढ़ विवेचन किया।

वेदों में प्राप्त उपर्युक्त काव्यतत्त्वों के कतिपय उदाहरण नीचे उद्धृत किए जाते हैं।

०३१ वेशो मे अलंकार

अनुप्रास—

मादयध्व मदतो मध्वो मध्यस ।

—ऋ० १ ८५ ६

मे म वय की आवृत्ति से जा नादसौन्दर्य उत्पन्न हुआ वह वाद में वृत्त्यनुप्रास बना। अथर्ववेद के ऋषि ने भी इस प्रकार के नादसौन्दर्य से अपनी ऋचाओं को विभूषित किया, जैसे—

अससालासि पूर्वा सितान्जालास्युत्तरा । नीलापलसाला०

—अथर्व० ६ १६ ४

इसमें भी ऋग्वेद की परम्परा का अनुसरण करते हुए ल, स आदि ध्वनियों की आवृत्ति की गई है, जिससे गद्गा अनुप्रास के कारण शब्द-सौन्दर्य उभरा है।

उपमा—

कन्येव तन्वा३ शाश्वता३ एषि देवि देविमियज्ञमात्मन् ।

समयमाना युवति प्रस्तादाविर्वंशासि कृणुये विभान्ती ॥

—ऋ० १. १२३. १०

मे उपा की रमणी के साथ तुलना करके उमरे सौन्दर्य को अभिव्यक्त किया गया है। उपा कन्या को भाति अपने शरीर को स्पष्ट प्रकाशित करती है। वह एक प्रगल्भ युवति की भांति मुसकराती हुई सूर्य के समान अपने वश स्थल को खोजती है।

जिस प्रकार रमणी अपने सौन्दर्य को विवृत करके रसिक को आकृष्ट करती है, उसी प्रकार उपा भी अपने सौन्दर्य को प्रोद्घाटित करके दर्शक को मुग्ध करती है। उपमा के इस अनायास प्रयोग से ऋषि ने उपा के दिव्य सौन्दर्य को व्यजित किया है। इसी परम्परा के अनुसरण में अथर्ववेद का ऋषि भी सुन्दर उपमानों की योजना से अपने काव्य को अलंकृत करता है, यथा—

अभि त्या अरिमाहित नामुक्षणमिव रज्ज्वा ।

—अथर्व० ३ ११ ८

यहा गौ तथा रस्सी की उपमा से सुन्दर रूप से भावाभिव्यक्ति हुई है।

उपमा की यह परम्परा उपनिषदों में भी प्रवाहित हुई है और वहा भी अनेक सुन्दर तथा उपयुक्त उपमानों का प्रयोग हुआ है। यह परम्परा नदी की धारा के समान निरन्तर बहती गई। रामायण और महाभारत में यह सहस्रधा हो गई।

अतिशयोक्ति—

सत्वारि भृङ्गा वयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासौ अस्य ।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्या मा विवेश ॥

—ऋ० ४ १८. ३

यहा ऋषि ने उपमेयभूत यज्ञ अथवा शब्दब्रह्म का निगरण करके उपमानभूत वृषभ का प्रतिपादन किया है। ऋषि के वर्णन की यह छंदा काव्यशास्त्र में रूपकातिशयोक्ति अलंकार बनी। इसी का विकास अथर्ववेद में भी उपलब्ध है, यथा—

सहस्रभृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत् ।

तेना सहस्रेणा वय नि जनान्स्वापयामसि ॥

—अथर्व० ४ १ १

यहा भी सूर्य को उपमानभूत वृषभ ने अन्त निगोर्ण कर लिया है। कवि का सूर्यवर्णन लोकातिक्रान्त है। अतः अतिशयोक्ति के नाम से इस सौन्दर्य की व्याख्या हुई।

समासोक्ति—

स इं वृषाजनमन् तासु बभे स इं शिशुर्धन्यति त रिहन्ति ।

—ऋ० २. ३५. १३

यहाँ अग्नि पर वृष के व्यवहार का आरोप होने से उत्पन्न काव्यसौन्दर्य समासोक्ति है। अथर्ववेद में भी हम समासोक्ति की सुपमा के दर्शन करते हैं, यथा—

वृक्ष यवगाव परिपस्वजाना अनुस्फुर शरमर्धन्पुमम् ।

शरमस्मद्यावप दिष्टमिन्द्र ॥

—अथर्व० १. २ ३

इस मंत्र में धनुषकोटि पर प्रत्यक्षा चढ़ाना प्रस्तुत वर्ण्यविषय है। परन्तु परिपस्वजाना इस विशेषण से अप्रस्तुत स्त्रीपुरुष के आलिंगन का व्यवहार आरोपित प्रतीत होता है।

रूपक—

विध्य सुपर्णोऽयं बलि सोम ।

—ऋ० ९ ९७. ३३

एष वृषा कनिक्दशमि ।

—ऋ० ९ २८ ४

प्राह मृगाणां मातरमरभ्यानिमशसिषम् ।

—ऋ० १०. १४६ ६

मे सूर्य पर सुपर्ण, सोम पर वृषभ तथा अरण्यानी पर माता का आरोप होने से रूपक अलंकार का सौन्दर्य उभरता है।

अथर्ववेद में भी रूपक की इस विच्छित्ति की झाकी देखी जाती है जो ऋग्वेद से उद्भूत हुई, यथा—

तस्योवनस्य बृहस्पति शिरो ब्रह्म भुजम् ।

द्यावापृथिवी द्योते सूर्याचन्द्रमसावलिनी सप्तऋषय प्राणापाना ।

—अथर्व० ११. ३ १-२

ब्रह्माय शीर्षं बृहस्पतये शृणु वामदेव्यभुजमोदनस्य ।

द्योति पशो भुजमस्य सत्य विष्टारी आतस्तपसोऽग्नि यत् ॥

—अथर्व० ४. ३४. १

इन मन्त्रो मे ऋषि ने ओदन के सिर को बृहस्पति, मुख को ब्रह्म, छायापृथिवी को श्रोत्र, सूर्य-चन्द्र को नेत्र तथा सप्तर्षियो को प्राणापान कहकर सागरूपक का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है ।

रूपक के ऐसे प्रयोग से स्पष्ट है कि अथर्ववेद के समय तक ऋषि की अभिव्यक्ति मे आलंकारिकता की वृद्धि हो रही थी और वैदिक भाषा साहित्यिक विकास की ओर अग्रसर थी । ऋषि अपने मनोभावो को अलङ्कृत शैली मे व्यक्त करने लगे थे ।

उत्प्रेक्षा—

ऋग्वेद मे उपावर्णन मे जहा उपमा के सुन्दर उदाहरण हैं, वहा उत्प्रेक्षा की भी विच्छित्ति दर्शनीय है, जैसे—

एषा ध्येनो भवति द्विर्हृत् ।

धृतस्य पचानमन्येति ताषु प्रजागतीव ॥

—ऋ० ५ ८०. ४

मे उपापर ध्येनी=शुभ्रवर्णा योषित् की सम्भावना की गई है । इसी प्रकार अथर्ववेद मे भी ऋषि ने उत्प्रेक्षा के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति को प्राजल रूप प्रदान किया है, जैसे—

दिव्य सुपर्णं स धीरो व्यस्यददिते पुत्रो भुवनानि विधा ।

—अथर्व० १३ २ ९

श्येनो नृचक्षुः शिव्य सुपर्णः सहस्रपाङ्क्तयोनिर्धयोधाः ।

—अथर्व० ७ ४१ २

यहा अरुणवर्णं उज्ज्वल सूर्य पर पक्षी की कल्पना की गई है ।

आपो विद्युदभ्रं वर्षं सं वोध्वन्तु सुवानव उत्सा अजगरा उत ।

मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः प्रावन्तु पृथिवीमनु ॥

—अथर्व० ४ १५ ९

यहा उत्प्रेक्षा की सुन्दर छटा है, क्योंकि वर्षा की स्थूल धाराओ की अजगर के रूप मे उत्कृष्ट कल्पना की गई है ।

० ३.२ वेदों में गुण

माधुर्य—

उब् वय तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम् ।

देव देवता सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥

—ऋ० १ ५०. १०

सुमङ्गलीरिष बधूरिमा सजेत परमत ।

सौभाग्यमस्य दत्त्वायाऽथास्त वि परेतन ॥

—ऋ० १० ८५ ३३

स्वादो स्वादीय स्वादुना मृजा समद. सु मधु मधुनाभि योधी ।

—अथर्व० ५ २ ३

तत सन्तुमन्येके तरन्ति० ।

—अथर्व० ६ १२२. २

मधोरस्मि मधुतरो मधुघान्मधुमत्तर ।

मामित् किस एव धना शाखा मधुमतीमिव ॥

—अथर्व० १ ३४ ४

महद्भि प्रच्युता मेघा वर्षन्तु पृथिवीमनु ।

आसामाशा वि द्योतता वाता दान्तु विशो विश ॥

—अथर्व० ४ १५ ७८

ऊपर उद्धृत मन्त्रों में श्रुतिमुपद तथा समास-रहित कोमल पदों का प्रयोग होने के कारण माधुर्य गुण है। इस गुण से इन मन्त्रों में नादमीन्दर्य तथा सुस्वरता में वृद्धि हुई है।

श्रौज—

स हि शार्धो न मारुत तुविष्वगिरप्नस्यतीपूर्वरात्रिष्वष्टनिरातर्नास्त्रिष्टनि ।

आवदध्यान्पावदियंसस्य केतुरर्हणा ।

अथ स्मास्य ह्यंतो हृषीयतो विश्वे जुषन्त पन्था नर शुभे न पन्थाम् ।

—ऋ० १. १२३. ६

हस शुचिपद्मसुरन्तरिक्षमद्भोता वेदिषदनिचिदुरोगसत् ।

मृषद्भरतदुतसद् व्योमसदग्जा भोजा ऋतजा अग्निजा ऋतम् ॥

—ऋ० ४ ४० ५

हिरण्यभृङ्ग ऋषभ शतवारो अय मणि ।

दुर्गाग्नि सर्वास्तृङ्गवाच रसात्यग्रमीत् ॥

—अथर्व० १९ ३६ ५

उतारव्यान्तस्पृणहि जातवेद उतारेभाणां ऋष्टिभिर्यातुघानान ।

—अथर्व० ८ ३ ७

इन मन्त्रो मे बिकट पद-योजना, कठोर वर्णों तथा जटिल पदसंघटना के कारण ओज गुण है ।

प्रसाद—

न नूनमस्ति नो इव कस्तद्वेव परदभुतम् ।

अन्याय जितमग्नि सचरेण्यमुताघोत वि नश्यति ॥

—ऋ० १ १७० १

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।

यव भद्र तन आसुव ॥

—ऋ० ५ ८२ ५

स न पिता जनिता स उत बभ्रुर्घामानि वेद भुवनानि विश्वा ।

पो देवाना नामद्य एक एव त सप्रयन भुवना यन्ति सर्वा ॥

—अथर्व० २ १ ३

परितच्छति चरति यस्य बभ्रुवति पो विनाप चरति य प्रतद्वुम ।

द्वौ तानिपद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद वेद वरुणस्तृतीय ॥

—अथर्व० ४ १६ २

स्तुता मया वरदा वेदमहता प्र चोदयन्ता पाथमानी द्विजानाम ।

आयु प्राण प्रजा पशु कीर्ति द्रविण ग्रहवर्चसम् ।

महा दत्त्वा वज्रत ब्रह्मलोकम् ॥

—अथर्व० १९ ७१ १

उपर्युक्त मन्त्रो मे सरल पद योजना है जिससे अर्थ की अनायास प्रतीति होती है, अतः यहा प्रसाद गुण है ।

० ३ ३ वेदों मे रीति

वैदर्भी—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिषा बद्धो वृषभो रोरवोति महो देवो मर्त्यं आ विवेका ॥

—ऋ० ४ ५८ ३

स गच्छत्व स वदथ्य सं धो मनासि जानताम् ।
देवा भाग यथा पूर्वं सजानाना उपासते ॥
समानो मन्त्र समिति समानो समान मनः सह चित्तमेवाम् ।
समान मन्त्रमभि मन्त्रये च समानेन धी हविषा जुहोमि ॥
समानो च आकूति समाना हवयानि च ।
समानमस्तु धो मनो यथा च नुसहासति ॥

—ऋ० १०. १९१ २-४

अनुव्रत धितु पुत्रो मात्रा भवतु सयना ।
जामा पात्रे मधुमतीं वाच वदतु शन्तिवाम् ।
मा आता आतर विक्षम्भा स्वसारमुत स्वसार ।
सम्भ्यञ्च सद्यता धूःवी वाच वदत भद्रया ॥

—अथर्व० ३ ३० २-३

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापति ।
प्रजापतिवि राजति विराड्ब्रह्मोऽमवद् वशी ॥
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा शब्दं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥
ब्रह्मचर्येण वन्या युवान विन्दते पतिम् ।
घनइवान् ब्रह्मचर्येणारो घात जिगीर्षति ।
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाप्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्य स्वराभरत् ॥

—अथर्व० ११ ५ १६-१९

गीटी—

दृष्ट्वा चिदस्मा अनु कुर्षया विवे तेजिष्ठामिर-
रणिमिर्वाष्टपवसेऽनये दाष्टचवसे ।
प्र यं पुरुणि गाहते तक्षद् वनेष शोचिषा ।
स्मिरा चिदन्ना नि स्मिरात्योजसा नि स्मिराणि चिरोजसा ॥

—ऋ० १ १२७ ४

धेर विकृत्यमाना पौत्राद्य विमाल्यमाना
 देवहेतिर्ह्रियमाणा ध्वृद्धिर्हता
 पाप्मापिघोषमाना पाह्व्यमवघोषमाना
 विष प्रयस्यन्तो तवमा प्रयस्ता
 अद्य पच्यमाना दु प्वज्य पववा
 मूलबर्हणी पर्याक्रियमाणा सिति पर्याकृता
 असता सन्धेन शुषुर्दम्रियमाणाशोविष उद्धृता
 अमूर्तिरुपरिह्रियमाणा परामूर्तिरुपहृता
 शर्वं क्रुद्ध पिश्यमाणा शिनिद्या पिशिता
 अर्वातिरश्यमाना निहूर्तिरशिता
 अशिता लोकाच्छिन्नसि बह्मगवी ब्रह्मश्यमस्माच्चामुष्माश्च ॥

—अथर्व० १२५ (४) २८-३८

पाचाली—

इव श्रेष्ठ ज्योतिषा ज्योतिरागाच्चित्र प्रकेतो अजनिष्ट विष्वा ।
 यमा प्रसूता सवितु सवार्यं दृषा रात्र्युपसे योनिमारक ॥

—ऋ० १. ११३ १

अन्ने नय सुयया राये अस्मान्विश्वानि देव वपुनानि विद्वान् ।
 युयोध्यस्मज्जुहुरागमेनो भूमिष्ठा ते मम उक्ति विधेम ॥

—ऋ० १ १८९. १

सुत्रामाण पृथिवीं घामनेहस सुशर्माणमर्दितं सुप्रणीतिम् ।
 रंवीं नाव स्वरित्रायनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥

—ऋ० १०. ६३ १०

सत्येनोत्तम्बिता भूवि सूर्येनोत्तम्बिता द्यौ ।
 ऋतेणद्विग्यास्निच्छन्ति दिवि सोमी अग्नि अत्रि ॥
 सोमेनादित्या बलिन सोमेन पृथिवी सहो ।
 अद्यो नक्षत्राणामेयामुपस्ये सोम आहित ॥

—अथर्व० १४ १ १-२

तस्माद् यत्तात् सव्यहृत ऋच सामानि जतिरे ।
 इन्द्रो ह जतिरे तस्माद् यदुस्तस्मादनायत ॥

तस्माद् यज्ञात् सर्वहृत् समृत् पृथदाज्यम् ।
 पशूस्तारुचक्रे वायव्यानारण्या प्राभ्याश्च ये ॥
 सप्तास्यासन् परिधयस्त्रि सप्त समिध कृता ।
 देवा यज्ञं तन्वाना अवघ्नन् पुरय यशम् ॥
 भूर्धनो देवस्य बृहतो अश्व सप्त सप्तती ।
 राज सोमस्याजायन्त जातस्य पुरयादधि ॥

—अथर्व० १९ ६ १३-१६

० ३ ४ वेदों में इन्दि

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्, देवो देवान्यतुना पर्यभूयत् ।
 यस्य शुष्माद्रोरमो अभ्यसेता मृगस्य मङ्गा स जातास इन्द्र ॥

—ऋ० २.१२ (इन्द्रसूक्त) १

यहा जात एव में पदगन इन्दि है । इन्द्र ने उत्पन्न होते ही वह सामर्थ्य प्राप्त किया कि वह सभी देवताओं का राजा बन गया । बाद में तो कोई भी अपनी शूरता-वीरता में राज्य प्राप्त कर सकता है । पर इन्द्र तो उत्पन्न हात ही देवताओं का प्रधान बन गया । इस प्रकार एव शब्द ने इन्द्र के सामर्थ्य को अन्य की सामर्थ्य से पृथक् करके उसके माहात्म्य को द्योतित किया है ।

इसी प्रकार—

परा हि मे विमन्यथ पतन्ति वस्य इष्टये ।

वयो न वमनीरय ॥

—ऋ० १ २५ (वरुणसूक्त).४

इस मन्त्र में शुन शेष द्वारा वरुण की स्तुति की जा रही है । उपमालकार द्वारा ऋषि ने यहा बताया है कि जिस प्रकार मायवान में पक्षिगण जीवनकल्याण की भावना में स्वत ही घूमने की ओर दौड़ते हैं, इसी प्रकार वरुण की भक्ति होने पर मुख्यमय जीवन मेरी ओर स्वत दौड़ा जाता है । इससे तात्पर्य निकला कि वरुण की भक्ति मुख्यमय जीवन प्रदान करने वाली है । अत वरुण ही मेव्य है ।

इसी प्रकार—

पुरय एवेद तव यत्भून् यच्च भव्यम्

उतापृतत्वस्येमानो यदन्नेनानिरोहन्ति ।

—ऋ० १०.९० (पुरयसूक्त).२

इस मन्त्र में भाविक अलंकार वाच्य तथा उससे 'सम्पूर्ण' विश्व परमात्मरूप ही है। दृश्यमान जगत् तो एकमात्र जीवों के फलभोग के लिए परमात्मा द्वारा स्वशक्तिविरचित है, यह व्यंग्य है।

०३५ वेदों में ओचित्य

इन्द्रो मातोऽवतिरस्य राजा शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहु ।

सेतु राजा क्षयति चर्यणोनामरान् न नेमि परि ता बभूव ॥

—ऋ० १.३२ (इन्द्रसूक्त) १५

यहा वज्रबाहु विशेषण इन्द्र के लिए है। कितना ही बलवान् भी रिक्त-हस्त भला शत्रुओं का प्रतिरोध कैसे करे, और कौन उससे डरे, पर साधारण व्यक्ति भी यदि चमकीले शस्त्र को धारण कर मैदान में आ जाय तो उसके सामने कौन डटे। यहा भी ऋषि इसी हेतु इन्द्र के हाथ में वज्र देना चाहता है जिससे पर्वत भी उससे काप उठे। अतः उचित स्थान पर प्रयुक्त यह विशेषण इन्द्र की विशेषता तो बता ही रहा है, साथ ही अर्थ में भी एक नूतन चमत्कृति प्रदान कर रहा है। अतः यहा विशेषणीचित्य है।

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीम कुचरो गिरिष्ठा ।

पस्योरुषु त्रिषु विज्रमहोष्वधिलिप्यन्ति भुवनानि विश्वा ॥

—ऋ० १.१५४ (विष्णुसूक्त).२

यहां विष्णु के पराक्रम का वर्णन करते हुए ऋषि ने उसकी उपमा के लिए मृग (सिंह) को रखा है। वह भी साधारण नहीं अपितु पूरे बल के साथ, और उसकी सहायता की भीम, कुचर, गिरिष्ठा ने। भयंकर जंगल तथा ऊंची पहाडियों पर अपने पौरुष से एकछत्र राज्य करने वाले शेर के प्रताप को कौन नहीं मानता? इसी प्रकार अपने शत्रुओं की छाती पर भूँस दलने वाले विष्णु के पराक्रम को कौन नहीं जानता? इसको बलपूर्वक प्रद्योतित करने के लिए उचित स्थान पर प्रयुक्त यह उपमेय-उपमानभाव अर्थस्फुटता के साथ चमत्कृति भी पैदा कर रहा है, अतः यहा अलंकारोचित्य है।

१.१. वस्तुनिर्देश

अलंकार कवि की उक्ति को सुन्दर बनाता है। इसके प्रयोग से शब्द-अर्थ इस प्रकार सौन्दर्य से खिस उठते हैं जिस प्रकार वसन्त ऋतु के स्पर्श से शुष्क वृक्ष। ऋग्वेद से प्रारम्भ कर अद्यावधि सम्पूर्ण साहित्य में अलंकारों का प्रयोग हुआ है। अलंकार कवि के भाव को सुन्दर बनाने के साथ उसे सहृदय के हृदय में प्रतिबिम्बित भी करते हैं। 'मनुष्य आयु की वृद्धि के साथ बूढ़ा होकर मर जाता है', यह कथन न तो कला की दृष्टि से सुन्दर है और न ही इस कथन में विम्बग्राहकता है। परन्तु उपमा अलंकार के प्रयोग में उपनिषद् का ऋषि इसी भाव को न केवल रमणीय रूप में उपस्थित करता है, अपितु उपयुक्त तुलना से इस भाव को पाठक के हृदय में भी उतार देता है—'सस्यमिव नर्यं पच्यते' जैसे सस्य पक जाता है वैसे ही मनुष्य भी। मनुष्य की सस्य से तुलना कितनी उपयुक्त है। प्रतिदिन हम सस्य को पकते तथा नष्ट होते देखते हैं। इसी प्रकार हमारे सामने मैकड़ों, हजारों व्यक्ति सस्य के समान पक कर जीर्ण हो जाते हैं, मर जाते हैं। इसी प्रकार महद्गुरु वसुधैव कुटुम्बकम् में ब्रह्म की वज्र से तुलना करके ब्रह्म की शक्तिमत्ता तथा प्रभावशालिता के अर्थ का ध्वनिनाद के साथ प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार भाषा को अलंकृत करने तथा भाव के विम्ब को उतारने के लिए अलंकारों का महत्त्व है। इसी कारण जब से काव्य की मृष्टि हुई, तभी से उसमें सहज रूप में ही अलंकार का उन्मेष हुआ।

काव्य की महत्त्वपूर्ण सम्पदा, इन अलंकारों को परवर्ती साहित्य-शास्त्रियों ने तीन वर्गों में विभाजित किया— (१) शब्दालंकार, (२) अर्थालंकार, तथा (३) उभयालंकार। और, अलंकार का लक्षण किया—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये वर्गाः शोभातिशायिनः ।

रसादीनूपकुर्यन्तोऽलंकारास्तेऽदगदादिवत् ॥

—सा० द० १० १

१-२. शब्दालंकार

विश्वनाथ के अनुसार शब्दालंकार वे हैं, जो शब्दपरिवृत्त्यसह होते हैं अर्थात् किन्हीं विशेष शब्दों के रहने पर ही जो अलंकार रहते हैं। और उन विशेष शब्दों को बदल कर यदि उनके स्थान पर उनके पर्यायवाचक अन्य शब्द रख दिए जाए तो उन अलंकारों की स्थिति नहीं रहती। वे अलंकार उन विशेष शब्दों के ही आश्रित होने से शब्दालंकार कहलाते हैं, जैसे—अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि। इन शब्दालंकारों में शब्दविशेष के उसी रूप में बने रहने पर ही अलंकार रहता है, शब्द परिवर्तन करने या उसका समानार्थक अन्य शब्द उसके स्थान पर प्रयोग करने से अलंकार नहीं रहता। जैसे—स वेद्या विवधे नूनम्^१ में वकार तथा धकार वर्णों की समानता से अनुप्रास अलंकार है। यहाँ वेद्या शब्द का समानार्थक प्रजापति शब्द उसके स्थान पर प्रयोग करने से वर्णसाम्य न रहने के कारण अनुप्रास अलंकार नहीं होगा। अतः वेद्या विवधे इन शब्दों का इसी रूप में प्रयोग होने से ही अनुप्रास अलंकार है। इस प्रकार शब्द परिवृत्ति सहन न कर सकने के कारण अनुप्रास शब्दालंकार है।

१ २ १ अनुप्रास

अनुप्रास अलंकार से काव्य में नाद-सौन्दर्य उत्पन्न होता है। ऋग्वेद में लेकर आधुनिक साहित्य तक में अनुप्रास का प्रचुर प्रयोग देखने में आता है। समान वर्णों की आवृत्ति से विलक्षण ध्वनि सौन्दर्य उत्पन्न होता है जिसमें अर्थ का ज्ञान न होने पर भी श्रोता समान वर्णों के उच्चारण में प्रभावित हो जाता है। अनुप्रास की व्युत्पत्ति है—अनु—रमानुगत, प्र—प्रवृष्ट, न्यास—अनुप्रास अर्थात् रमादि के अनुबल वर्णों का प्रवृष्ट सन्निवेश अनुप्रास अलंकार है। अनुप्रास में स्वरों का भेद होने पर भी केवल व्यञ्जनों की समानता ही अभिप्रेत है।

विश्वनाथ ने अनुप्रास का लक्षण करते हुए लिखा है—

अनुप्रासः शब्दसाम्यं येषाम्बेजिष्वरस्य मत् ।

—सा० द० १० ३

अनुप्रास के पांच भेद किए गए हैं—

छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास तथा लाटानुप्रास ।

उपनिषदों में अनुप्रास के अनेकानेक उदाहरण उपलब्ध हैं । कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

छेकानुप्रास—

छेको व्यजनस्यस्य सहृत्तान्मन्त्रैकधा ।

—सा० द० १०. ३

निम्नलिखित मन्त्रों में व्यजनस्य की एक या अनेक बार आवृत्ति के कारण छेकानुप्रास अलंकार है—

स पर्यगाच्छुक्कमकाशमग्नमन्माधिर शुद्धमपावविद्धम् ।

ऋविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्मायाजभ्यतोऽयान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाम्य ॥

—ईश० १ ८

न तत्र चञ्चुर्गच्छति न बाणच्छति नो मम ।

न विष्णो न विजानीमो पर्यनदनुशिष्याम् ॥

—केत० १. ३

अनुपश्य मया पूर्वं प्रतिपश्य तयाऽपरे ।

सम्यग्मित्र मर्त्यं पश्यते सम्यग्मित्राऽऽजायते पुन ॥

—कठ० १ ६

त्रिधाविकेतस्त्रिभिरेव सन्धि त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यु ।

अहजत देवमीदृश त्रिदित्वा निवाभ्येना शान्तिमत्यन्तमेति ॥

—कठ० १. १७

यत्र सुप्तो न वञ्चन कानं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् ।

सुषुप्तस्यान एकीभूतः श्रजानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभृक् चेतोमुख प्राज्ञस्तृतीयः

पादः ॥

—मा० ५

द्वे वाच ब्रह्मणो रूपे मूर्ते चैवामूर्ते च भर्त्ये चामूर्त च स्थित च पञ्च सञ्च
त्यञ्च ॥ — बृ० २. ३. १

याज्ञवल्क्य किज्योतिरय पुरुष इति । आदित्यज्योतिः सन्नाडिति होषाच ।
आदित्येनेधाय ज्योतिषाऽऽस्ते पत्ययते कर्म कुरुते विपश्येतीति । एवमेवंतद्वाज्ञवल्क्य ॥
— बृ० ४ ३ २'

वृत्त्यनुप्रास—

अनेकस्यैकया साम्यमसकृद् वाच्यनेकया ।

एकस्य सकृदप्येव वृत्त्यनुप्रास उच्यते ।

—सा० ६० १० ४

निम्नलिखित मन्त्रों में एक व्यजन की एक बार या अनेक
बार अथवा अनेक व्यजनों की एक बार या बार-बार आवृत्ति होने
से वृत्त्यनुप्रास अलंकार है ।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यस्यैवामूर्त विजानतः ।

तत्र वो मोह क शोक एतत्त्वमनुपश्यत ॥

—ईश० ७

अथ तम प्रविशन्ति वेऽविद्यामुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रता ॥

—ईश० १२

केनेपि पतति प्रेषित मन केन प्राण प्रथम प्रीति युक्त ।

केनेपिता वाचमिमो वदन्ति क्षुधोन्न क उ देवो युनक्ति ॥

—केन० १ १

इमा रामा सरथा सतूपा न हीवृक्षा सम्मनीषा मनुष्यै ।

आभिर्मन्त्रतामि परिचारयस्व नविजेतो मरुण माऽनुप्राधी ॥

—वठ० १ २५

आदित्यो ह र्य प्राणो रयिरेव चन्द्रमा ।

रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च । तस्मान्मूर्तिरेव रयि ॥

—प्रश्न० १ ५

कामान् य कामयते मन्यमान स काममिर्वायते सन्न तत्र ।

पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥

—मु० ३ २. २

एष सर्वेश्वर । एष सर्वज्ञ । एषोऽन्तर्यामी । एष धोनि सर्वस्य ।

प्रमदाप्ययौ हि भूतानाम् ॥

—मा० ६

भूगुर्वे वासुधि । वरुण पितरमुपससार । ... । त होमाश्च—यतो वा

इमानि भूतानि जायन्ते येन जानाति जीवन्ति । यत्प्रयन्यमित्त-
विशन्ति । तद्विविशिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति । स तपोऽप्यज स

तपस्तपसा ॥

—तै० ३ १. १

सर्वकर्मा सर्वकाम सर्वगन्ध सर्वरस सर्वमिदमभ्यातोऽबाधयमावर --

शाण्डिल्य ॥

—छा० ३. १४. ४

किं कारण ब्रह्म कुत स्म जाता जीवाम केन बह द्य सप्रतिष्ठा ।

अधिष्ठिता केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥

—श्वे० १. १

घृणासि यथा कृतवो व्रतानि भूत यम्य यच्च वेदा वदन्ति ।

अस्मान् मायी सुजते विश्वमेतत् तस्मिन्चाग्यो मायया सन्निरुद्ध ॥

—श्वे० ४ ९^१

लाटानुप्रास—

सम्भार्ययो पौनरुक्त्य भेदे तात्पर्यमाव्रत ।

लाटानुप्रास इत्युक्त ... ॥

—सा० ६० १०. ७

शब्द और अर्थ की पुनरुक्ति होने पर अन्वयमात्र से तात्पर्य में भेद हो जाने के कारण निम्नलिखित मन्त्रों में लाटानुप्रास अलंकार है—

नाहं भग्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।

द्यौ नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥

—केन० २ २

१. अन्वय द्रष्टव्य — ईश० १.६; केन० १-१, १-५, १-६; केन० २.३, कठ० १.१४, १.१७, १. २०, १ २१, १.२४, १.२६-२६, २.८, २. १३, २.१६, २ २०; मु० १.२.४, ३.१-१; मा० ५. ११, श्वे० १. १, १-६, १.६, १.१६, २.२, २ ४, २ १०, ३ २, ४.१०. ४.१२, ५.६, ६.१०, ६.१४ ।

यहा तदवेद-तदवेद तथा वेद-वेद समानार्थक पदों की पुनरावृत्ति है, किन्तु एक वेद का न के साथ अन्वय कर देने से तात्पर्य में भेद हो जाता है। यथा, तद् न वेद, तदवेद य च वेदेति न वेद अर्थात् 'जो उसे नहीं जानता वही जानता है और (जो कहना है) मैं उसे जानता हूँ वह नहीं जानता।' तात्पर्य यह है कि जो ईश्वरविषयक ज्ञान का अभिमान करता है, वह वस्तुतः उसे नहीं जानता, और जो ऐसे अभिमान से अलिप्त है वह उसे जानता है।

अन्त्यानुप्रास—

व्यञ्जन शेषवाक्यस्य सहाय्येन स्वरेण तु ।

भावार्थोत्पत्त्ययोग्यत्वादन्त्यानुप्रास एव तत् ॥

—सा० द० १० ६

पहले स्वर के साथ ही यदि यथावस्थ व्यञ्जन की आवृत्ति हो, तो वह अन्त्यानुप्रास कहाता है। यथा—

यथादसौ तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके ।

यथाप्सु परीव बहुसे तथा गन्धर्वलोके ध्यामानपयोरिव ब्रह्मलोके ॥

—कठ० ६ २

एवम्,

इन्द्रियेभ्य पर मनो मनस सत्त्वमुत्तमम् ।

सत्त्वावधि महानात्मा महतोऽप्यवतमुत्तमम् ॥

—कठ० ६. ७

यहा प्रथम मन्त्र के अन्त में लोके, लोके तथा द्वितीय मन्त्र के अन्त में उत्तमम्, उत्तमम् पदों की समानता से अन्त्यानुप्रास है।

श्रुत्यनुप्रास—

उष्त्वायंत्वापदेनैव स्थाने तानुरवादिने ।

सादृश्य व्यञ्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते ॥

—सा० द० १०. ५

तालु, कण्ठ, मूर्धा, दन्त आदि किसी एक स्थान में उच्चरित होने वाले व्यञ्जनो की (स्वरो की नहीं) समता को ध्रुत्यनुप्रास कहते हैं। यथा—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभानि सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

—कठ० १ १५

इस मन्त्र में तालव्य त और स तथा ओष्ठ्य ष, शौच म वणा की आवृत्ति होने के कारण ध्रुत्यनुप्रास अलकार है।

१२२. यमक

अनुप्रास में व्यञ्जनो की आवृत्ति होती है तो यमक में स्वर-व्यञ्जन-समुदाय की आवृत्ति होती है। परन्तु, यह आवृत्ति उसी क्रम से होनी चाहिए। उसी क्रम की आवृत्ति न होने पर यमक नहीं होगा। आवृत्त वर्ण-समुदाय का एक अक्ष या सर्वाक्ष या तो निरर्थक होना चाहिए और यदि वह सार्थक है तो उसका भिन्न अर्थ होना चाहिए। इस प्रकार बसो मोद में आवृत्ति होने पर भी रमभेद के कारण यमक नहीं है, तथा सर सर में यदि दोना स्यसो पर तालव्य यह एक ही अर्थ है तो क्रम से सर की आवृत्ति होने पर भी भिन्नार्थ न होने से यमक नहीं है।

विश्वनाथ ने यमक का लक्षण दिया है—

सत्यर्थे पृथगर्थाणां स्वरव्यञ्जनसहो ।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥

—सा० द० १० ॥

यथा—

विद्या चाविद्या च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्याया मृत्युं तोर्त्वा विद्यायाऽमृतमश्नुते ॥

—ईश० ११

इस मन्त्र में विद्याम्, विद्याम् दो पदों की आवृत्ति है, किन्तु प्रथम विद्याम् पद सार्थक तथा द्वितीय विद्याम् पद अकार के बिना निरर्थक

होने से सार्थक और निरर्थक पदों का यमक है। इसी प्रकार द्वितीय पाद में विद्यया, विद्यया की आवृत्ति में प्रथम पद निरर्थक तथा द्वितीय सार्थक होने के कारण यमकालकार है।

यस्यामत सत्य मत मत यस्य ॥ वेदम् ।

अविज्ञात विज्ञानता विज्ञातमविज्ञानताम् ॥

—केन० २ ३

यहा अविज्ञातम्, विज्ञातम् में विज्ञातम्, विज्ञातम् तथा विज्ञानताम्, अविज्ञानताम् में विज्ञानताम्, विज्ञानताम् पदों की आवृत्ति होने से यमकालकार है।

विशेष—अमतम् मतम् में मतम्-मतम् की ही, निरर्थक और सार्थक वर्णों की आवृत्ति के कारण यमकालकार प्रतीत हो रहा है, परन्तु तृतीय मतम् को यमक में परिगणित नहीं किया जा सकता क्योंकि वह द्वितीय मतम् में भिन्नार्थक नहीं। अतः प्रथम पक्ति में विरोधाभास अलकार मानना उचित होगा। केवल द्वितीय पक्ति में ही सार्थक और निरर्थक स्वर-व्यंजन-समुदाय की उसी क्रम से आवृत्ति के कारण यमकालकार है।

तदेतदिति भव्यन्ते निर्वर्णं परम सुखम् ।

कथं नु तद्विजानीया किमु भाति विभाति वा ॥

—कठ० २. १४

यहा भाति भाति में सार्थक और निरर्थक वर्णों की आवृत्ति होने से यमकालकार है।

यदेतद् हृदय मनश्चैतत् । सज्जानमाज्ञान विज्ञान प्रज्ञान मेधा बुद्धि-
धृतिर्नित्यमनीषा जूति स्मृति ... नामधेयानि भवन्ति ॥

—ऐत० ३ १. २

यहा तीन धार ज्ञान की आवृत्ति हुई है, जो कि स्वर और व्यंजन की समानता रखते हुए भी, तीनों धार निरर्थक होने के कारण यमकालकार है।

एषां मतानां पृथिवी रस, पृथिव्या आपो रस,
अपाभोषण्यो रस, ओषधीनां पुरुषो रसः,
पुरुषस्य धारसो, वायु अग्रतः, अर्च साम रस,
साम्न उद्गीषो रस ॥

—छा० १. १. २

यहा रस पद की सार्थक रूप से अनेक बार आवृत्ति होने पर भी प्रत्येक बार आश्चर्य, कारण, सार, कान्ति आदि भिन्नार्थ करने पर यमकालंकार है ।

सर प्रधानममृतासर हर क्षरात्मानावीशते देव एक ।

सत्याभिध्यानाद्येजनात्तत्त्वभावाद् मूयश्चान्ते विश्वमापानिवृत्ति ॥

—श्वे० १ १०

यहा क्षरम्, क्षरम् मे सार्थक और निरर्थक वर्णों की आवृत्ति के कारण यमकालंकार है ।

य एको जालबालीशत ईशनीभि सर्वास्तोकातीशत ईशनीभि ।

य एवैक उद्भवमे सम्भवे च य एतद्विरुद्धतास्ते भवन्ति ॥

—श्वे० ३. १

इस मन्त्र के प्रथम भाग में ईशनीभि पद की आवृत्ति है, जो कि सार्थक होने पर भी शांकरभाष्य के अनुसार ईशनीभिः (स्वशक्तिभिः), ईशनीभिः (परमशक्तिभिः)—भिन्नार्थक है । अतः भिन्नार्थक रूप से ईशनीभि की आवृत्ति मानने से यहा यमकालंकार होगा । मन्त्र के द्वितीय भाग में उद्भवे सम्भवे मे भवे भवे शब्दों ने निरर्थक वर्णों की आवृत्ति मानने से यमकालंकार है ।

१ २ ३ वक्रोक्ति

वक्र—कुटिल तथा विचित्र, उक्ति कथन वक्रोक्ति है । यद्यपि वक्र वचन सभी अलंकारों का मूल है, जैसा कि भागह ने कहा है—

संपा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाष्यते ।

यतोऽस्या कविना कार्य कोऽलंकारोऽनया विना ॥

—का० अ० २. ८५

फिर भी खट्ट के समय से वक्रोक्ति को पृथक् अलंकार का स्थान मिला है । भागह की वक्रोक्ति, जिसके आधार पर कुन्तक ने स्वतन्त्र वक्रोक्ति-सिद्धान्त की स्थापना की, परवर्ती अलंकारयुग में सीमित होकर अनुप्रास, यमक आदि के समान साधारण अलंकार मात्र रह गई ।

वक्रोक्ति में श्रोता द्वारा वक्रता के अन्यायक वाक्य को श्लेष या काकु के द्वारा किन्हीं अन्य अर्थ में ग्रहण कर लिया जाता है। इसी वक्रता में वक्रोक्ति का सौन्दर्य है। इसकी गणना शब्दालंकारों में की जाती है, क्योंकि इसमें शब्द परिवृत्त्यसह होते हैं।

विश्वनाथ ने वक्रोक्ति का लक्षण किया है—

अन्यस्यान्यार्थक वाक्यमन्यथा योजयेत्तदि ।

अन्य श्लेषेण वाच्यं वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा ॥

—सा० द० १० ९

वक्रोक्ति के मूल में श्लेष या काकु होता है, अतः वक्रोक्ति दो प्रकार की हो जाती है—(१) श्लेष-वक्रोक्ति और (२) काकु-वक्रोक्ति।

काकु-वक्रोक्ति—

शब्द से तात्पर्य भिन्न कण्ठ-स्वनि से है। जहाँ गले की आवाज से अर्थ में परिवर्तन किया जाए, वहाँ काकु-वक्रोक्ति अलंकार होता है। यथा—

स ईलन वध निवद भद्रते स्यादिति स ईषर कनरेण प्रपद्या इति । स ईलन यदि वाचाऽभिप्राह्यत यदि प्राणैर्नाभिप्रापिन यदि चक्षुषा दृष्ट यदि धोत्रेण स्नु यदि त्वचा स्पर्श यदि मनसा ध्यात यद्यपानेनाभ्यपानिन यदि शिरसेन विमृष्टमथ बोधमिति ।

—ऐत० १ ३. ११

इस मन्त्र के बोधमिति (मैं कौन हूँ?) भाग में कण्ठस्वनि से कुछ नहीं अर्थ की प्रतीति हाने में काकुवक्रोक्ति अलंकार है। इसी प्रकार,

न स्थिदेतेऽप्युच्छिद्यता इति । न वा अत्रोचित्यभिमानादन्निनि होषाथ ।

—छा० १ १० ४

यहाँ न स्थिद एते अपि उच्छिद्यता का मोघा अर्थ में (हुत्माप) उच्छिद्य नहीं है इन प्रकार है, किन्तु कण्ठ स्वनियों के परिवर्तन में क्या वे हुत्माप उच्छिद्य नहीं हैं? अर्थात् हैं इस अर्थ-परिवर्तन के कारण काकु-वक्रोक्ति है।

१.२.४. श्लेष

प्रायः सभी भाषाओं में एक वैचित्र्य है कि उनमें विभिन्न अर्थों के द्योतक कुछ न कुछ शब्द पाए जाते हैं। जो शब्द पहिले किसी विशेष अर्थ का बोधक होता था, वही कालान्तर में किसी अन्य अर्थ का बोधक हो जाता है। इस प्रकार एक ही शब्द अनेकार्थक बन जाता है। अलंकारशास्त्र में शब्द को इस अनेकार्थबोधक विच्छिन्नता को श्लेष अलंकार माना जाता है। इस अलंकार की शोभा इस बात में है कि एक ही कथन में अनेक अर्थों की प्रतीति हो। एक शब्द से अनेक अर्थों का बोध इस अलंकार में वैचित्र्य लाता है। इस प्रकार यह अलंकार मौलिक रूप में अन्य अलंकारों में भिन्न है।

श्लेष की व्युत्पत्ति है—रित्येते अर्थावस्मिन्निति श्लेषः। श्लिप् का अर्थ है—चिपकना, मिनना, जुड़ना। इस अलंकार में एक शब्द में अनेक अर्थ चिपके रहते हैं। ये कभी जतुकाष्टन्याय में तथा कभी एकवृत्तगत-फलद्वयन्याय से जुड़ते हैं। अतः श्लेषण (चिपकने) के कारण इस अलंकार को श्लेष कहा जाता है।

मामह ने अप्रत्यक्ष रूप में श्लिष्ट नाम में श्लेष को स्वीकार किया है। तदनन्तर, दण्डी ने श्लेष का काव्यगुण तथा अलंकार के रूप में प्रतिपादन किया। उद्भट ने भी इसे श्लिष्ट नाम से स्वीकार किया। सर्वप्रथम बामन ने श्लेष नाम का प्रयोग किया है। तत्पश्चात् रघुट, रुय्यक, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने इसे मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है।

श्लेष अलंकार का महत्त्व इस बात में है कि यह रूपक, समासोक्ति आदि अनेक अलंकारों के भूत में विद्यमान रहता है। यह उपमा के समान स्वतन्त्र होने पर भी सकल अलंकारों का अनुग्राहक होने के कारण कवि के कथन में नवीन शोभा का आधान करता है। दण्डी ने श्लेष के महत्त्व को प्रकट करते हुए कहा है—

श्लेषः सर्वाणि पुष्पाति प्रायः वक्रोक्तिषु धियम् ।

—काव्यादर्श २. ३६३

दिश्वनाथ ने श्लेष का लक्षण निम्न प्रकार से किया है—

क्षिप्यं पदरेखाभिधाने श्लेष इष्यते ।

—सा० द० १०. ११

श्लेष के प्रथम दो भेद हैं—शब्दश्लेष और अर्थश्लेष । शब्द-श्लेष के भेद हैं—समगश्लेष, अमगश्लेष, उभयश्लेष । प्रकृति, प्रत्यय आदि के भेद से परवर्ती आचार्यों ने शब्दश्लेष के अनेक भेदोपभेदों का विवेचन किया है । कुछ उदाहरण देखें—

स तस्मिन्नेवाकारो स्थियमाजगाम बहुशोभमानामुभां हैमवतीं तां
होवाच शिमेतद् यक्षमिति ॥

—केन० ३. १२

इस मन्त्र में हैमवती शब्द में एकवृत्तगतफलद्वयन्याय से (१) हिमालय की पुरी तथा (२) स्वर्णमयी, इन दो अर्थों की प्रतीति होने में शब्दश्लेष अलङ्कार है ।

अजामेवा लोहितगुक्तहृत्णा बह्वी अजा सुजमाना सत्पा ।

अजो ह्येको बुधमानोऽनुरोते जहात्येना भुक्तभोगामजोऽन्य ॥

—श्वे० ४. ५

इस मन्त्र में अजा शब्द के प्रकृति तथा वकरी एवं अज शब्द के जीव तथा वकरा अर्थ होने में शब्द के परिवृत्त्यमहत्व के कारण शब्द-अलङ्कार है ।

१-३. अर्थालंकार

अर्थालंकार शब्दपरिवृत्तिसह होते हैं अर्थात् यदि उनमें शब्दों का परिवर्तन करके उनके समानार्थक दूसरे शब्द प्रयुक्त कर दिए जाएं तो भी वही अलंकार की कोई हानि नहीं होती। ये अलंकार शब्द के आश्रित न होकर अर्थ के आश्रित होते हैं अतः अर्थालंकार कहलाते हैं। जैसे—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि। यथा—

तत्वेन्द्रियाण्यवस्थानि दुष्टाश्वा इव सारथे ।

—कठ० ३ ५

इस मन्त्र में अवश इन्द्रियों की तुलना दुष्ट अश्वों से की गई है। अतः यहाँ उपमा अलंकार है। यह अर्थालंकार है क्योंकि 'दुष्टाश्वा' के स्थान पर 'दुष्टहया', 'दुष्टतुरगा' आदि उसके किसी पर्यायवाची शब्द का प्रयोग करने पर भी उपमा अलंकार बना रहता है तथा उससे अर्थ के सौन्दर्य में हास नहीं होता। अतः शब्द-परिवर्तन सहन करने के कारण एवं समानार्थक अन्य शब्द का प्रयोग करने पर भी अलंकार का सौन्दर्य यथावत् बने रहने से यहाँ उपमा अर्थालंकार है। इसी प्रकार रूपक, उत्प्रेक्षा आदि भी अर्थालंकार हैं।

इन अलंकारों को पुनः अनेक वर्गों में विभक्त किया जा सकता है, जैसे—सादृश्यमूलक, विरोधमूलक, तर्कन्यायमूलक इत्यादि।

| अलंकार | | |
|---|---|---------------------------------------|
| १. सादृश्यलंकार | २. अर्थालंकार | ३. उपमालंकार |
| अनुप्रास, यमक, (क) सादृश्यमूलक श्लेष इत्यादि | (i) मेधाभेदप्रधान—उपमा आदि (ii) आरोपमूलक अभेदप्रधान—रूपक आदि । (iii) गम्य औपम्याश्रित—दुष्टान्त, निदर्शना इत्यादि । | (अ) श्लेष (आ) ससृष्टि (इ) सत्कर |
| | (ख) विरोधमूलक—विधावना, विरोधोक्ति इत्यादि । (ग) न्यायमूलक—काव्यालिय, परिसत्या, यथासत्य आदि । (घ) श्रुतावगन्धमूलक—हारणमाला, मातादीपक, सार आदि । (ङ) गूढार्थ प्रतीतिमूलक—भाविक, उदात्त आदि । | |

१.४. सादृश्यमूलक अर्थालंकार

वे अलंकार, जिनका आधार तुलना या समानता है सादृश्यमूलक अलंकार कहे जाते हैं, जैसे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, सन्देह, भ्रान्तिमान् इत्यादि। मुख चन्द्र के समान है (उपमा), मुख चन्द्र है (रूपक), मुख मानो चन्द्र है (उत्प्रेक्षा), मुख है या चन्द्र (सन्देह), मुख नहीं, चन्द्र है (अपह्नुति)—इन सब अर्थालंकारों में सादृश्य का भाव विद्यमान है। इन अलंकारों का बीज सादृश्य है। अतः सादृश्य के आधार पर अवस्थित होने के कारण इनको सादृश्यमूलक अलंकार कहते हैं।

इन सादृश्यमूलक अलंकारों में भी कुछ अलंकार, जैसे उपमा आदि, ऐसे हैं जिनमें सादृश्य होने पर उपमेय-उपमान में भेद बना रहता है। अतः इन्हें भेदाभेदप्रधान सादृश्यमूलक अलंकार कहते हैं। जैसे, मुख चन्द्र के समान सुन्दर है—इस उपमा में मुख और चन्द्र में भेद भी है और दृष्टत्व, रमणीयत्व आदि साधारण धर्मों के कारण अभेद भी। अतः उपमा भेदाभेदप्रधान सादृश्यमूलक अर्थालंकार है।

वे अलंकार, जिनमें सादृश्य होने पर उपमान उपमेय में आरोप मूलक अभेदप्रतीति होती है अभेदप्रधान सादृश्यमूलक अलंकार कहलाते हैं। जैसे 'मुख चन्द्र है' यहाँ रूपक में, 'मुख नहीं, चन्द्र है' यहाँ अपह्नुति में, मुख (उपमेय) तथा चन्द्र (उपमान) की अभेदप्रतीति होती है। अतः ये अभेदप्रधान सादृश्यमूलक अलंकार हैं।

वे अलंकार, जिनमें तुलना का अर्थ साक्षात् तुलनायुक्त शब्दों में वाच्य न होकर अनुक्त अर्थात् व्यङ्ग्य होता है, गम्य धीपम्याश्रित सादृश्यमूलक अलंकार कहलाते हैं। जैसे—दुष्टान्त, दीपक आदि।

१.४.१. उपमा

समूह-साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने सादृश्य, विरोध, लोभन्याय आदि के आधार पर अलंकारों का वर्गीकरण किया है। इनमें सादृश्य-मूलक अलंकारों का प्राण उपमा मानी गई है। अतः अब सादृश्यमूलक

अलंकारो मे सर्वप्रथम उपमा का ही विवेचन किया जाता है। काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने मुक्तकण्ठ से उपमा की महिमा भाई है—

अलंकारशिरोरत्न सर्वस्य काव्यसम्पदाम् ।

उपमा कविवशस्य भातवेति मतिर्मम ॥

—राजशेखर, अलंकार-शेखर के पृ० ३२ पर

मुख चन्द्र है (रूपक), मुख और चन्द्र शोभा देते हैं (दीपक), मुख है या चन्द्र है (सन्देह), मुख नहीं, किन्तु चन्द्रमा है (अपह्नुति) इत्यादि वाक्यों में उपमा ही रूपक आदि सादृश्यमूलक अलंकारों का बीज है।

उपमा सबसे प्राचीन अलंकार है। वेदो, ब्राह्मणो, आरण्यको एवं उपनिषदों तक में तुलना के लिए उपमा का प्रचुर प्रयोग हुआ है। मैत्र्युपनिषद् में तो उपमा का अलंकार के रूप में उल्लेख है और इसके विभिन्न भेदों का भी विवेचन है। याम्क, भरत, अग्निपुराण-कार, भामह, उदभट, दण्डी आदि आचार्यों ने उपमा को अलंकार के रूप में स्वीकार किया है।

उपमा के लोकप्रिय होने का प्रमुख कारण यह है कि इस अलंकार में वक्ता एक पदार्थ की अन्य पदार्थ से तुलना करके अपने भावों का सकलता तथा प्रभाव के साथ सम्प्रेषण करने में समर्थ होता है। अतः एव न केवल ऋग्वेद तथा अथर्ववेद, जिनमें उच्चकोटि के काव्यत्व का दर्शन होता है, अपितु दार्शनिक विचारधारा से ओतप्रोत उपनिषदों में भी ऋषियों ने अपनी अभिव्यक्ति को सुन्दर रूप देने के लिए उपमा का खल कर प्रयोग किया है।

उपमा में दो परस्पर भिन्न पदार्थों की तुलना होती है और इस तुलना का आधार होते हैं ऐसे धर्म जो दोनों पदार्थों में समान रूप से विद्यमान रहते हैं। जैसे मुख और चन्द्र दोनों विभिन्न पदार्थ हैं। मुख भूमि पर विद्यमान है, परन्तु चन्द्र आकाश में। किन्तु आकृति, स्थान आदि के भेद से, एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी, दोनों में समानता के सूचक हृद्यत्व, रमणीयत्व आदि कुछ साधारण धर्म होते हैं जिनके कारण मुख की चन्द्रमा से तुलना की जाती है। जैसे चन्द्रमा का दर्शन हृदय को आह्लादित करता है वैसे ही मुख भी। जैसे चन्द्रमा रमणीय

है वैसे मुख भी । गुणों की इस समानता के आधार पर ही मुख की चन्द्र से तुलना की जाती है । यही कारण है कि वैदिक ऋषियों ने जब कभी प्राकृतिक, बाह्य जगत् तथा आध्यात्मिक जगत् में परस्पर साम्य का अनुभव किया उनकी वाणी उपमा से सुसज्जित हो गई । उपा का भव्य सौन्दर्य हो या दैत्याकार मेघों की विकट गर्जना, शान्त स्निग्ध समीर हो या प्रचण्ड प्रकम्पन, बाह्य जगत् का वर्णन हो या आध्यात्मिक चिन्तन, सर्वत्र सरल में सरल एवं सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों का प्रतिपादन करते हुए ऋषियों की अभिव्यक्ति उपमा के प्रयोग से न केवल स्पष्ट, सहज अपितु सुन्दर तथा प्रभावशाली भी बन पड़ी है । क्योंकि उपमा उल्लस तथा गम्भीर विचारों को भी स्पष्ट तथा सुन्दर बना देती है, इसी लिये यह सर्वप्रिय है । ऋग्वेद के काल से आज तक, यहाँ तक कि जनसाधारण के वार्तालाप तक में इस का खुलकर प्रयोग होता है । अन्य श्लेष, वक्रोक्ति आदि अलंकारों की अपेक्षा उपमा वाणी का स्वाभाविक अत्यन्तसिद्ध अलंकार है, इस कारण से भी इस अलंकार का अत्यधिक महत्त्व है ।

उपमा शब्द की व्युत्पत्ति है—उप+मा, उप (उपमानस्य) समीपे मीयते तुल्यतया परिच्छिद्यते उपमानेन कर्त्रा उपमेय कर्म अस्यान्, इस व्युत्पत्ति से उपमा का यह स्वरूप स्पष्ट होता है कि इस अलंकार में दो विभिन्न पदार्थों की परस्पर सादृश्य के आधार पर समानता प्रदर्शित की जाती है । इस समानता का उद्देश्य होता है उपमेय का उत्कर्ष या अपकर्ष प्रदर्शित करना । विश्वनाथ ने उपमा का लक्षण दिया है—

साम्य बाध्यमवैधर्म्यं वातवैक्ये उपमा द्वयोः ।

—सा० २० १० १४

प्राचार्यों ने उपमा के अनेक भेदप्रभेदों का विवेचन किया है । दण्डी ने उपमा के अनेक रूपा का विवेचन किया । उसके उपमा-भेदवाद में स्वतन्त्र अलंकार बन गए । मम्मट, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ ने उपमा के २५ भेद स्वीकार किए हैं । परन्तु इन भेदों का सौन्दर्य की दृष्टि में विग्रह महत्त्व नहीं है, क्योंकि इन भेदों का आधार व्याकरण के कुछ नियम हैं, जैसे सादृश्यप्राध्वं क्यङ्, क्यप् आदि प्रत्ययों का प्रयोग । पर, पूर्णोपमा और नुप्तोपमा ये दो भेद सर्वमान्य रहते हैं ।

१.४ २. पूर्णोपमा

सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाची च ।

उपमेय उपमान भवेद्वाच्यम् इयं पुनः ॥

—सा० द० १ = १५

जहाँ उपमेय, उपमान, वाचक शब्द तथा साधारण धर्म सभी वाच्य हो, वहाँ पूर्णोपमा अलंकार होता है। यथा—

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।

तस्येन्द्रियाणि वर्यानि सद्यश्च इव सारथे ॥

—कठ० ३ ६

इस मन्त्र में ऋषि ने विज्ञानवान् व्यक्ति की सयत् इन्द्रियो की तुलना सारथि के बशीकृत घोड़ों से की है। यहाँ इन्द्रियाणि उपमेय सद्यश्च उपमान, इव वाचक शब्द तथा वर्यानि साधारण धर्म हैं। उपमा के चारों घटकों का स्पष्ट उल्लेख होने से यहाँ पूर्णोपमा है।

यहाँ उपमा का प्रयोग किसी आलंकारिक कवि के समान धर्मसाध्य न होकर अत्यन्त सहज रूप से हुआ है। दैनन्दिन जीवन से सम्बद्ध सारथि के बशवर्ती घोड़ों का उदाहरण देकर ऋषि को अपने भावमन्त्रेयण में उपमालंकार के इस अचिन्तित प्रयोग से अनायास ही अभीष्ट सफलता मिली है।

उल्लेखनीय है कि औपनिषदिक कवियों में रथ, घोड़े, लगाम, मारथि आदि, जीवन में प्रतिदिन दृष्टिगोचर होने वाले एवं प्रायः अनुभूत तथा प्रयुक्त भौतिक पदार्थों के माध्यम से आध्यात्मिक विषयों को स्पष्ट करने की प्रवृत्ति अनेकतः पाई जाती है। उपमान योजना के लिए उपनिषत्कार कल्पनालोक, दिव्यलोक अथवा महत्त्वपूर्ण पदार्थों का आश्रय न लेकर सामान्य जीवन में प्रायः उपलब्ध उपमानों का प्रयोग करते हैं। इसके गुन्दर उदाहरण निम्नलिखित मन्त्रों में देखे जा सकते हैं।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्युक्तेन मनसा सदा ।

तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्च इव सारथे ॥

—कठ० ३. ५

इस मन्त्र में ऋषि ने अविज्ञानवान् व्यक्ति की इन्द्रियो की तुलना दुष्ट घोड़ों से की है। उपमेय, उपमान, वाचक शब्द तथा साधारण धर्म का प्रयोग होने से यहाँ पूर्णोपमा अलंकार है।

अनुपश्य यथा पूर्वं प्रतिपश्य तथाऽपरे ।

सस्यमिव मत्स्य पश्यते सस्यमिवाऽऽजायते पुन ॥

—कठ० १ ६

इस मन्त्र में कृपक जीवन में सामान्यतः उपलब्ध उपमान के द्वारा कर्मवश जन्म और मृत्यु के नियम को कवि ने स्पष्ट किया है। यहाँ मत्स्य उपमेय, सस्य उपमान, इव उपमावाचक पद तथा पश्यते, आजायते (नाश और उत्पत्ति) साधारण धर्म है।

इसी प्रकार—

भरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भं इव सुमृतो गभिणीभि ।

शिवे शिव ईदृषो जागृवद्भिर्हृद्विष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्नि । एतद्वै तत् ॥

—कठ० ४ ८

में भी जातवेदा उपमेय, गर्भ उपमान, इव उपमावाचक शब्द, निहित साधारणधर्म होने में पूर्णोपमा स्पष्ट है। जिस प्रकार गभिणियों द्वारा गर्भ सुरक्षित रखा जाता है, इसी प्रकार अरणि के अन्दर अग्नि सुरक्षित रहती है। यहाँ गृहस्थियों को समझाने के लिए गर्भ को उपमान बनाया गया है।

कठोपनिषद् में पूर्णोपमा के निम्न उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं—

सविद्यायामन्तरे धर्तमाना स्वयं धीरा पण्डितमन्यमाना ।

ददम्यमाना परित्यजित भूदा अधेनैव जीयमाना ययन्त्या ॥

—कठ० २ ५

अगुप्टमात्रं पुष्ट्योऽन्तरात्मा सदा जनानां दृश्ये सतिविष्ट ।

त स्वाष्ट्यदीरात्प्रबृहेन्मुखाविशेषीनां धर्मेण ।

न विद्याष्टन्ममृतं त विद्याष्टन्ममृतमिति ॥

—कठ० ६. १७

इस मन्त्र में ऋषियों के व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध उपमान मुंजाद् इव इषीकाम् में स्थानीयरजन (local colouring) का रूप भी दर्शनीय है ।

इनके अतिरिक्त अन्य उपनिषदों में भी पूर्णोपमा के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं । यथा—

अरा इव रचनामो प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

ऋषो यजूषि सामानि यज्ञ सत्र ब्रह्म च ॥

—प्रश्न० २ ६

—जैसे रथ की नाभि में अरें लगी हैं, वैसे ही प्राण में ऋक्, यजुस्, साम, यज्ञ, अत्र, ब्रह्म प्रतिष्ठित हैं ।

यहा ऋक् आदि उपमेय, अरा उपमान, इव वाचक शब्द तथा प्रतिष्ठितत्वं साधारण धर्म हैं । इस मन्त्र में उपमा के आश्रय से प्रतिदिन प्रयोग में आने वाले रथ के पहिए द्वारा समस्त दृश्यादृश्य पदार्थ प्राण में प्रतिष्ठित हैं, जैसे गहन विषम को सुबोध बनाया गया है ।

इसी उपमान का प्रयोग मुण्डकोपनिषद् के ऋषि ने भी किया है । देखिए—

अरा इव रचनामो संहता यज्ञ नाद्व्य. स एषोऽन्तरचरते बहुधा जायमान ।

—मु० २ २ ६

यहा नाद्व्या उपमेय, अरें उपमान, इव वाचक शब्द तथा संहता (विद्यमानता) साधारण धर्म हैं ।

प्राणस्वेद वने तर्ब त्रिविधे यत्प्रतिष्ठितम् ।

मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्वीश्च प्रज्ञा च विधेहि न इति ॥

—प्रश्न० २ १३

यहा प्राण उपमेय, माता उपमान, इव वाचक शब्द तथा रक्षस्व साधारण धर्म हैं ।

और भी—

अरा इव रचनामो कता यस्मिन् प्रतिष्ठिता ।

त वेद्य पुरुष वेद यथा मा वो मृत्यु परिध्यया इति ॥

—प्रश्न० ६ ६

—रथ की धुरा में अरो की भांति, जिस ईश्वर में सब बत्ताए ठहरी हुई हैं, उस जानने योग्य पुरुष को तुम जानो, जिससे तुम्हें मृत्यु न पीड़ित करे।

यहा कला उपमेय, अरा उपमान, इव वाचक शब्द तथा साधारण धर्म प्रतिष्ठित रहना है, अतः पूर्णोपमा है।

स ॥ एष अन्तर्हृदय आकाश तस्मिन्नय पुरुषो भनोमय । अमृतो हिरण्यम् । अस्तरेण सालुके । य एष स्तन इवालम्बते ॥

—तै० १. ६

इस मन्त्र में पुरुष उपमेय, स्तन उपमान, इव वाचक शब्द तथा आलम्बते साधारण धर्म है।

इसी उपनिषद् में पूर्णोपमा के उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र दर्शनीय है—

यथाप प्रवता यन्ति यथा माता अहर्जरम् ।

एव मा ब्रह्मचारिणो धातरायन्तु सर्वतः ॥

—तै० १. ४

अह ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वपृतम् ।

—तै० १. १०

मे भी अहम् (पुरुष) उपमेय, वाजिनी उपमान, इव वाचक शब्द तथा पवित्र साधारण धर्म होने से पूर्णोपमा अलकार है।

पूर्णोपमा की दृष्टि में ऐतरेयोपनिषद् में भी इससे अनेक सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। यथा—

गर्भं नु सन्मन्वेषामवेदमह देवानां जनिमानि विश्वा ।

शत मा पुर आयसीररक्षन्नघ श्वेनो जवसा निरवीषम् ॥

—ऐत० २. १. ५

छान्दोग्य उपनिषद् में उपलब्ध निम्न मन्त्र पूर्णोपमा का सुन्दर उदाहरण होने के साथ श्रेष्ठ मन्त्र के कवियों की उपमा की समव्यवस्था रक्ता है—

तस्य यथा कप्यास पुण्डरीकमेवमस्तिणी... ।

—छा० १. ६. ७

इस मन्त्र में अक्षिणी उपमेय, पुण्डरीकम् उपमान, यथा वाचक शब्द तथा साधारण धर्म कल्याणम् (कपिल रंग) है। यहाँ पुनः तत्कालीन एवं तद्देशीय जीवन के परिवेश में से ही उपमान चुना गया है।

इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् के कवि ने भी आत्मसत्ता के स्फुरण की आश्रयभूत हिता नाम नाडियों की सूक्ष्मता का प्रदर्शन करने के लिए उपमा का आश्रय लिया है और उपमान बनाया है सहस्रधा काटे हुए केश को। यथा—

ता का अर्धंता हिता नाम नाड्यो यथा केश सहस्रधा भिन्नस्ताव-
ताऽणिन्ता तिष्ठन्ति ... ।

—वृ० ४ ३. २०

श्वेताश्वतर उपनिषद् में पूर्णोपमा के एक से एक सुन्दर उदाहरण देखने को मिलते हैं। यथा—

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्षितम् ।

—श्वे० १ १६

—जिस प्रकार दूध में घी सर्वत्र व्यापक है, उसी प्रकार आत्मा सर्वव्यापक है।

यहाँ उपमेय आत्मा, उपमान सर्पि, वाचक शब्द इव, साधारण धर्म सर्वव्यापकत्व है।

प्राणान् प्रपीड्येह स पुत्रवेष्ट क्षीणे प्राणे नासिकपोच्छ्वसीत ।

दुष्टाश्वपुत्रतमिव बाहमेन विद्वान्मनो धारयेताग्रमस ॥

—श्वे० २. ९

इस मन्त्र में मन उपमेय, बाहम् उपमान, इव वाचक शब्द तथा धारयेत साधारणधर्म निर्दिष्ट है। यहाँ पर विद्वान् पद कर्तृत्व का बोधक है, अतः इस पर सारथित्व का आरोप किया जा सकता था, किन्तु रूपक की अपेक्षा उपमा का रूप अधिक स्पष्ट होने से इसे पूर्णोपमा ही कहा जाएगा।

यस्मात्पर नापरमस्ति किञ्चित्स्मान्नापीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित् ।

युश इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुश्वेन सर्वम् ॥

—श्वे० ३. ९

इस मन्त्र में पुण्य (ब्रह्म) उपमेय, वृक्ष उपमान, इव वाचक पद तथा स्तब्ध- तिष्ठति साधारण धर्म होने के कारण पूर्णोपमा अलंकार है ।

द्रष्टव्य है कि यहाँ भी ऋषि ने अपना मन्त्रव्य स्पष्ट करने के लिए वन्य जीवन में सदा के साथी, वृक्ष को ही उपमान बना कर सफलता प्राप्त की है । ऐसे उपमान द्रुतगति से तथा स्थायी रूप से हृदयगम हो जाते हैं ।

घृतात्पर मण्डमिधातिसूक्ष्म ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम् ।

विश्वस्यैक परिवेष्टितार ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपापी ॥

—श्वे० ४. १६

—जित प्रकार घी के ऊपर का मण्ड अतिसूक्ष्म होता है, उसी प्रकार सभी प्राणियों में शिव छिपा हुआ है ।

यहाँ शिव उपमेय, मण्ड उपमान, इव उपमावाचक शब्द तथा अतिसूक्ष्मत्व साधारण धर्म है ।

निम्न मन्त्र भी पूर्णोपमा अलंकार के उदाहरण के रूप में उल्लेखनीय है—

सर्वा विश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयन् आजते यद्वनद्भवान् ।

एव स देवो भवद्भान् वरेभ्यो योनिस्वप्तावानधितिष्ठत्येकः ॥

—श्वे० ५. ४

परतन्तुनाम इव तन्तुभि प्रधानं स्वभावतः ।

देव एक स्वभावतोत् स नो दद्याद्ब्रह्माप्ययम् ॥

—श्वे० ६. १०

इस मन्त्र में उपमा के द्वारा परमेश्वर की प्रकृति का स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि जो परमेश्वर मकड़ी की भाँति प्रकृति से उत्पन्न हुए तन्तुओं से अपने आपको आच्छादित कर लेता है, जो प्रकृति में विद्यमान है, और जो स्वभाव से एक, अखण्ड ईश्वर है, वह हमें ब्रह्म में लीनता प्रदान करे, वह हमें स्वरूप में स्थिति देवे ।

यहाँ देव उपमेय, तन्तुनाम उपमान, इव वाचक शब्द आधुनोपमा साधारण धर्म होने में पूर्णोपमात्माकार है ।

१.४.३ लुप्तोपमा

उपमा के चार तत्त्व है—(१) उपमेय (२) उपमान (३) साधारण धर्म और (४) वाचक शब्द । इनमे से उपमान, धर्म आदि का उल्लेख न होने से लुप्तोपमा होती है । लुप्तोपमा पूर्णोपमा मे विपरीत है । पूर्णोपमा मे उपमा के चारो तत्त्वों का उल्लेख रहता है, परन्तु लुप्तोपमा मे इनमे से किसी एक का, दो का या तीन का लोप कर दिया जाता है । इस प्रकार धर्म का लोप करने पर धर्मलुप्ता, वाचक का लोप करने पर वाचकलुप्ता, इन दोनों का लोप करने पर द्विलुप्ता आदि लुप्तोपमा के भेद होते हैं । मम्मट तथा विश्वनाथ एव अन्य परवर्ती आचार्यों ने लुप्तोपमा के अनेक प्रकारों का विवेचन किया है । विश्वनाथ ने लुप्तोपमा के २१ भेद बताए हैं । लुप्तोपमा के भेदप्रभेदों का आधार व्याकरण है । यह परम्परा आचार्य उद्भट के समय से प्रारम्भ हुई । अप्रयवीक्षित ने व्याकरण शास्त्र के आधार पर उपमा के विभाजन का संकेत देते हुए इसे उचित नहीं माना—

एवमग्रं पूर्णालुप्ताविभागो वाचक-समासा-प्रत्ययविशेषणोचरत्तया शब्द-
शास्त्रव्युत्पत्तिकौशलप्रदर्शनमात्रप्रयोजनो नातीवार्त्तकारणत्वे व्युत्पाद्यतामर्हति ।
न वा लुप्तानागद्य सामस्येन विभाष ।

—चित्रमीमांसा, पृ० १०८

लुप्तोपमा का विवेचन करते हुए विश्वनाथ ने कहा है—

लुप्ता सामान्यधर्मद्विकल्प्य धरि वा द्वयोः ।

अपाना वानुपाशने श्रोत्यासीं सापि पूर्ववत् ॥

—सा० द० १० १७

उपनिषदों मे पूर्णोपमा के समान लुप्तोपमा के भी अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं । यथा—

धर्मलुप्ता—

अंगुष्ठमात्रं पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।

ईशानो भूतमध्यस्थ न ततो विदुषुस्ते । एतद् तन् ॥

—कठ० ४. १२

अगुष्टमात्रं पुरूपो ज्योतिरिवाधूमकः ।

ईशानो मृतमव्यस्य स एवाद्य स उ श्व ॥ एतद्वै तत् ॥

—कठ० ४ १३

इन दोनों मन्त्रों में साधारण धर्मों का उल्लेख न होने के कारण धमलुप्तोपमा अलंकार है।

गुणे वा ब्रह्म पूर्णं समोर्मिर्बि श्लोका यन्ति यद्येव सूरैः ।

भृष्यन्तु चिरवे अमृतस्य पुत्रा आ ये घामानि दिव्यानि तस्मृ ॥

—श्वे० २ ५

इस मन्त्र में बि श्लोका उपमेय, सूरैः पथ्या उपमान तथा इव वाचक शब्द तो हैं पर साधारण धर्म का उल्लेख न होने से यह भी धर्म लुप्तोपमा का ही उदाहरण है।

अगुष्टमात्रो रवितुल्यस्य सकल्पाहकारसमन्वितो यः ।

बुद्धेर्गुणेनाऽऽप्रमगुणेन चैव आराप्रमात्रो ह्यबरोऽपि वृष्टः ॥

—श्वे० ५ ८

—परमात्मा से भिन्न दूसरा जो आत्मा है वह अगुष्टमात्र आकार वाला है सूर्य सदृश दृश्यमान है, सकल्प और अहकार समुपेत है। बुद्धि के गुण से और आत्मा के गुण से ही वह सूर्य की नोक बराबर आयत्त सूक्ष्म देखा गया है।

इस मन्त्र में अगुष्टमात्र में आकार का तथा आराप्रमात्र में सूक्ष्मता आदि धर्मों का उल्लेख न हान से धर्मलुप्तोपमा है।

निरक्तस्य निर्विष्य शान्त निरवद्य निरजनम् ।

यमृतस्य परं सेतुं दग्धेघनमिवानलम् ॥

—श्वे० ६ १९

यहां आत्मा उपमेय, अनल उपमान तथा इव वाचक पद हैं, किन्तु दग्धघन अनल व धम (तेजस्विता, दीप्तत्व आदि) का उल्लेख नहीं है। अतः यहां भी धर्मलुप्तोपमा स्पष्ट ही है।

वाचकलुप्ता—

अथ या एता हृदयस्य नाड्यरता पिङ्गलस्याणिष्णस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येति । असौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहित ॥

—छा० ८ ६ १

यहाँ आदित्य, उपमेय, हृदयस्य नाड्य, उपमान तथा शुक्लत्व, नीलत्वादि धर्मों का उल्लेख किया गया है, पर वाचक पद का नहीं । अतः इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा अलङ्कार है ।

धर्मवाचकलुप्ता—

श्रुत पिबन्ती सुवृतस्य लोके गुहा प्रविष्टौ परमे परार्थे ।

छायातपो ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाम्यो ये च त्रिणाविकेताः ॥

—कठ० ३ १

छायातपो ब्रह्मविदो वदन्ति में दो तत्त्वों, आत्मा और परमात्मा को छाया और आतप के समान कहा गया है, किन्तु इस साम्य में न वाचक पद का प्रयोग किया गया है, न ही किसी साधारण धर्म का । उपर्युक्त साम्य के द्वारा कवि ने आत्मा और परमात्मा की स्वस्वरूपात्मक स्थिति को छाया एवं प्रकाश के मिलाप के समान कहकर यह भी व्यजित कर दिया है कि जैसे प्रकाश में छाया का अभाव हो जाता है, वैसे परमात्मज्ञान से युक्त होने पर आत्मा का अभाव नहीं होता ।

(क) यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषो मृगा ।

तस्य लोमानि पर्णानि त्वयस्पोत्पाटिका बहि ॥

—वृ० ३. १ २८/१

(ख) त्वेन एवास्य रुधिरं प्रत्यग्दि त्वेन जृम्भट् ।

तस्मात् तदा तृष्णात् प्रेति रसो वृक्षाद्विहातात् ॥

—वृ० ३ १ २८/२

(ग) मासान्यस्य शकराणि कीनाट रनाव तत् स्थिरम् ।

अस्थीन्यन्तरतो बाह्वणि गज्जा मज्जोपमा कृता ॥

—वृ० ३. १. २८/३

—सत्य है कि जैसे वन का विस्तार वृक्ष है, ऐसा ही मनुष्य शरीर है। इसके तन के रोम पत्तों के समान हैं, इसकी त्वचा बाहर के दिनों की तरह है। इसकी त्वचा से ही रक्त बहता है जैसे कि वृक्ष की त्वचा से जल-रस निकलता है। हृन्मन किए वृक्ष की भांति ही इस हृन्मन किए हुए मनुष्य में वह रस-रक्त निकलता है। इस मनुष्य के मांस अर्थात् मांसवेष्टिया, वृक्ष की त्वचा के भीतर के भाग हैं, पुरुष का वह स्थिर जो नाड़ी-जाल है वह वृक्ष का कोनाट है लकड़ी से लगा हुआ कोमल भाग है। इसकी हड्डियाँ ही अन्दर की लकड़ियाँ हैं, इसकी भस्त्रा भस्त्रा के समान हैं।

प्रथम मन्त्र की प्रथम पक्ति में विशालता आदि धर्म के अभाव में धर्मलुप्तोपमा अलङ्कार है। तथा, द्वितीय पक्ति में उपमेय स्रोत एवं उपमान धर्म, तथा उपमेय त्वम्, और उपमान उत्पत्ति का उल्लेख तो है, किन्तु इनके साधारण धर्मों का उल्लेख न होने में, यह भाग भी धर्मलुप्तोपमा अलङ्कार के अन्तर्गत है।

यही स्थिति दूसरे मन्त्र की भी है।

तृतीय मन्त्र में भी मामाणि उपमेय तथा शरणाणि (छाल का भीतरी जश) उपमान तो हैं, पर साधारण धर्म का निर्देश न होने में धर्मलुप्तोपमा ही है।

१४.४ मालोपमा

उपमानों की माला मालोपमा है। जब एक उपमेय के अनेक उपमान हों, तब मालोपमा अलङ्कार होता है। उपमेय के लिए एक ही उपमान प्रयोग में लाया जाता है। परन्तु, मालोपमा में यदि उपमेय की शोभा के लिए अनेक उपमानों का प्रयोग करता है। इस प्रकार मालोपमा में उपमानों की एक लड़ी बन जाती है। मालोपमा उपमा की ही एक विचित्रता है।

विश्वनाथ ने मालोपमा का लक्षण दिया है—

मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु वृण्वते ।

—भा० ८० १० २६

अनियम उदाहरण देगिए—

तत्पदं आदेय । यदेतद्भिन्नो ध्येयुर्वाशुनोऽप्यपिनिधयः । इत्यपिर्वचनम् ॥

—वेन० ४.४

यहा पर विद्युतो व्यद्युतद् आ ३ (जो बिजली के समान चमकता है), न्यमीमिषद् आ३ (पलक मारने के समान है), वाक्याशा मे एकाधिक उपमान होने के कारण मालोपमा अलङ्कार है। इस मन्त्र मे आ पद उपमावाचक है।

मयाऽऽदरौ तथाऽऽमनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके ।

मयात्मु परोव हृदो तथा पन्थर्वलोके द्याप्रातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥

—कठ० ६ ५

इस मन्त्र मे उपमेय आत्मा के आदरों, स्वप्न, पितृलोक, अप् आदि अनेक उपमान होने से यहा मालोपमा अलङ्कार है।

यपोर्णानि सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्याभोषण्य सम्भवन्ति ।

यथा सल पुरयात् केसानोमानि तथाऽऽसरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥

—मु० १ १ ७

—जैसे मकड़ो ने जाले वही सामग्री सूक्ष्म रूप मे होती है, उससे वह जाला रचती है और फिर उसे निपल भी लेती है, इसी प्रकार पुरुष मे प्रकृति कल्पनाशील प्रकार से रहती है। उसी से भगवान् सृष्टि का सजन तथा सहार करता है। जैसे भूमि मे वनस्पतिया अकुरित हो जाती हैं, ऐसे ही भगवान् की विद्यमानता मे लोक-लोकान्तर का विकास हो जाता है। जैसे जीवित मनुष्य की देह मे केश तथा सोम निकलते हैं, इसी प्रकार अविनाशी प्रभु से इस ब्रह्माण्ड का उदय होता है। हरि की इच्छा प्रकृति मे प्रवेश करके उसने त्रिया उत्पन्न करती है। उसी आदि के सकल्प से सञ्चालित प्रकृति माना रूप रंग भाकार-प्रकार आदि को जन्म दे रही है। वास्तव मे, इसमे भगवान् की इच्छा धीज बनी हुई है।

यहा पर विषय को स्पष्ट करने के लिए एक ही उपमेय वाक्य अक्षरान् पिरव सम्भवानि के ऊर्णानि, ओषण्य तथा केसलोमानि, इन तीन उपमानो की योजना की गई है, अत यहा मालोपमा अलंकार है।

अह वृक्षस्य रेरेखा कीर्ति पृष्ठ गिरेरेखः । अखपवित्री वाजिनोव स्वमृतम् अस्मि । द्विषणऽसवर्वसम् ॥

—तै० १ १०

इस मन्त्र में उपमेयभूत आत्मा के लिए गिरे, पृष्ठम् तथा वाजिनी इन दो उपमानों की योजना की गई है, अतः यहाँ मालोपमा अलङ्कार है।

तद्यथा तवर्णेन सुवर्णं सदध्यात् । सुवर्णेन रजतं रजतेन त्रपु क्षपुणा तीक्ष्णं सीसेन लोहं लोहेन दाहं दाहं चर्मणा ॥

एवमेवा लोहानामासा देवतानामस्यास्त्रव्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरिष्यन्त्यसदधाति । भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्नं वदितुं ब्रह्मा भवति ॥

—छा० ४ १७ ७-८

इन मन्त्रों में उपमेय यज्ञ के सुवर्ण, रजत, त्रपु, सीस, लोह, दाह, चर्म आदि अनेक व्यञ्जक उपमान दिए गए हैं।

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम् । यथा माहारजनं वामो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपं यथाऽग्न्यविविधं वा पुण्डरीकं यथा सहस्रिद्युत्तम् । यथा सहस्रिद्युत्तेषु ह वा अस्य धीर्भवति य एव वेद ॥

—बृ० २ ३ ६

—जैसे कुसुम्भे से रंगा हुआ वस्त्र हो, जैसे श्वेतमेघ के लोम हों, जैसे इन्द्रगोप का रंग हो, जैसे अग्निज्वाला हो, जैसे श्वेतकमल हो और जैसे एकदम विद्युत् प्रकाश हो, जो व्यक्तित आत्मा के परिचायक चमत्कारों को ऐसे जानता है उसकी लक्ष्मी व शोभा प्रवर्तता से एक बार चमकती हुई विद्युत् उद्योतिवत् ही हो जाती है।

इस मन्त्र में पुरुषस्य रूपम् में रूपम् पद उपमेय है तथा उसके माहारजमम्, पाण्ड्वाविकम्, इन्द्रगोप, अग्न्यवि, पुण्डरीकम् और सहस्रिद्युत्तम् अनेक उपमान हैं।

यहाँ द्रष्टव्य है कि ब्रह्म के रूप की चमत्कारिता दर्शाने के लिए ऋषि ने बहुरंगी उपमानों की योजना की है। ये सभी उपमान ऋषि के जीवनपरिवेश से निवटरूप में सम्बद्ध हैं और वैचित्र्यपूर्ण भी।

स यत्रापमणिमानं न्येति जरया घोषतपता वाजिनिमानं निगच्छति । तद्यथाऽश्वं बौधुम्बरं वा पिप्पलं वा मण्डनान् प्रमुच्यते । एवमेवापि पुरुष एभ्योऽङ्गैश्च सप्रमुच्य पुनः प्रतिन्याय प्रतिपोन्यात्रवति प्राणायं च ॥

—बृ० ४ ३ ३६

—यह शरीरी जिस अवस्था में बड़ापे से कृशता को प्राप्त होता है अथवा उपतप—ज्वरादि रोग—से दुर्बलता को प्राप्त होता है उस समय वह, जैसे पका हुआ आम या गूतर अथवा पीपल डठल से गिरता है, ऐसे ही वह आत्मा इन शरीरावयवों से छूटकर फिर यथानियम जीवन के लिए ही जन्मान्तर को ढीढ़ता है, आयुस्समाप्ति पर कर्मानुसार पुनर्जन्म धारण करता है ।

इस मन्त्र में भी उपमेयभूत शरीरावयवों से छूटने वाले आत्मा के लिए आम्न, उदुम्बर तथा पिप्पल, ये तीन उपमान दिए गए हैं, अतः यहाँ मालोपमा अलंकार है । ये उपमान सार्थक होने के साथ व्ययजक एवं आधम्य जीवन से निकट सम्बन्ध रखने वाले हैं ।

तितैषु तैल दक्षिमीव सर्पिराप स्रोत स्वरणीषु वाग्नि ।

एवमात्माऽऽमनि गृह्यतेऽसौ सत्येनमं तपसा योऽनुपश्यति ॥

—श्वे० १ १५

—जैसे तिलों में तेल है, दही में घृत है, खोनों में जल है और भरणिमें में अग्नि है, ऐसे ही यह परमात्मा आत्मा में ग्रहण किया जाता है, और उस व्यक्ति द्वारा जाना जाता है जो इसको सत्य से—आस्तिक्य बुद्धि से—और ब्रह्मचर्यादि तप से देखता है ।

इस मन्त्र में परमात्मा में आत्मा के स्वरूप को बताने के लिए सर्पि, आप, अग्नि आदि अनेक उपमान दिए गए हैं ।

अगुष्ठमात्रो रघितुल्यस्य सकृत्पाहकारसमन्वितो य ।

शुद्धैर्गुणैर्नाऽऽमगुलेन चैव आराप्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः ॥

—श्वे० ५ ८

इस मन्त्र में उपमेय जीव के लिए तीन उपमान—अगुष्ठ, रवि, आरात्र (सूर्य की नोक)—दिए गए हैं । इन तीनों में साधारण धर्म का निर्देश न होने से यह धर्मलुप्ता मालोपमा का सुन्दर उदाहरण है ।^१

१. अगुष्ठ द्रष्टव्य :—छा० ३. १४. ३, ३ १५. ३, बृ० १. ३. २२, २. १. १६, ३. ३. २, ६. ४ २२

१४५ वाक्यार्थोपमा

वाक्यार्थोपमा का उल्लेख दण्डी ने ही किया है। परवर्ती आचार्यों ने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने इसे दृष्टान्त तथा इससे मिलते-जुलते असकारो में समाविष्ट किया है। उपनिषदों में ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं जिन पर दण्डी की वाक्यार्थोपमा का लक्षण चरितार्थ होता है। अतः इसी दृष्टि से यहाँ उनका विवेचन किया जाता है। दण्डी की वाक्यार्थोपमा लक्षण है—

वाक्यार्थेनेव वाक्यार्थं कोऽपि यद्युपमीयते ।

एकानेकैव शब्दावात्ता वाक्यार्थोपमा द्विधा ॥

—काव्यादर्श २ ४३

कुछ एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

यथोक्तं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।

एव धर्मान् पृथक् पश्यस्तानेवानुविधावति ॥

—कठ० ४ १४

जहाँ वाक्यगत उपमा हो वहाँ वाक्यार्थोपमा होती है। इस मन्त्र में यथोक्त “ विधावति उपमान वाक्य है और एव धर्मान् ... अनुविधावति उपमेय वाक्य, अतः यहाँ वाक्यार्थोपमा असकार है।

इसी प्रकार,

यथोक्तं शुद्धे शुद्धमातिष्ठत तादृगेव भवति ।

एव मुनेर्विज्ञानत आत्मा भवति गीतम् ॥

—कठ० ४ १५

यहाँ प्रथम पक्ति उपमान वाक्य तथा द्वितीय पक्ति उपमेय-वाक्य होने में वाक्यार्थोपमा है। इसी प्रकार,

अग्निर्धर्मको भुवन प्रविष्टो रूपरूप प्रतिरूपो बभूव ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रचरप प्रतिरूपो बहिरप ॥

—कठ० ५ ९

इस मन्त्र में एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा वाना वाक्य उपमेय है तथा अग्निर्धर्मको वाना वाक्य उपमान, अतः यहाँ वाक्यार्थोपमा है। यहाँ

दृष्टान्त अलंकार नहीं हो सकता क्योंकि विम्बप्रतिविम्बभाव नहीं बनता, किंच स्पष्ट शब्दों से कर्म कहा गया है।

स यथा सोम्य यथासि वासो वृक्ष संप्रतिष्ठन्ते ।

एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥

—प्रश्न० ४ ॥

ऋषि आलंकारिक भाषा में कहता है, कि जैसे पक्षी इधर उधर उड़-फिर कर साथ समय बसने के लिए वृक्ष का आश्रय लेते हैं और उरा पर चुपचाप बैठ जाते हैं, ठीक इसी प्रकार वे सब स्वप्न के खेल, सुषुप्ति में साक्षी आत्मा में लीन हो जाते हैं। देखने, सुनने आदि की वृत्तियाँ सिकुड़ कर साक्षी आत्मा में स्थिरता लाभ करती हैं। साक्षी उस समय अपने स्वरूप में स्थित होता है।

इस मन्त्र का पूर्व भाग उपमान वाक्य है और उत्तर भाग उपमेय वाक्य, अतः यहाँ भी वाक्यार्थोपमा अलंकार है।

... यथा पादोदरस्त्वक्षा विनिर्मुच्यते । एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामनिष्कामीयते ब्रह्मलोकम् । स एतस्मात्सर्गोवचनात् परात्परं पुरिशय पुरयमीक्षते ।

—प्रश्न० ५.५

इस मन्त्र में यथा पादोदरस्त्वक्षा विनिर्मुच्यते उपमान वाक्य तथा एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः उपमेय वाक्य होने से वाक्यार्थोपमा अलंकार है।

एवं यथाशमानमाखण्डमृत्वा विध्वंसते एव हैव न विध्वंसते य एवविधि पापं कामयते यश्चैवमभिधासति । स एषोऽप्रमाखणः ॥

—छा० १.२.५

—जिस प्रकार (मिट्टी का डेरा) दुर्बल शिखा को लगेकर विनष्ट हो जाता है उसी प्रकार वह व्यक्ति नाश को प्राप्त हो जाता है जो प्राणोपासना करने वाले पुण्य के प्रति पापाचरण की कामना करता है अथवा जो इसको कोसता या भारता है, क्योंकि यह प्राणोपासक अनेक शिखा ही है।

इस मन्त्र का पूर्वभाग उपमान वाक्य तथा उत्तरभाग उपमेय वाक्य होने से यहाँ वाक्यार्थोपमा अलंकार है।

इदमिति ॥ प्रतिज्ञते । सोऽवावाच कित्त सोम्य तेऽवोचन् । अहं तु ते तद्वक्ष्यामि यथा पुष्करपत्ताया आयो न श्लिष्यन्ते एवमेवविधि पाप कर्म न श्लिष्यन्ते इति । श्रुत्वोऽपि मे भगवानिति । तस्मै होवाच ॥

—छा० ४ १४ ३

यहां एवमेवविधि पाप कर्म न श्लिष्यन्ते उपमेय वाक्य है और यथा पुष्करपत्ताया आयो श्लिष्यन्ते उपमान वाक्य है ।

तद्यथा महारथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छन्तीम् चामु च । एवमेवंता आहिरस्य रसमय उभौ लोकौ गच्छन्तीम् चामु च । अमुष्मादादित्यात्प्रतापन्ते ॥

—छा० ८ ६ २

यहां भी पहला वाक्य उपमान तथा दूसरा वाक्य उपमेय होने से वाक्यार्थोपमालकार है ।

त यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकाम परिवर्तते तमेवैव एतत् प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकाम परिवर्तते ॥

—बृ० २ १ १८

—जैसे कोई महाराजा अपने देश के अनुष्यो को साथ लेकर अपने देश में यथेच्छ किरता है ऐसे हो वह आत्मा इन इन्द्रियशक्तियों को लेकर अपने शरीर में यथेच्छ प्रमण करता है । स्वप्नावस्था में आत्मा अपने में ही लीला करता है ।

इमं मन्त्रं मे एतत् प्राणान् गृहीत्वा ... यह पूरा वाक्य उपमेय तथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा ... उपमान वाक्य होने से वाक्यार्थोपमा अलंकार है ।

त यथोर्जनाभिरतनुमोच्चरेद्यथाऽग्ने क्षुद्रा विस्फुत्तिगा ध्युच्चरन्त्येव-
मेवात्मादात्मन सर्वे प्राणा सर्वे सोऽवा सर्वे देवा सर्वाणि भूतानि ध्युच्चरन्ति ॥

—बृ० २.१ २०

यहां यथोर्जा ... विस्फुत्तिगा ध्युच्चरन्ति उपमान वाक्य तथा शेष उपमेय वाक्य है, अतः वाक्यार्थोपमालंकार है ।

तद्यथा महामतस्य उभे कूले अनुसचरति पूर्वं चापरं भवंमेवाय पुनर्य
एतावुमावन्तावनुसचरति स्वप्नात् च बुद्धान्तं च ॥

—बृ० ४. ३ १८

—जिस प्रकार महामच्छ नदी के पूर्व और ऊपर दोनों तीरों पर क्रमशः संचार करता है, उसी प्रकार यह आत्मा स्वप्नावस्था और जागरित अवस्था, इन दोनों अवस्थाओं को क्रमशः प्राप्त करता है ।

इस मन्त्र में अथ पुण्य ... यह सम्पूर्ण वाक्य उपमेय है तथा महामत्स्य ... उपमान वाक्य है, अतः यहाँ वाक्यार्थोपमा अलंकार है ।

सद्यः कृष्णजलायुक्तं कृष्णस्यान्तः गत्वा न्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरत्येवमेवामेव शरीरं निहत्या विद्यां गमयित्वा न्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति ॥

—श्लो० ४.४.३

यहाँ आमेव शरीरं ... उपमेय वाक्य और कृष्णजलायुक्तं ... उपमान वाक्य होने से वाक्यार्थोपमा अलंकार है ।

वद्वेयं धोनिगतस्य भूतिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः ।

स भूय एवेन्द्रनयोनिमुह्यस्तदोभयं च प्रणवेन वेहे ॥

—श्लो० १.१.३

—जिस प्रकार काष्ठादि उत्पत्ति-स्थानगत अग्नि की आकृति नहीं बीखती और न ही उसके लिए (सूक्ष्म स्वरूप) अर्थात् उसका ऊष्मा चिह्न नष्ट होता है; वह अग्नि चाहो तो फिर भी ईंधन रूप कारण से चहूँ की भाँति सकती है, उसी प्रकार अग्निर्लिङ्ग के समान इस वेह में प्रणव द्वारा आत्मा का ग्रहण किया जा सकता है ।

इस मन्त्र में वद्वेयं ... उपमान वाक्य है, तथा तदोभयं च प्रणवेन वेहे ... उपमेय वाक्य है । यहाँ वा शब्द (तद्वा उभयम्) इस (सादृश्य) अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

१.४.६. उपमेयोपमा

उपमा में उपमेय की उपमान के साथ तुलना की जाती है । प्रायः हम देखते हैं कि उपमान के साथ उपमा होती है, परन्तु उपमेयोपमा में उपमेय के साथ उपमा होती है । अतः उपमेयोपमा वह अलंकार है जहाँ दो वस्तुएँ वारी वारी से परस्पर उपमान और उपमेय रूप में कल्पित दिखाई दिया करती हैं । उपमेयोपमा का उद्देश्य

१. अन्यत्र दृष्टव्य — कठ० १ १-११, वृ० १.४ ३, १.४.१०, १.४.१६, २.१.१६, २.४.१५, ४.३.२१, ४.४.४

तृतीय सादृश्यव्यवच्छेद है । अत एव जहां उपमेय के द्वारा उपमा होने पर भी अन्य (तृतीय सादृश्य) उपमान का तिरस्कारक अभीष्ट नहीं होता, वहां उपमेयोपमा भी नहीं हुआ करती । इस प्रकार उपमेय के साथ उपमा होने के कारण इस अलङ्कार का उपमेयोपमा नाम अन्वर्थक है । विश्वनाथ ने उपमेयोपमा का लक्षण दिया है—

पर्यायेण द्विरेतदुपमेयोपमा मता । —भा० द० १० २७

यथा—

सोऽयमात्मनाऽत्यक्षरमोकार । अधिमात्र यादा मात्रा मात्रारव यादा
अकार उकारो मकार इति ॥

—भा० ८

इस मन्त्र के यादा मात्रा मात्राऽव यादा भाग में उपमेयोपमा अलङ्कार है ।

अथ खलु य उदगीथ स प्रणवो य प्रणव स उदगीथ इति । अतौ वा
आरित्य उदगीथ एव प्रणव । ओमिति ह्येव स्वरत्नेति ॥

—छा० १ ५ १

इस मन्त्र के पूर्वभाग में उदगीथ उपमेय और प्रणव उपमान है । उत्तरभाग में प्रणव उपमेय हो गया है तथा उदगीथ उपमान । अतः यहां उपमेयोपमालङ्कार है ।

॥ होवाच विज्ञानाम्यह यत्रागो ब्रह्म । क च तु य च न विज्ञानामीति ।
ते होवु । यद्वाच क तदेव खम् । यदेव च तदेव कमिति । प्राण च हारमं
तदावाग घोवु ॥

—छा० ४ १० ५

इस मन्त्र में जो पूर्वपदस्थ खम् उपमेय तथा खम् उपमान है, वे उत्तरपद में श्रमण उपमान और उपमेय हो गए हैं । अतः यहां भी उपमेयोपमा अलङ्कार ही है ।

१४७ रूपक

उपमा के समान रूपर भी प्राचीन अलङ्कार है । भरत ने जिन चार अलङ्कारों का उल्लेख किया है उनमें एव रूपर भी है । भरत के बाद भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट आदि प्राचार्यों ने इस अलङ्कार का विवेचन किया है । दण्डी ने रूपक की सीमा का बहुत विस्तार किया है और अपह्नुति, आक्षेप, व्यतिरेक का इसमें

सम्मिलित किया है। इस अलंकार को रूपक इसलिए कहते हैं क्योंकि यहाँ उपमान उपमेय को अपना रूपवान् बनाता है। जैसे, नायिका का मुख चन्द्र के सदृश नहीं, अपितु चन्द्र है। इस प्रकार उपमेय और उपमान में भेद के तिरोहित हो जाने पर उपमा ही रूपक बन जाती है। यदि उपमेय और उपमान में साम्य होने पर उपमा है, तो दोनों में अतिसाम्य होने पर रूपक हो जाता है। इस प्रकार अधिक सादृश्य की दृष्टि से उपमेय और उपमान का अभेदारोप रूपक अलंकार है। अतएव रूपक की व्युत्पत्ति है—

रूपमत्येकता नयतीति रूपकम् ।

विश्वनाथ ने रूपक का लक्षण दिया है—

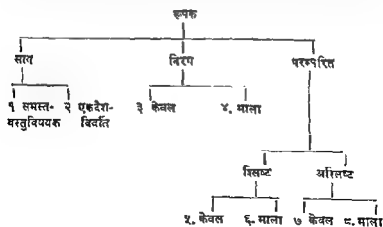
रूपक हवितारोपो वियये निरपह्नवे ।

—सा० द० १३ २८

रूपक वह अलंकार है जहाँ उपमेय का निषेध किए बिना ही उपमेय पर उपमान का अभेदारोप किया जाए।

मम्मट तथा विश्वनाथ, दोनों ने रूपक के आठ भेद किए हैं—

उपनिषदों में रूपक के प्रायः इन सभी भेदों, साग—(१) समस्त-वस्तुविषयक, (२) एकदेशविवर्ति, निरूप—(१) केवल, (२) माला, परम्परित—(१) शिलष्ट, (२) अशिलष्ट, के उदाहरण मिल जाने हैं।



सागरूप—

अग्नौ यदि सागस्य रूपेण सांगमेवतत् ।

समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च ॥

—सा० द० १० ३०

बुद्ध्य उदाहरण द्रष्टव्य है । यथा—

समस्तवस्तुविषय रूप—

आत्मानं रयिन् विद्धि शरीरं रयमेव तु ।

बुद्धिं तु सारयि विद्धि मनं प्रग्रहेव च ॥

—कठ० ३. ३

इन्द्रियाणि ह्यानाहुर्विषयास्तेषु गोचरान् ।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण ॥

—कठ० ३ ४

उपर्युक्त मन्त्रों में आत्मा पर रथ के स्वामी का, शरीर पर रथ का, बुद्धि पर सारयि का, मन पर लगाम का, इन्द्रियो पर घोड़ों का तथा विषयों पर मार्ग का आरोप होने से सागरूपक अलंकार है ।

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रमूर्ध्वी विश्वं धोत्रे वाग्बिभृताश्च वेदाः ।

वायुः प्राणो हृदयं विदबभस्य पदभ्यां पृथिवी ह्येव सर्वभूतान्तरात्मा ॥

—मु० २ १ ४

इम मन्त्र में सुलोम पर विराट् पुष्प के सिर का, चन्द्र व सूर्य पर नेत्रा का, दिशाओं पर श्रोत्र का, वेदों पर वाणी का, वायु पर प्राण का, विश्व पर हृदय का, भूमि पर पैरों का आरोप होने से सागरूपक अलंकार है ।

सप्त प्राणा अभवन्ति तस्मात् सप्ताविष समिध सप्त होमाः ।

सप्त इमे सोमोऽप्येषु चरन्ति प्राणा शुहाऽप्य निहिता सप्त सप्त ॥

—मु० २ १ ८

यहां प्राणों पर अग्नि का, प्रकाश पर ज्वालाओं का, विषयों पर गमिन् का और भोग पर होम का आरोप होने से सागरूपक है ।

धनुर्गृहीत्वोपनिषद् महास्रग्धरं ह्युपासा निशितं सद्योत ।

आपम्य सद्भावयतेन चेतसा तस्य तदेवास्त्रं सोम्य विद्धि ॥

—मु० २ २ ३

यहां पर उपनिषद् द्वारा वर्णित ब्रह्मविद्या पर धनुष का, उपासना पर शरसन्धान का, परमात्मा में लीन मन पर ज्या आर्कुर्यण का तथा अविनाशी ब्रह्म पर लक्ष्य का आराधन है, अतः यहां भी साग रूपक अलंकार है ।

जागरितस्थानो बहिः प्रज्ञः सप्ताग एकोनविंशतिमुखः स्वप्नभृर्ब्रह्मवर्धनः
प्रथमः पादः । —मा० ३

यहां ब्रह्मपुरुष पर विभिन्न शरीरागों का आरोप होने से सागरूपकालंकार है ।

जैसे देहधारी आत्मा की जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएं होती हैं और उन अवस्थाओं में आत्मा स्थूल में, तथा स्थूल सूक्ष्म में और सूक्ष्मशरीर में काम करता है, उसकी चेतना का इनमें प्रकाश होता है, माण्डूक्य महात्मा ने वैसा ही अलंकार ब्रह्म में रचा है ।

—जितका स्थान जागरित है, जितकी अवस्था जागने की है, जो बाहर चेतना वाला है, सात अंगों वाला है, जो उन्नीस मुखों वाला और स्थूल का भोगना है, वह ब्रह्मवर्धन पहला पाद है ।

जागरित अवस्था में व्यष्टि आत्मा की चेतना जैसे बाहर के विषयों में काम करती है ऐसे ही समष्टि आत्मा का ज्ञान मृष्टि काल में मृष्टि में होता है । समष्टि के सात अंग हैं । द्युलोक उसका मूर्धा है, चन्द्र-सूर्य नेत्र हैं, अन्तरिक्ष उदर है, दिशाएं भुजाएं हैं, मध्यलोक वक्षःस्थल है, पृथिवी पाद है और लोकातीत आकाश उसका विस्तार है । ब्रह्माण्ड के आत्मा के उन्नीस मुख ये हैं—पांच तन्मात्राएं, दश दिशाएं, तीन कान और मूल प्रकृति । उक्त उन्नीस मुखों से वह जगत् की रचना और जगत् का सहार करता है । वह स्थूल जगत् का भोक्ता, गालक तथा सब नरों का आश्रय नारायण है ।

... .. तस्येदमेव शिर । अय दक्षिण पक्ष । अयमुत्तरः पक्ष ।
अयमात्मा । इदं पुच्छं प्रतिष्ठा ॥ —तै० २. १

इत्यादि की भान्ति नैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्गो के पहले पाँच अनुवाकों में अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश तथा आनन्दमयकोश पर मानव तथा उसके शरीर के विभिन्न अंगों का आरोप किया गया है ।

छान्दोग्योपनिषद् के द्वितीय तथा तृतीय अध्यायों के प्रायः सभी खण्डों में सागरूपक की योजना के द्वारा साम-उपासना के विभिन्न अंगों को स्पष्ट किया गया है । यथा—

वृष्टौ पचविध सामोपासीत । पुरोवातो हिंकारो मेधो जायते स प्रस्ताव ।
वर्षति स उद्गीथ । विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार । उद्गुह्मति तग्निधनम् ॥
वर्षति ह्यस्मै वर्षयति ह ध एतदेव विद्वान् वृष्टौ पचविध सामोपास्ते ॥

—छा० २. ३. १-२

इन मन्त्रों में वर्षा में पूर्व प्रवाहित होने वाली पवन पर हिंकार का, मेध पर प्रस्ताव का, वर्षा पर उद्गीथ का, विजली की चमक और गरज पर प्रतिहार का तथा वर्षा-अवमान पर विधन का आरोप किया गया है अतः यहाँ सामरूपक अलंकार है ।

असी का आश्रयो देवमधु । तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवतोऽन्तरिक्षमधुपूषो मरीचयः पुत्रा ॥ तस्य ये प्राँको रश्मयस्ता एवास्य प्राँव्यो मधुनाड्यः । ऋच एव मधुवृत् । ऋग्वेद एव पुष्पम् । ता अमृता मापस्ता वा एता ऋचः ॥ एतमृग्वेद-मध्यपतन । तस्यामितप्लस्य यशस्तेज इन्द्रिय दीप्यमन्नाद्य रसोऽजायत । तद्वपक्षरत । तदाश्विनमभिजोऽध्वयम् । तद्वा एतद्यवेतदावित्स्य रोहित वपम् ॥

—छा० ३. १. १-४

इस खण्ड के सभी मन्त्रों में आदित्योपामना का वर्णन करते हुए ऋषि ने इमने विविध रूपों पर मधुमक्खियों से सम्बद्ध विविध तत्त्वों एवं चेट्याओं का आरोप किया है । यथा, सूर्य पर मधु का, आदित्यकोश पर निग्धे वाम (मधु-श्रुते के म्यान) का, अन्तरिक्ष पर मधुकोश का, चिरणों पर मधुमक्खियों के बच्चों का, पूर्वदिशा की चिरणों पर पूर्वदिशा की मधुनाटियों का, ऋचाओं पर मधुमक्खियों का, ऋग्वेद पर पुष्प का तथा वेद के स्तोत्र पर अमृत आदि का आरोप किया गया है ।

इमावेव गीतमभरद्वाजी । अयमेव गीतमोऽयं भरद्वाजः । इमावेव विश्वामित्रजमदग्नौ । अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निः । इमावेव वसिष्ठकश्यपौ । अयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपः । वागेवात्रिर्वाचा ह्यग्नमजतेऽतिर्ह वं नामेतद्यदत्रिरिति । सर्वस्यात्ता भवति । सर्वमस्थानं भवति य एव वेद ॥

—वृ० २ २ ४

इस मन्त्र में उपासक के कानों पर गीतम तथा भरद्वाज का, नेत्रों पर विश्वामित्र और जमदग्नि का, नासिका पुटों पर वसिष्ठ और कश्यप का तथा वाणी पर अत्रि का आरोप होने से सागरूपक अलंकार है। यहाँ पर उपासक की इन्द्रियों पर सप्तर्षियों का आरोप करके उपासना की महत्ता अभिव्यक्त की गई है।

य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति शिरः, एक शिरः, एकमेतद-
सरम् । मुख इति बाहू, डी बाहू, डे एते मक्षरे । स्वरिति प्रतिष्ठा, डे प्रतिष्ठे,
डे एते मक्षरे । तस्योपनिषदहरिति । इन्ति पाप्मानं गृह्णाति य एव वेद ॥

—वृ० ५ ५. ३

इस मन्त्र में शू पर परमपुरुष के शिर का, मुख पर भुजाओं का तथा स्व. पर पैरों का आरोप किया गया है, अतः यहाँ सागरूपक अलंकार है।

बाष्प घेनुमुपासीत । तस्याश्चत्वारः स्तनाः । स्वाहाकारो वषट्कारो
हन्तकारः स्वधाकारः । तस्यै द्वी स्तनौ देवा उपवीर्यन्ति स्वाहाकार च वषट्कार
च । हन्तकार मनुष्याः । स्वधाकार पितरः । तस्याः प्राणं ऋषयो मनो व्रतः ॥

—वृ० ५ ८. १

इस मन्त्र में वाणी पर घेनु का, स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार एवं स्वधाकार पर स्तनों का, प्राण पर ऋषभ का तथा मन पर व्रत का आरोप किया गया है, अतः सागरूपक अलंकार है।

पर्वेन्यो वा अग्निषोतमः । तस्य शक्ततर एव समिदध्राणि धूमो विष्टु-
चिरदभिरगारा ह्यादुनयो विस्फूर्तिगाः । तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोम राजानं
युवति, तस्मा आहृत्य वृष्टिः सञ्जति ॥

—वृ० ६ २ १०

इस मन्त्र में पर्जन्य पर अग्नि का, सवत्सर पर समित् का, धूम पर अन्न का, ज्वाला पर विद्युत् का, अगारो पर वज्र का तथा स्फुलिगो पर मेघ गर्जन का आरोप किया गया है।

स वेद्याऽऽत्मानं व्यकुर्वत । आदित्यं तृतीयम्, वायुं तृतीयम्, स एष प्राणश्चेद्या विहितः । तस्य प्राची दिक् शिरोऽसौ चासी चेनी । अधोऽस्य प्रतीची दिक् पुच्छमसौ चानी च सव्यौ । दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे, द्यौ पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुर । स एषोऽस्य प्रतिष्ठितः । यत्नं च वेति तदेव प्रति-
तिष्ठत्येव विद्वान् ॥

—वृ० १ २ ३

इस प्रमग में पूर्वदिशा पर भिर का, ईशान और आग्नेय कोण पर भुजाया का पश्चिमी दिशा पर पूंछ का, नाभि पर अधोभाग का, वायव्य और नैऋत्य कोण पर दो हड्डियों का, दक्षिण और उत्तर दिशाया पर दा पार्श्वों का, चुलो पर पीठ, अन्तरिक्ष पर उदर तथा पृथ्वी पर वक्ष स्थान का आरोप होने से सागरूपक है।

तमेकनेमि त्रिवृत्तं षोडशान्तं सताध्वारं विराति प्रध्वराभिः ।

अष्टकं यद्विधिविरूपेकयासा त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥

—श्वे० १ ४

—ब्रह्मवाक्यों ने उस ब्रह्मचक्र को देखा है जिसकी एक नेमि, एक प्रवृत्ति ही परिधि—रथ का घेरा है, जो तीन गुणों के घुस जाता है, तीन गुण ही उसकी तीन पट्टियाँ हैं । सोतह इसके अन्त हैं—प्राण, ध्या, आकाश, वायु, ज्योति, जल पृथिवी इन्द्रिय, मन अग्नि, वीर्य, तप, मत्त, कर्म, सोच और नाम, उस चक्र के पचाम अरे हैं और बीस छोटे अरो से जुड़ा हुआ है । छ अष्टकों से अखिल बन्धन है । त्रिमार्ग भेद वाला है और दो निमित्त, एक मोह वाला है ।

पाच सूक्ष्म भूत और पाच सूक्ष्मभूत, आत्मगणय, परमात्म-गणय, प्रवृत्तिगणय, धर्मगणय और अधर्मगणय—ये पाच सशय, पाच केश, वाम नास्र, नोम, माह, अहंकार, चार यानिया—स्वेदज, उद्भिज्ज, अष्टज जगद्युज रद्द श्रुतुण चारह माम, तीन करण—मन, वचन और वाया, ॥ गत्र पचाम अर हैं । दम दन्द्रिया, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वचन, आदान, विवरण, उत्सर्ग और आनन्द—ये बीस प्रत्यर है । पचा प्रवृत्ति-अष्टक है, दूगग धानु अष्टक है, तीसरा विद्धि-अष्टक है । तनमद, जनमद, धनमद, उयमद, ज्ञानमद, बुद्धिमद, कुनमद और

जातिमद—यह चीथा मदाष्टक है। अशुभ सोचना, अशुभ सुनना, अशुभ देखना, अशुभ बोलना, अशुभ करना, अशुभ कराना, अशुभ का अनुमोदन और अशुभ का स्पर्श करना—यह पाचवा अशुभाष्टक है। नित्यधर्म, निमित्तधर्म, देशधर्म, कालधर्म, कुलधर्म, जातीयधर्म, आपद्धर्म, और अपवादधर्म, यह छठा धर्माष्टक है। धर्म, अर्थ और काम यह मार्गत्रय है। राग, द्वेष ये दो निमित्त है। भयता, अहन्ता ही एक मोह है।

उपर्युक्त मन्त्र में ब्रह्म पर रथचक्र का अंगो सहित आरोप होने से सागरूपक अलंकार है।

पञ्चोतोन्मु पञ्चयोगुप्रवक्ता पञ्चप्राणोमि पञ्चशुद्ध्याविभूताम् ।

पञ्चावर्ता पञ्चदुःखोपशान्ति पञ्चाशद्भेदा पञ्चपर्वामयीम् ॥

—श्वे० १ ५

यहां ज्ञानेन्द्रियो पर जल का, पञ्चमहाभूतों पर तरंगों का, पाच प्राणों पर उर्नियों का, मन पर भूल का, विषयों पर आवर्त का, दुःख-समूह पर वेग का और पञ्चवनेशों पर पर्वों का आरोप करके ब्रह्म का नदी रूप में वर्णन किया गया है, अतः यहां भी सागरूपक अलंकार है।

निरागरूपक—

निराग केवलम्यैव रूपणम् ।

—सा० द० १० ३२

पद्या—

वैश्वानरः प्रविशत्यतिविर्वाह्यणो गृहान् ।

तत्सर्वतां शान्तिं कुर्वन्ति हरं वैदस्यतोवकम् ॥

—कठ० १ ७

इस मन्त्र में ब्राह्मण पर वैश्वानर अग्नि का आरोप होने से निरागरूपक अलंकार है।

१ अग्र्यत्र द्रष्टव्य — कठ० ३. ६, मु० २ २. ४, मा ४, तै० २. २. १, २ ३. १, २. ४. १, २ ४. १, छा० २. २ १, २ ४ १, २. ४. ५, २. ५. १, २ ६. १, २. ७. १, २. ११. १, २. १२. १, २. १३ १, २ १४ १, २. १५. १, २ १६ १, २ १७ १, २ १८. १, २. १९. १, २ २०. १, २. २१. १, ३ १५. २, ३. २ १, ३. ३. १, ३. ४. १, ३ ५. १, ३. ५. २, ३. १३. ५, ३. १५ १; वृ० ५. ५. ४, ६ २ ६, ६. २. ११, ६ २. १२; श्वे० १. १४

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा ।

रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्त्तं धामूर्त्तं च तस्मान्मूर्त्तिरेव रयिः ॥

—प्रश्न० १ ५

यहा आदित्य पर प्राण का तथा रयि पर चन्द्रमा का आरोप होने से निरग रूपकालकार है ।

बिरबहप हरिण जातवेदस परायण ज्योतिरेक तपन्तम् ।

सहस्र-रश्मि दत्तया वर्तमान प्राण प्रजानामुदपत्येव सूर्य ॥

—प्रश्न० १ ८

यहा पर भी उपमेय सूर्य पर उपमान प्राण का आरोप है ।

पुष्य एवेह विश्व कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।

एतद्यो वेव निहित गुहायां सोऽविद्याधर्म्य बिभिरतीह सोम्य ॥

—मु० २ १ १०

इम मन्त्र मे अविद्या पर धर्म्य का आरोप होने से निरग रूपकालकार है ।

अमाश्रयतुषोऽप्यवहार्य प्रपञ्चोपशम शिबोऽर्जुत । एवधोकार आर्मेव ।

सविश्रामनाऽऽत्मान य एव वेव ॥

—मा० १२

यहा ओंकार पर आत्मा का आरोप होने से निरग रूपक स्पष्ट है ।

स य एवोऽन्तर्हृदय आकाश तस्मिन्मय पुष्यो मनोमय अमृतो हिरण्मय ॥

—तैत्ति० १ ६. १

यहा हृदय पर आकाश का आरोप किया गया है ।

ता एता वेचना सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतन् । तमदानापिपाता-
भ्यामभयवार्जन् । ता एनमद्भुतन् आपतन् न प्रशानोहि यस्मिन् प्रतिष्ठिता
अन्नमशामेति ॥

—ऐत० १ २ १

इस मन्त्र मे मसार पर धर्णव (दु पमागर) का आरोप है ।

अन्तरिक्षमेवंक् । वायु साम । तदेतदेतस्यामूच्यध्मूदं साम । तस्मा-
दूच्यध्मूद साम गीयते । अन्तरिक्षमेव सा वायुरमस्तत्साम ॥

—छा० १ ६ २

यहा अन्तरिक्ष पर ऋक् का और वायु पर साम का आरोप होने से निरग रूपक अलंकार है ।

मृत्युर्व तमो ज्योतिरमृतम् ।

—वृ० १ ३ २८

यहा मृत्यु पर तम का तथा अमृत पर ज्योति का आरोप किया गया है ।

तद्येव वाक् सोऽयमग्निः । स होता । स मुक्ति । साऽतिमुक्तिः ॥

—यू० ३ १ ३

यहा वाक् (स्तुतिपाठ) पर अग्नि (प्राध्यात्मिक) का आरोप किया गया है ।

स एव काले भूधनस्य गोप्ता विश्वाग्निः सर्वभूतेषु गूढ ।

यस्मिन्पुक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेव ज्ञात्वा मृत्युपाशाश्छिनत्ति ॥

—श्वे० ४ १५

इस मन्त्र मे मृत्युपाशान् का मृत्यु के बन्धनों को ऐसा अर्थ न हो कर मृत्युवश बन्धनों को ऐसा अर्थ है (तुलनीय शाकर भाष्य) । अतः यहा मृत्यु पर पाश का आरोप होने से निरग रूपक अलंकार है ।

हवमावमेके नयसो वदन्ति ज्ञात तपाश्च ये परिबुद्धानाः ।

देवर्षय महिमा तु लोके येनैव आभ्यते ब्रह्मचरन् ॥

—श्वे० ६ १

यहा ब्रह्म पर वक् का आरोप होने से रूपकालंकार है जो कि निरग है ।

१. अन्यत्र द्रष्टव्य —कठ० २ २५, ३. २, १. ६, प्रस्त०

१. १२, १. १३, ४. ४, मु० १. २. ७, २ १ ३, ७. १. ८, २ २. ५; मा०

८, तै० १. ३, १. ४, १. ५, १. ८, ऐत० १. २. ४, २. १. ३, ३. १. ३,

उप. १४

अश्लिष्टपरम्परितरूपक—

पचपादं पितरं द्वावसाकृतिं दिव आहु परे अर्घं पुरोविणम् ।
अवेमे अन्य उ परे विचक्षण सप्तधन्ने षडर आहुरपितमिति ॥

—प्रश्न० १ ११

इस मन्त्र में कालज्ञ पुरुष की पाच ऋतुओं पर उसके पाच चरणों का, उत्पादक शक्ति पर पितृत्व का, द्वादशमासों पर उसके अक्षयों का, सात ग्रहों पर सात चक्रों का तथा छ ऋतुओं पर छ ग्रहों का आरोप किया गया है, अतः अश्लिष्ट परम्परित रूपक अलंकार है ।

एकदेशविर्वर्तिरूपक—

नयद्वारे गुरो देही हंसो सेतायते बहि ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥

—श्वे० ३ १८

इस मन्त्र में शरीर पर गुर का आरोप करके इन्द्रियो पर नयद्वार का आरोप तो किया गया है, किन्तु गुर से सम्बद्ध अन्य किसी अंग का आरोप न होने से यहाँ एकदेशविर्वर्तिरूपक अलंकार है ।

मालारूपक—

अथ य एषोऽन्तरलिङ्गि पुरुषो दृश्यते सैवर्क्ष । तत्साम । तदुक्षम् ।
तद्यन्तु । तद्वक्ष । तद्व्यतस्य तदेव त्वं यदनुष्य त्वम् । यावदनुष्य तेष्णीं तौ
तेष्णी । यन्नाम तन्नाम ॥

—छा० १ ७ ५

इस मन्त्र में नेत्रान्तरवर्ति दृश्यमान पुरुष पर ऋक्, साम, उक्ष (सामस्तोत्र) तथा यन्तु का आरोप होने से मालारूपक अलंकार है ।

अतिशयोक्तिमूलरूपक—

अहं वृक्षस्य रेखिवा कीर्ति पृष्ठं विरेखिवा ।

—चै० १. १०

इस मन्त्र में ससार तथा वृक्ष में भेद होने पर भी अभेद मान कर आरोप की योजना की गई है, अतः यहाँ अतिशयोक्तिमूलक रूपक अलंकार है।

१४८ परिणाम

परिणाम अलंकार भी सादृश्यमूलक है जो रूपक से मिलता-जुलता है। इस अलंकार में उपमेय से उपमान का अभेदारोप इस रूप में होता है, जिससे वह प्रकृतार्थ में उपयोगी बन जाता है। क्योंकि, इस अलंकार में उपमान उपमेय के साथ सर्वात्मना एकरूप होकर उसके कार्य में भी उपयुक्त हुआ करता है, अतः उपमान का उपमेय के उपयोग में परिणमन के कारण इसे परिणाम कहते हैं। रूपक में तो उपमान उपमेय का उपरजक ही हुआ करता है, किन्तु परिणाम में वह उपमेय से तादात्म्य स्थापित करके प्रस्तुत उपमेय के अर्थ में भी उपयोगी बन जाता है। परिणाम का लक्षण है—

विषयात्मतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि ।

परिणामो भवेत्तुल्यातुल्याधिकरणो द्विधा ॥

—सा० २० १० ३४

यथा—

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पञ्चम्यो मघवानेष वायु ।

एष पृथिवी रयिर्देव सदसन्वामृत च यत् ॥

—प्रश्न० २ ५

यहाँ प्राण पर आरोप्यमाण अग्नि तपनरूप प्रस्तुत कार्य में उपयोगी दिखाई गई है, अतः परिणाम अलंकार है।

इा मुपर्णा सयुजा सलाया समान वृक्ष परिपस्वजाते ।

तपोरन्य विप्लव स्वादृति अनशनान्यो अभिधावजोति ॥

—मु० ३ १ १

इस मन्त्र में प्रकृति पर वृक्ष तथा जीवात्मा और परमात्मा पर दो मुपर्ण पक्षियों का आरोप किया गया है। यहाँ आरोप्य पदार्थ आरोपित पदार्थानुरूप कार्य भी करने लग गए हैं, अतः परिणाम अलंकार है।

प्रकृति महाबुद्ध है। इस पर जीवात्मा और परमात्मा दोनों ग्राहक हैं। आत्मा परमात्मा का सम्बन्ध स्वाभाविक और सनातन है, और भवापन का है। भेद उनमें इतना ही है कि जीवात्मा प्रकृति के अनुकूल फलों को भोगता है जिससे वह दुखी हो जाता है, और परमेश्वर केवल साक्षी बना रहता है।

वाग्रे ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः । सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च ।
भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एव वेद ॥

—छा० ३ १८ ३

प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः । स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च । भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एव वेद ॥

—छा० ३. १८. ४

इन दोनों मन्त्रों में क्रमशः वाणी और प्राण पर अग्नि और वायु आरोपित होकर विषय (उपमेय) के स्वरूप—दीप्ति और उज्जता अर्थात् तेजस्विता—से ही कार्य कर रहे हैं, अतः यहाँ भी परिणाम अलंकार है।

विद्वान्तं स्वाप्यं समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सनिवेश्य ।

ब्रह्मोद्भूतेन प्रतरेत विद्वान् श्रोतासि सर्वाणि भयावहानि ॥

—श्वे० २ ८

इस मन्त्र में ब्रह्म पर उद्भूत—तरने के साधन—का आरोप कर के उससे समुद्ररूप भयावह ससारप्रवाह की तरणक्रिया दिखाने के कारण परिणाम अलंकार है।

द्वा सुपर्णा समुज्जा सखाया समानं बृक्षं परिपस्वयताम् ।

तपोरम्यं विपश्नं स्वाद्वस्मिन्शनन्नन्यो अभिवाकशोति ॥

—श्वे० ४ ६ (तुलनीय मु० ३ १ १)

एवम् ।

समाने बृक्षे पुरुषो निमग्नोऽजीशया शोचति मुह्यमानः ।

क्षुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति बीतशोकः ॥

—श्वे० ४. ७

इस मन्त्र में आरोप्य पदार्थ प्रस्तुत कार्य में उपयोगी हो रहे हैं, अतः यहाँ परिणाम अलंकार है ।^१

१.४.६ सन्देह

सन्देह अलंकार का बीज सशय ज्ञान है । दो पदार्थों के अत्यन्त सदृश होने पर द्रष्टा को अभेदबुद्धिजन्य सशय होता है, जैसे दूर से किसी स्थाणु को देखने पर साम्य के कारण उस पर पुरुष का सन्देह होता है । दूर से देखने पर द्रष्टा को स्थाणु पुरुष लगता है परन्तु वह निर्णय नहीं कर पाता कि दूरस्थ पदार्थ स्थाणु है या पुरुष है । उसका मन दो कोटियों, उपमेय कोटि स्थाणु तथा उपमान-कोटि पुरुष के मध्य में झूलता रहता है । मन की यह दोलायमान स्थिति, जहाँ ज्ञान निश्चित नहीं है, शशय है । इस प्रकार जहाँ उपमेय पर उपमान का शशय हो, वहाँ सन्देह अलंकार होता है । सन्देह में उपमेय की अनेक उपमानों से समता होती है, परन्तु यहाँ मानोपमा के समान कवि एक उपमेय की अनेक उपमानों में साक्षात् तुलना नहीं करता है, अपितु सन्देह के कारण वह एक उपमान के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा उपमान प्रयोग में लाता है । इस प्रकार कवि का मन एक उपमेय तथा तत्समान अनेक उपमानों में झूलता रहता है । कविप्रतिभा से अनुप्राणित होने पर सन्देह में वैचित्र्य आ जाता है और वह लौकिक सन्देह न रह कर अलंकार बन जाता है ।

सन्देह की व्युत्पत्ति है—सन्देहेन साक्षेन सह वर्तते इति सन्देह । इस प्रकार उपमेय का सन्देह होने पर सन्देह अलंकार है । जैसे विश्वनाथ ने कहा है—

सन्देह प्रकृतेऽप्यस्य साक्ष्य प्रतिभोत्पित ।

—भा० २० १०. ३५

सन्देह अलंकार में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं (१) सन्देह सदा उपमेय और उपमान के सादृश्य के कारण होना चाहिए । सादृश्य के अभाव में सन्देह होने पर भी यह अलंकार नहीं होगा । (२) दूसरी बात यह कि सन्देह कवि प्रतिभा से अनुप्राणित होना चाहिए तभी

उस में वैचित्र्य आता है । सन्देह तीन प्रकार का है—(१) शुद्ध (२) निश्चयगर्भ (३) निश्चयान्त । छट् इससे मशय तथा मम्मट इसे ससन्देह नाम देते हैं ।

उदाहरण रूप में देखिए—

तद्वया विजसो । तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव । तन्न व्यनान्त किमिद पथमिति ॥

—केन० ३ २

इस मन्त्र में किमिद पथमिति से यक्ष के रूप में प्रकट ब्रह्म के विषय में देवताओं के सन्देह का वर्णन होने में सन्देह असकार है ।

ताम्रिञ्जलमुत नीलमाहुः विपत्त हरित लोहित च ।

एव मया ब्रह्मणा हानुवितस्तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यङ्गं तंजसव ॥

—वृ० ४ ४ ९

यहां मोक्षमार्ग के विषय में मतभेद है । कोई उसे शुक्ल और कोई नीलवर्ण का, तथा कोई पिंगलवर्ण का, कोई हरित और कोई लोहित वर्ण का कहता है । किन्तु यह मार्ग साक्षात् ब्रह्म द्वारा अनुभूत है । उस मार्ग से पुण्य करने वाला परमात्मतेजस्वरूप ब्रह्मवेत्ता ही जाता है ।

इस प्रकार यहां निश्चयान्त सन्देह अलंकार है ।^१

१४.१०. आन्तिमान्

सादृश्य के आधार पर प्रकृत अर्थ में अप्रकृत अर्थ का भ्रम आन्तिमान् अलंकार है । रम्यक इसकी व्युत्पत्ति करते हुए कहते हैं—

आन्तिश्चित्तमर्थः । स विद्यते यस्मिन् भणितिप्रकारे स आन्तिमान् ।

—अल० मर्व० पृ० ५६

पण्डितराज जगन्नाथ कहते हैं—

अत्र च आन्तिमाश्रमसंज्ञार । आन्तिमानलंकार इति व्यवहारस्तवीप-
चारिक ।

—रम्यगाधर, पृ० १९१

परन्तु यहाँ यह ध्यान रहे कि साम्य के कारण एक वस्तु में दूसरी वस्तु का भ्रम वास्तविक न होकर कविप्रतिभा से युक्त होना चाहिए। अतः एवं शक्तिकायां रजतम् मे भ्रान्ति ही है, अलकार नहीं। परन्तु मुग्धा दुग्धिया गवां विदधते कुम्भानघो वल्गवा मे चादनी मे मुग्ध-हृदय गापवृन्द वा दुग्ध वा भ्रम कविप्रतिभाजन्य होने के कारण भ्रान्तिमान् अलकार है।

विश्वनाथ का लक्षण है—

साम्याद्वर्तस्मिस्तदबुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः ।

—मा० द० १० ३६

यथा—

स जातो मूतान्यभिर्भ्यक्ष्यत्—किमिहान्य बाधविषयित्वे । स एतमेव पुरय ग्रह्य ततममपश्यद्विदमवगमिती ३ ॥

—ऐत० १ ३ १३

इस मन्त्र में पुरय को ही ग्रह्य समझ लेने का वर्णन है जो कि कविप्रतिभोत्थित है। अतः यहाँ भ्रान्तिमान् अलकार है।

१४११ उल्लेख

उल्लेख अलकार में एक का अनेक प्रकार से उल्लेख होता है। एक ही वस्तु का या तो दर्शक अपने अपने दृष्टिकोण से देखते हैं और वह वस्तु भिन्न भिन्न प्रतीत होती है, अथवा एक ही वस्तु का रूप उसके विषय या आश्रय को बदलने पर भिन्न हो जाता है। जैसे भी हो, एक का अनेक प्रकार से वर्णन उल्लेख अलकार है। उल्लेख के इस प्रकार का भेद हो जाता है। प्रथम में ग्रहीता के भेद से एक का अनेकधा उल्लेख होता है जैसे एक भगवान् कृष्ण का वस्त्र, गोप, भवत आदि ग्रहीताओं के भेद से शत्रु, सखा तथा भगवान् के रूप में उल्लेख होने पर प्रथम उल्लेख है। द्वितीय में एक ही वस्तु का विषय या आश्रय के भेद से भिन्न प्रकार से उल्लेख होता है। जैसे भगवती पार्वती की दृष्टि एक ही वस्तु है, परन्तु उसके विषय या आश्रय भगवान् शिव का मुख, उनका चर्माम्बर, उनके सिर पर विराजमान गंगा भिन्न भिन्न हैं। अतएव विषयभेद से कवि एक ही दृष्टि का अनेक रूप में जैसे मुख को देखकर मञ्जीरी, चर्माम्बर को देखकर दीन तथा गंगा को देख

कर ईर्ष्याभरी—वर्णन करता है ।^१ इस प्रकार ज्ञाता, दर्शक आदि के भेद से या आश्रय, विषय आदि के भेद से एक का अनेक प्रकार से उल्लेख उल्लेख अलंकार होता है । विश्वनाथ ने उल्लेख का लक्षण दिया है—

यद्वचिद भेदाद् ग्रहीतृणां विषयानां तथा यद्वचिन ।

एकस्यानेकघोलेखो यः स उल्लेख उच्यते ॥

—मा० द० १० ३७

यथा—

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यन् परम् ।

अथपि तिलोप्यंता पार नाचिरेत शक्यमहि ॥

—कठ० ३ २

इस मन्त्र में उपास्य, एक ही परमेश्वर को भव-पार पाने का पुनः, अक्षर, परमपद, ससार सागर तरना चाहने वालों का परला पार आदि अनेकविध वर्णित किया गया है । अतः विषयभेद से एक ही वस्तु का अनेकविध वर्णन करने से यहाँ उल्लेख अलंकार है ।

हसं शुचिपद्मसुरन्तरिक्षतद्भोता वेदियदतिथिर्दुरोणसत् ।

नृपद्वरसद्ध्योमसदग्ना भोजा अतना अद्रिजा अत बृहत् ॥

—कठ० ५ २

इस मन्त्र में एक आत्मा को ही हस (विवेकी), शुचिपद् (पवित्र अवस्था में रहने वाला), वस्तु, वेदियद्, अतिथि, धीरा और श्रेष्ठों का संगी, सत्यसद, आकाशविहारी, अग्नि, भूमिज, अद्रिज, आवि कहने से, विषयभेद से उल्लेख अलंकार है ।

एषोऽग्निस्तापमेव सूर्य एष परंन्यो मघवानेव वायु ।

एष शुचिर्वा रयिर्देव सदसञ्चामृत च यत् ॥

—प्रश्न० २ ५

१. सपीडा दयितानने सकलणा मातगन्धर्माब्धरे
सत्राता भुजये सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्पन्दिनी ।
सेर्षा जट्टनुमुतावलोक्नविद्यो दीना कपालोदरे
पायत्या नयसगणप्रणयिनी दृष्टि शिवायास्तु च ॥

(पी० बी० नागें, साहित्यदर्पण, पृ० १३१, १३२३)

यहां प्राण को अग्नि, भूयं, मेघ, इन्द्र, वायु, पृथिवी, रयि आदि अनेक रूपों में देखा जा रहा है, अतः उल्लेखालंकार स्पष्ट ही है।

इसी प्रकार,

इन्द्रमन्त्रं प्राण तेजसा रद्रोऽसि परिरमिता ।

त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्तव ज्योतिषा पति ॥

—प्रश्न० २. ९

इस मन्त्र में भी प्राण को इन्द्र, रद्र, अन्तरिक्षचारी, ज्योतियों का पति आदि अनेक प्रकार से वर्णित किया गया है, अतः यहां भी विषय-भेद से एक वस्तु का अनेक प्रकार से वर्णन होने के कारण उल्लेखालंकार है।

य एव वेद । क्षेम इति वाचि । योगक्षेम इति प्राणापानयो । कर्मति हस्तयो । गतिरिति पादयो । विभुक्तिरिति पायो । इति मानुषी समाप्ता ॥

—तै० ३ १०. २

अथ बंधो । कृत्तिरिति घृष्टो । बलमिति विद्युति । यश इति पशुपु । ज्योतिरिति नक्षत्रेषु । प्रजापतिश्मृतमानन्द इत्युपस्थे । सर्वमित्याशारे ॥

—तै० ३ १०. ३

इन दोनों मन्त्रों में एक ही शक्ति का अनेक विध वर्णन होने से उल्लेखालंकार स्पष्ट है।

उच्यन्तिहार । उदित प्रस्ताव । मध्यन्दिन उद्गीथ । अपराह्ण प्रतिहार । अस्त मन्त्रिघनम् । एतद्बहुवचनस्य प्रोक्तम् ।

—छा० २ १४ १

यहां एक ही सूर्य का विभिन्न स्थितियों में भिन्न भिन्न प्रकार—हिकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निघन रूप—से वर्णन के कारण उल्लेख अलंकार है।

अध्यानि सप्तयन्ते स हिंकार । मेघो जायते स प्रस्ताव । वर्षति स उद्गीथ । विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार । उद्गृह्णाति तन्निघनम् । एतद्वैषम्यं पञ्चमे प्रोक्तम् ॥

—छा० २ १५ १

इस मन्त्र में क्रिया (विषय) भेद से एक ही भेष का विभिन्न रूप—हिकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, निघ्नन—में वर्णन से उल्लेखालंकार है।

इसी प्रकार देखिए,

... .. अकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति । वदन् वाक् पश्यन् चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनः । तान्यत्यंतानि कर्मानामन्येव । स योऽस्त एर्ककमुपास्ते न स वेद । अकृत्स्नो ह्येयोऽस्त एकैकेन भवति ।

—बृ० १. ४ ७

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तदायुस्तद्वा चन्द्रमा ।

तदेव शुक्र तद्ब्रह्म तदापस्तस्व प्रजापति ॥

—श्वे० ४ २

यहाँ एक ही देव का अनेक प्रकार से उल्लेख होने से उल्लेख अलंकार है।

इसी प्रकार,

नील वतगो हरितो लोहितस्मरतडिङ्गमं श्वेतवः समुद्राः ।

क्षमादिमास्य विभुत्वेन वर्तते यतो जातासि भुवनानि विषवा ॥

—श्वे० ४. ४

इस मन्त्र में विषयभेद से एक ही वस्तु का अनेक प्रकार से वर्णन होने से उल्लेख अलंकार है।

१४.१२ उत्प्रेक्षा

उपमा के बाद उत्प्रेक्षा सर्वाधिक कविप्रिय अलंकार है। जिस प्रकार उपमा की प्रशस्ति में अनेक सूक्तियाँ प्रचलित हैं, उसी प्रकार उत्प्रेक्षा के विषय में भी कहा गया है—

सर्वालंकारसर्वस्व कविकीर्तिविषयिनी ।

उत्प्रेक्षा हरति स्वान्तमचिरोदा स्मितादिव ॥

मस्वृत का सम्पूर्ण साहित्य उत्प्रेक्षा के सौन्दर्य से मण्डित है। वाणभट्ट के काव्य में तो उत्प्रेक्षा का परमोत्कर्ष है।

उपमा तथा रूपक के समान उत्प्रेक्षा भी सादृश्यमूलक अलंकार है। इसमें उपमेय पर उपमान की उत्कट सम्भावना होती है, अतः इसे उत्प्रेक्षा कहते हैं। उत+प्र+ईक्षा=उत्प्रेक्षा अर्थात् उत—उत्कट (प्रबल) प्र=प्रफुल्ल (उपमान) की ईक्षा=ईक्षण (सम्भावना) अर्थात् जहाँ उपमान की उत्कट रूप में सम्भावना हो, वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है।

उत्प्रेक्षा अलंकार का बीज सम्भावना है। सम्भावना में उपमेय और उपमान इन दो पदार्थों में मशय का पुट रहता है। परन्तु सम्भावना ऐसा मशय है, जिसमें उपमेय तथा उपमान इन दो कोटियों में से उपमान कोटि ही उत्कट रहती है। जैसे मुख चन्द्र मन्थे में दो कोटियों—मुख और चन्द्र—में मशय होने पर भी उपमान कोटि ही उत्कट है, क्योंकि कवि मुख पर चन्द्र का मशय करते हुए भी मुख को मुख की अपेक्षा चन्द्र अधिक समझता है। मुख मानो चन्द्र है, इसका अर्थ है कि कवि ने मुख को लगभग चन्द्र समझ लिया है। इस प्रकार उपमेय और उपमान में मशय होने हुए भी कवि जब उपमेय को उपमान-सा मान बैठता है तब सम्भावनामूलक उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। यह सम्भावना ही उत्प्रेक्षा को सन्देह अलंकार में भिन्न करती है।

विश्वनाथ ने उत्प्रेक्षा का लक्षण दिया है—

अवेत सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रवृत्तस्य परात्मना ।

—सा० द० १० ४०

तथा उत्प्रेक्षा के १७६ भेद बताए हैं। परन्तु प्रमुख रूप से तो उत्प्रेक्षा के पाँच भेद ही प्रचलित हैं—स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतुत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा, वाच्योत्प्रेक्षा तथा प्रतीयमानोत्प्रेक्षा।

वाच्योत्प्रेक्षा—

अपाध्यातमः । 'यदेतद्गच्छनीयं च मनः । अनेन चंतदुपरमरायमोक्षणं सत्त्वं ॥

—वेन० ४. ५

इस मन्त्र में गच्छतीव में उत्प्रेक्षावाचक इव के कारण वाच्या नियोत्प्रेक्षा असकार है ।

ध्यानं वाचं चित्तात् भूप । ध्यायतीव पृथिवी । ध्यायतीवान्त-
रिक्षम् । ध्यायतीव द्यौः । ध्यायन्तीवाऽऽप । ध्यायन्तीव पर्वता । ध्यायन्तीव
देवमनुष्या । तस्माद्य इह मनुष्याणां महता प्राप्नुवन्ति ध्यानापादाशा इवैव ते
भवन्ति । अथ येऽस्या कलहिन पिशुना उपवादिनस्ते । अथ ये प्रभवो
ध्यानापादाशा इवैव ते भवन्ति । ध्यानमुपास्वेति ॥

—छा० ७ ६ १

इस मन्त्र से ध्यायति इव पद में वाच्या नियोत्प्रेक्षा है ।

न धर्मेणस्य हन्यते । नास्य क्षाम्येण क्षाम । धमन्ति त्वेवंमम ।
विच्छादयन्तीव । अप्रियवैतैव भवति । अपि रोदन्तीव ॥ ..

—छा० ८ १० ४

यहां विच्छादयन्ति इव, अप्रियवैता इव तथा रोदन्ति इव पदों में
वाच्या नियोत्प्रेक्षा असकार है । शांकरभाष्य के अनुसार धमन्ति त्वेव
में एव पद इवार्थक होने में इस अर्थ में भी वाच्योत्प्रेक्षा ही है ।

यत्र हि द्वैतमिदं भवति तद्विद्वत् इतरं निगति, तद्विद्वत् इतरं परपति,
तद्विद्वत् इतरं भूगोति, तद्विद्वत् इतरमभिवदति, तद्विद्वत् इतरं मनुते, तद्विद्वत्
इतरं विजानाति ॥

—बृ० २ ४. १४

इस मन्त्र में अद्वैत द्वैत की संभावना के कारण अतिशयोक्ति-
मूलक गुणोत्प्रेक्षा है ।

वातवत्क्षेपेति होवाच .. मनुष्यलोक ॥

—बृ० ३ १ ८

इस मन्त्र में क्षेप्य इव हि देवलोक अथ में नियोत्प्रेक्षा तथा
क्षेप्य इव हि मनुष्यलोक भाग में फलोत्प्रेक्षा असकार है ।

कतम आत्मेति—योऽयं विज्ञानमय प्राणेषु हृदयान्तर्गोति पुरुष ।
स तपान् सन्तुष्टो लोकानुसचरति ध्यायन्तीव तत्तत्पतीव । स हि स्वप्नो भूत्वेम
लोकमनिक्रामति भृत्यो रूपानि ॥

—बृ० ४ ३ ७

इस मन्त्र में ध्यायतीव तथा लेतायतीव पदों में वाच्या त्रियोत्प्रेक्षा भ्रलकार है ।

इसी प्रकार बृहदा० ४ ३ २० में भी घनन्तीव जिनन्तीव हस्तोव विद्ध्यपयनि नया भतंमिव पतति में वाच्या त्रियोत्प्रेक्षा है ।

स यद्वायमात्माऽब्रह्म न्येत्य समोहमिव न्येति अर्धनमेते प्राणा अभि-
समायन्ति । स एतास्तेजोमात्रा समभ्याददानो हृदयमेवान्ववशमिति । ॥ यत्रैव
चाक्षुषं पुरुषं वराडं पर्यावर्तते । अचाक्षुषो भवति ।

—बृ० ४ ४ १

यहां समोहमिव न्येति (मानों समोह को प्राप्त होता है) अश में जात्युत्प्रेक्षालकार है ।

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा—

यदुच्छ्वामनिःश्वात्तत्वेतावाहुनी सम नयतीति समान । मनो ह वाच
यजमान । इष्टपत्तमेवोदान । स एन यजमानमहरह्रं ह्य गमयति ॥

—प्रश्न० ४ ४

इस मन्त्र में आहुती पद में आहुती इव के रूप में उत्प्रेक्षा होने से प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है ।

यस्याभिहोत्रमदर्शमधीर्णमासमचातुर्मास्यमनापयणमतिथिर्वर्जितं च ।

भट्टतमर्चस्वदेवमविधिना हृतमास्तमास्तस्य सोऽहन् हिनस्ति ॥

—मु० १. २ ३

इस मन्त्र में हिनस्ति पद में हिनस्ति इव के रूप में उत्प्रेक्षा होने से त्रियागत प्रतीयमानोत्प्रेक्षा भ्रलकार है (तुलनीय शास्त्रभाष्य) ।

एहोरोति तस्मादृतयं शुचिर्बभूव शूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति ।

प्रियां वाचमभिवदत्योऽर्चयन्त्य एष च पुण्यं मुहूर्तो ब्रह्मतोऽह ॥

—मु० १ २ ६

इस मन्त्र में भी वहन्ति पद में वहन्ति इव की उत्प्रेक्षा होने से त्रियागत प्रतीयमानोत्प्रेक्षा भ्रलकार है (तुलनीय शास्त्र भाष्य) ।

१.४.१३ अतिशयोक्ति

अतिशयोक्ति अध्यवसायमूलक अभेदप्रधान अलंकार है। अध्यवसाय के सिद्ध होने पर अतिशयोक्ति अलंकार होता है। विषय अर्थात् उपमेय का निगूढ करके विषयी अर्थात् उपमान के साथ उसके अभेद ज्ञान को अध्यवसाय कहते हैं। अभेदप्रधान उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारों में अध्यवसाय पूर्ण नहीं होता है। उत्प्रेक्षा में अध्यवसाय साध्य होता है। परन्तु अतिशयोक्ति में अध्यवसाय उपमेय का तिरोधान होकर उपमान का ही रह जाना, जैसे चन्द्र में मुख के तिरोधान से केवल चन्द्र का ही रह जाना, सिद्ध अर्थात् पूर्ण हो जाता है। इस प्रकार अतिशयोक्ति में उपमेय और उपमान के आहार्य ज्ञान से भेद का सर्वथा लोप हो जाता है और केवल उपमान का ही उपादान होता है।

अतिशयोक्ति के नाम से स्पष्ट है कि इस अलंकार में अतिशय असाधारण, लोकातीत, लोकातिश्रान्त कथन होता है। अतिशय उक्ति = अतिशयोक्ति। अतिशयिता प्रसिद्धिमतिश्रान्ता लोकातीता उक्ति अतिशयोक्तिः। अतिशय का अर्थ है बड़ी-बड़ी स्वाभाविक लोकमर्यादा से ऊपर उठी, लोकसीमा में न बनी उक्ति, अर्थात् कवि का कथन। इस प्रकार अतिशयोक्ति में कवि उस मृष्टि की रचना करता है, जो विधाता के नियमों से बड़ी मृष्टि से भिन्न है, जो सर्वथा उसकी अपनी कल्पित सृष्टि है। अतिशयोक्ति में कवि निरकुश होता है और अपनी कल्पना में विधाता की सृष्टि के नियमों से बंधा नहीं होता है। अतिशयोक्ति में साधारण कथनप्रकार से भिन्नता होने के कारण वैचित्र्य आता है और वैचित्र्य के अलंकारों का बीज होने के कारण अतिशयोक्ति सब अलंकारों की जननी मानी गई है। जैसे वण्डी ने कहा है—

वागीशहताभुक्तिमिमामतिशयाह्वयम् ।

—का० आ० २ २२०

भामह ने अतिशयोक्ति का उल्लेख किया है, परन्तु उसने इसके भेदों का विवेचन नहीं किया। उद्भूट ने इसके ४ भेद बताए हैं। रुय्यक, विश्वनाथ, जगन्नाथ ने इसके ५ भेद प्रतिपादित किए हैं।

विश्वनाथ ने अतिशयोक्ति का लक्षण दिया है—

सिद्धत्वेऽप्यवसायस्यातिशयोक्तिनिर्गच्छते ।

भेदेऽप्यभेद सम्बन्धेऽसम्बन्धस्तद्विपर्ययो ।

वोर्वापर्यात्पय कार्यहेतवो सा पञ्चधा ततः ॥

—सा० द० १० ४६-४७

वतिपय उदाहरण देखिए—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

तत्त्वं पूषन्नपावन् सत्यधर्माय दृष्टये ॥

—ईश० १५

इस मन्त्र में उपमानभूत सत्य के द्वारा ब्रह्म का निगरण होने से अतिशयोक्ति अलंकार है ।

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यर्मानि नबिबेत प्रजानन् ।

अनन्तलोकात्मिमयो प्रतिष्ठां बिद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥

—वठ० १. १४

यहां उपमान गुहा ने उपमेय हृदय को निगीर्ण कर लिया है, अतः इस मन्त्र में रूपवातिशयोक्ति अलंकार है ।

एतद्भुत्वा सपरिगृह्य मर्त्यं प्रवृह्य धर्म्यमनुमेतमाप्य ।

स मोदते मोदनीयं हि सद्यथा विवृतं सद्य नबिबेतस मग्ये ॥

—वठ० २. १३

इस मन्त्र के अन्तिम पाद में उपमान सद्य के द्वारा उपमेय ब्रह्म (वपीमवन) का निगरण होने से यहाँ रूपवातिशयोक्ति अलंकार है ।

पुरमेवावशाद्वारमजस्यावचचेतसः ।

अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते एतद्वं तत् ॥

—वठ० ५. १

इस मन्त्र में पुरम् तथा एवावशाद्वारम् उपमानों ने शरीर तथा इन्द्रिया इन उपमेयों का निगरण कर लिया है, अतः यहाँ रूपवातिशयोक्ति अलंकार है ।

॥ सर्वत्र सर्वविशेष्य महिमा भूवि ।

दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येव व्योम्यात्मा प्रनिष्ठितः ॥

—मु० २ २ ७

इस मन्त्र में व्योम्नि पद द्वारा हृद्-आकाश निर्गोर्ण होने से रूपकानिशयोक्ति अलकार है ।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽजीराया शोचति मुह्यमानः ।

जुष्ट यज्ञ पश्यत्यन्वमीशमस्य महिमानमिति वीनशोकः ॥

—मु० ३ १ २

यहां उपमानभूत वृक्ष के द्वारा उपमेयभूत ब्रह्मति निर्गोर्ण होने से रूपकानिशयोक्ति अलकार है ।

बृहस्पत इत्यमरश्चिन्त्यत्य सूक्ष्माण्य तन्मूषनवर विमानि ।

दूरात्सुदूरे तविहान्तिके च पर्यतिष्ठेव निह्नि गुहायाम् ॥

—मु० ३ १ ७

यहां भी गुहा उपमान से बृद्धि उपमेय को निर्गोर्ण कर रखा है, अतः रूपकानिशयोक्ति अलकार है ।

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यग्रे आपन्नः । तमशनापि-
पामाभ्यामन्ववाजंत् । ता एतन्मूषन—आपन्न न प्रजानीहि । यस्मिन्
प्रनिष्ठिता अन्नमशमेनि ॥

—ऐत० १ २. १

इस मन्त्र में उपमानभूत मूषन द्वारा उपमेय रूप समार निर्गोर्ण है, अतः यहाँ भी रूपकानिशयोक्ति है ।

य एवाभी तपति तमुद्गीयमुपासीत । उद्यन्वा एव प्रजाप्य उद्गापति ।
उद्यन्मो मयमपहन्ति । अपहन्ता ह वै मयस्य तमसो भवति य एव वेदः ॥

—छा० १ ३. १

यहाँ तमोरूप उपमान से अविशारूप उपमेय निर्गोर्ण होने के कारण रूपकानिशयोक्ति अलकार है ।

रूप रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय । इन्द्रो मायाभि
पुद्गरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरस्य शता दशेति । अयं वं हृदयोऽयं वं दश व
सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च । तदेतद ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम् ।
अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभू ।

—श्वे० २ ५ १९

यहां हरि (यश्व) रूप उपमान के द्वारा इन्द्रिय रूप उपमेय
निर्णीत है, अतः रूपवातिशयोक्ति है ।

सर्वाग्नीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन् हसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्षुः ।

पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥

—श्वे० १ ६

इस मन्त्र में जीव पर हस का आरोप तथा सरोवर पर ब्रह्म चक्षु
का आरोप है । उपमानभूत हस तथा ब्रह्मचक्षु ने उपमेयभूत जीव तथा
सरोवर को निर्णीत कर लिया है, अतः यहाँ रूपवातिशयोक्ति
अलंकार है ।

मघद्वारे पुरे देही हसो तेसायते बहि ।

वसो सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥

—श्वे० ३ १८

इस मन्त्र में उपमानभूत हस ने उपमेयभूत आत्मा को निर्णीत
कर लिया है, अतः रूपवातिशयोक्ति अलंकार है ।

अणोरणीमान् महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तो ।

तमश्रन्तु पश्यति शीतशोको धातुप्रगाढा महिमानधीशम् ॥

—श्वे० ३ २०

इस मन्त्र में उपमेयस्वरूप अन्तःकरण को उपमान गुहा ने
निर्णीत कर लिया है, अतः रूपवातिशयोक्ति अलंकार है ।

एवंकं नास बहूधा विपुर्वन्नस्मिन् शोत्रे सहस्रायेव देव ।

भूय मृष्ट्या पतयस्तथेऽस्य सर्वाधिपायं द्रुते महात्मा ॥

—श्वे० ५ ३

इस मन्त्र में भी रूपकातिशयोक्ति अलंकार है। यहा उपमानभूत जात (फन्दा) से माया रूप उपमेय निगोर्ण है।

यदा चर्मवेदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवा ।

तदा देवभविताय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

—श्वे० ६ २०

यहा असम्बन्ध में सम्बन्ध का वर्णन किया गया है कि जब मानव आकाश को चर्म के समान लपेट लेंगे, तब वे ईश्वर को जाने बिना दुःखों से मुक्त हो जाएंगे। अतः यहा सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार है।

१.४.१४. दीपक

दीपक उन चार अलंकारों में है, जिनका भरत मुनि ने उल्लेख किया है। दीपक शब्द की व्युत्पत्ति ✓ दीप्-प्रकाशित करना—धातु से है। जो प्रकाशित करता है वह दीपक है। दीपक अलंकार को दीपक इस लिए कहा जाता है कि जैसे दीपक घर को प्रकाशित करने के साथ-साथ घर के बाहर भी प्रकाश देता है, उसी प्रकार दीपक अलंकार में भी शब्द एक स्थान पर ही स्थित होकर समस्त वाक्य को दीपित करता है। जैसे एक वस्तु को प्रकाशित करने के लिए प्रयुक्त दीपक अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है, वैसे ही दीपक में एक पदार्थ से सम्बद्ध पदार्थ अन्य पदार्थों से भी सम्बद्ध हो जाता है। जैसा, यामन श्लोकोकर ने दीपक को स्पष्ट करते हुए कहा है—

प्रस्तुतैकनिष्ठः समानो धर्मः प्रतयावप्यतः (अप्रस्तुतेऽपि) उपकरोति प्रसादार्थमारोपितो दीपो रम्यायामिवेति दीपसाम्यमिति भावः ।^१

भरत के बाद भामह, दण्डी, वामन, उद्भट, रुद्रट आदि सभी परवर्ती आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है। विश्वनाथ ने दीपक का लक्षण दिया है—

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु नियच्छते ।

अथ कारकमेकं स्यादनेकासु धियासु चेत् ॥

—सा० दा० १० ४९

१. अन्यत्र द्रष्टव्य —न० २.२०, ३.१, ४.६, ४७, ६.१४

२. मम्मट, काव्यप्रकाश, बालबोधिनी टीका, १६६४, पृ० ६२६

यहा विश्वनाथ ने दीपक के दो रूपों का निर्देश किया है। (१) जहा अग्रस्तुत तथा प्रस्तुत का एक धर्म से सम्बन्ध हो वहा दीपक होता है, तथा (२) जहा कारक एक हो और उसका अनेक क्रियाप्रो मे सम्बन्ध हो वहा भी दीपक होता है। परन्तु जो आचार्य दीपक मे औपम्य की अभिव्यक्ति को आवश्यक मानते हैं, उनकी दृष्टि मे दीपक का दूसरा भेद सम्भव नहीं है। परन्तु, आलकारिको मे दीपक के दोनो ही रूप प्रचलित हैं।

उपनिषदों मे इस अलकार के उदाहरण निम्न प्रकार से मिलते हैं—

प्राण देवा अनुप्राणति मनुष्या पशवरश्च ये ।

प्राणो हि भूतानामायु तस्मात्सर्वायुषमुच्यते ॥

—तै० २ ३ १

इस मन्त्र मे अग्रस्तुत देव और प्रस्तुत मनुष्यादि का एक ही धर्म प्राणन क्रिया के साथ सम्बन्ध होने से दीपक अलकार है।

न जायते क्षियते वा विपरिचिन्नाय कुतरिचिन्नं बभूव कश्चित् ।

अजो नित्य शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

—कठ० २ १८

इस मन्त्र मे विपरिचित इस एक कारक का जायते, क्षियते, बभूव, हन्यते इन अनेक क्रियाप्रो के साथ सम्बन्ध होने से दीपक अलकार है।

इसी प्रकार,

स य एवमेतद्व्यतरभाजो प्रोत वेद, वृहद्वर्चस्यन्नादो भवति ।
सर्वमापुरेति । ज्योतीर्भवति । महान् प्रजया पशुभिर्भवति । महान् कीर्त्या । न
प्रत्यङ्महिमाचाभेन निष्ठीवेत । तव्यतम् ॥

—छा० २ १२ २

इस मन्त्र मे रथन्तरमाम को अग्नि मे अनुस्यूत जानने वाले पुरुष—कारक—का वृद्धतेज से सम्पन्न होना, अन्न वा भोजना होना, पूर्ण जीवन वा उपभाग करना, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करना, प्रजा, पशुओं और कीर्ति के कारण महान् होना, जैसी अनेक क्रियाप्रो के साथ सम्बन्ध दिशाया गया है, अतः यहा दीपक अलकार है।

यच्च स्वभावात् पचति विश्वयोनिं पाच्यार्थं सर्वान् परिणामयेत् ।

सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको भूणश्च सर्वान् विनिर्माणयेत् ॥

—श्वे० ५ ५

इस मन्त्र में एक ही कर्त्ता—परमात्मा—प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध को निष्पन्न करना, परिणामयोग्य पदार्थों को परिणत करना, विश्व-नियमन, सत्त्वादि समस्त गुणों की कार्यों में नियुक्ति, ये अनेक क्रियाएँ कर रहा है, अतः यहाँ दीपक अलंकार है ।

प्राणो ब्रह्मेति ध्यजानात् । प्राणावधेयं उल्लिख्यमानि भूतानि जायन्ते । प्राणेन जातानि जीवन्ति । प्राणं प्रपन्नमिहसप्तविंशतीति ।

—तै० ३ ३

उपर्युक्त मन्त्र में भूतानि इस एक कारक का जायन्ते, जीवन्ति, प्रपन्ति, अभिसप्तविंशति इन् अनेक नित्याद्यों के साथ सम्बन्ध है, अतः यहाँ दीपक अलंकार है ।^१

१४१५. तुल्ययोगिता

पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषा वा यदा भवेत् ।

एकधर्माभिस्तम्बन्धं स्यात्तदा तुल्ययोगिता ॥

—सा० द० १० ४८

केवल प्रस्तुत या केवल अप्रस्तुत पदार्थों का जब एक धर्म से सम्बन्ध होता है, तब वह तुल्ययोगिता अलंकार कहलाता है । यह धर्म कहीं गुणरूप होता है और कहीं क्रियारूप । यथा—

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽश्मात्स्यन्दन्ते तिल्यश्च सर्वरूपा ।

अतश्च सर्वा ओषधयो रतश्च येनैव भूर्नस्तिष्ठत्ये ह्यन्तरात्मा ॥

—मु० २ १ ९

इस मन्त्र में अनेक प्रस्तुत पदार्थों—समुद्र, गिरय, तिल्यश्च, ओषधय एव रत का एक धर्म (क्रिया) स्थन्दन्ते से सम्बन्ध होने के कारण तुल्ययोगिता अलंकार है ।

१ धन्यश्च द्रष्टव्यः—तै० ३. २-६, छा० २ १३ २. २ १४. २, २ १५ २. २ १६ २, २ १७ २, २ १८ २, २. १९. २, २. २०. २।

जिनमे सादृश्य व्यंग्य होता है । अतः ये गम्य औपम्यमूलक अलंकार हैं ।

दृष्ट अन्तः (प्रकृतस्य वस्तुन उदाहरणदर्शनेन निश्चयः) यत्र स दृष्टान्तः । जो बात कही जा रही है उसे धर्मसहित उदाहरण द्वारा पुष्ट कर देना दृष्टान्त है । जो बात हम कहते हैं, उसे दृष्टान्त द्वारा हम पुष्ट करते हैं, जिससे सन्देह न रहे और हमारे कथन का निश्चय हो । दृष्टान्त से कथन का निश्चय हो जाता है । अतः दृष्टान्त में निश्चय के कारण इसे दृष्टान्त कहते हैं । दार्ष्टान्तिके सन्निधयस्यार्थस्यात्र निश्चयदर्शनाय दृष्टान्तः । जैसे कवि कहता है—'नायक को देखते ही नायिका का कामदेव से सत्तप्त मन शान्त हो जाता है ।' फिर वह अपने कथन की पुष्टि में उदाहरण देता है—'चन्द्रमा को देखने पर कुमुदिनी का पुष्प खिल उठता है ।' इस प्रकार कथन का दूसरे कथन से निश्चय हो जाने के कारण दृष्टान्त अलंकार है । यद्यपि दृष्टान्त में निश्चय का भाव होता है, परन्तु दोनों कथनों में विम्बप्रतिविम्बभाव भी होता है, और दोनों कथनों में सादृश्य गम्यरूप में प्रतीत होता है । जिस प्रकार चन्द्रमा को देखकर कुमुदिनी खिल उठती है, उसी प्रकार नायक को देखकर नायिका प्रसन्न हो उठती है । यह औपम्य व्यंग्य रूप में ही अवभासित है । इन दोनों वाक्यों में परस्पर विम्ब-प्रतिविम्ब भाव है, अतः यहा दृष्टान्त अलंकार है ।

सर्वप्रथम उद्भट ने इसे काव्य-दृष्टान्त के रूप में स्वीकार किया । दृष्टान्त नाम में स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र में यह अलंकार तर्कशास्त्र के प्रभाव से आया, क्योंकि न्याय में अनुमान प्रक्रिया में दृष्टान्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

विश्वनाथ ने दृष्टान्त का लक्षण दिया है—

दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुन प्रतिविम्बनम् ।

—सा० दा० १०. ५१

यथा—

तद्यथा मक्षिका मधुकुंदराजानमुत्क्रामन् सर्वं एवोत्क्रामन्ते । तस्मिन् च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्ते, एवं वाङ्मनश्चक्षु धोत च ॥

—प्रश्न० २. ४

—जिस प्रकार मधुकरराज (मधुमक्खियों के सरदार) ॥ उत्क्रमण करने पर सभी मक्खिया उड़ जाती हैं और उसके बँठ जाने पर सभी बँठ जाती हैं, उसी प्रकार वाक्, मन, चक्षु और श्रोत्रादि भी प्राण ॥ साथ उठे और बँठे ।

उपरिलिखित मन्त्र में प्राण तथा मधुकरराज के उत्क्रमण तथा प्रतिष्ठान में समानधर्म का प्रतिबिम्बन होने से यहाँ पर दृष्टान्त प्रलकार है ।

इसी प्रकार देखिए,

आत्मन एव प्राणो जायते । धर्मेण पुरुषं द्यामंतस्मिन्नेतदाततम् ।
मनोऽग्निहृतेनापात्यस्मिन्द्युरीरे ॥

—प्रश्न० ३ ३

स यथेमा नष्ट इयन्वमाना समुद्रायणा समुद्र प्राप्यास्त गच्छन्ति, मिच्छेते तामा नामरूपे, समुद्र इत्येव प्रोच्यते । एवमेवास्त्य परित्यज्य रिमा धोदशकला पुरुषायणा, पुरुष प्राप्यास्त गच्छन्ति, मिच्छेते चासां नामरूपे, पुरुष इत्येव प्रोच्यते । स एषोऽज्ञसोऽमृतो भवति ॥

—प्रश्न० ६ ५

इस मन्त्र में समुद्र की घोर बहनी हुई नदिया तथा परित्यक्ता की सोलह कलाओं के समानधर्म में त्रिम्बप्रतिबिम्बभाव होने से दृष्टान्त प्रलकार है ।

तान् तत्र मृत्युर्धया भस्मयमुदके परिपश्येत्, एव पर्ययायदृष्टि सान्नि यन्तुषि । ते तु विस्वोर्ध्वा ऋष सांनो यन्तुष स्वरमेव प्राविशन् ॥

—छा० १ ४ ३

यहाँ मृत्यु के द्वारा मनुष्य का अपने जान में फसाने की प्रिया की मछुए के द्वारा गहरे जल के भीतर में मछली को फसाने के दृष्टान्त द्वारा अभिव्यक्त किए जाने के कारण दृष्टान्त प्रलकार है ।

इसी प्रकार,

स यथा सङ्गुनि सूत्रेण प्रबद्धो दिश दिश पतितवान्यत्राऽन्यतनमन्त्रवा बधनमेवोपधत्ते । एवमेव छानु सोम्य तमनो दिश दिश पतितवान्यत्राऽन्यतनमन्त्रवा प्राणमेवोपधत्ते । प्राणबधन हि सोम्य मन इति ॥

—छा० ६ ८ २

इस मन्त्र में भी दृष्टान्त प्रलकार है ।

प्राणो वा आत्मा मुपान् यथा वा दूरा नाभी समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितम् ।

—आ० ७ १५ १

इस मन्त्र में रयचक्र की नाभि में अरो के समर्पित होने तथा प्राण में सम्पूर्ण जगत् के समर्पित होने की क्रिया में विम्बप्रतिविम्बभाव होने में यहा दृष्टान्त अलंकार है ।

त यथा सैव्यप्रखिल्य जरेके प्रास्त जवकमेवानुवितोषेत न हात्पोवग्रहणा-
दैव स्यात् । यतो यत्तस्त्वाददीत सबभमेवैव वा अर इव महद् भूतमनन्तमपार
विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्पाय तान्येवानुविनस्यति । न त्रेत्य सज्ञाऽस्तीत्यरे
ब्रह्मीर्नोति होवाच याज्ञवल्क्य ॥

—बृ० २ ४ १२

इस मन्त्र में जल में लवण के लीन हो जाने तथा विज्ञान घन में महद्भूत के लीन होने में विम्बप्रतिविम्बभाव है, अतः यहा दृष्टान्त अलंकार है ।

और भी,

सवयास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिप्य धान्न महत्य पक्षौ
सतपार्थव भ्रियते । एवमेवाय पुरुष एनस्मा अन्ताय धावति । पत्र सुप्तो न कश्चन
काम कामयते न कचन स्वप्न पश्यति ॥

—बृ० ४ ३ १९

इस मन्त्र में आकाश में श्येन या सुपर्ण के आन्त हो जाने पर पौंसले की ओर दौड़ने तथा खिन्न हुए पुरुष (जीवात्मा) के परमात्मा की ओर उन्मुख होने में विम्बप्रतिविम्बभाव होने से दृष्टान्त अलंकार है ।

यथैव विम्ब मृदयोपतिप्त तेजोभय आजते तत्सुधान्तम ।

तद्वाऽऽत्मतत्त्व प्रसमीक्ष्य देही एक कृतायो भवने बोतशोक ॥

—श्वे० ० १४

—जिम प्रकार मिट्टी से लिपा हुआ पिण्ड (विम्ब=सुवर्ण पिण्ड, सुवर्णोप शाकरभाष्य) तोषण किए जाने पर तेजोभय होकर चमकने लगता है,

उसी प्रकार देहधारी जीव आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर अद्वितीय, कृतकृत्य और शोधरहित हो जाता है ।

इस मन्त्र में शोधित सुवर्णपिण्ड तथा आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करने वाले जीव में विम्बप्रतिविम्बभाव की योजना के कारण दृष्टान्त अलंकार है ।

यहां उपमानोपमेय-भाव में पूर्ण साम्य नहीं है, क्योंकि मिट्टी से बना हुआ सुवर्णखण्ड स्वच्छ किए जाने पर केवल चमकता भर है किन्तु अविद्या से मुक्त होने पर जीव परमात्मस्वरूप ही हो जाता है । अतः यहां उपमा अलंकार नहीं माना जा सकता ।

सकल्पनस्पर्शनवृष्टिमोहैर्वासांभुवृष्ट्या चात्मविवृद्धिजम् ।

कर्मानुगान्यनुप्रमेण देही स्थानेषु रूपान्यभितप्रपद्यते ॥

—श्वे० ५ ११

—जिस प्रकार अन्न और जल के सेवन में शरीर की वृद्धि होती है, वैसे ही सकल्प, स्पर्श, दशन और मोह से (जन्म होते हैं) फिर) यह देही प्रमत्त (विभिन्न) योनियों में जाकर उन जन्मों के अनुसार रूप धारण करता है ।

यहां पर अन्न, जल आदि के सेवन से होने वाली शरीर की वृद्धि में तथा विविध योनिगत जन्मों के अनुसार देही के द्वारा रूप धारण करने में विम्बप्रतिविम्बभाव विद्यमान है, अतः दृष्टान्त अलंकार है ।^१

१४१८ निदर्शना

निदर्शना भी गम्य-ग्रीपम्यमूलक अलंकार है । इसमें भी दृष्टान्त तथा प्रतियस्तूपमा के समान दो वाक्य होने हैं । इन दो वाक्यों में सादृश्य इव, यथा आदि सादृश्यमूलक शब्दों से व्यक्त नहीं किया जाता, अपितु व्यजित हाता है । निदर्शना में दो वाक्यार्थों में परस्पर गम्यन्ध बाधित या अवबाधित होकर सादृश्य में पर्यवसित होना है । निदर्शना में भी दृष्टान्त के समान दो वाक्यार्थों में परस्पर विम्बप्रतिविम्बभाव होता है । दोनों में अन्तर यह है कि दृष्टान्त में दोनों वाक्य स्वतंत्र

होते हैं, एक दूसरे पर अवलम्बित नहीं, परन्तु निदर्शना में वाक्य एक दूसरे पर अवलम्बित रहते हैं और वे प्रायः यदि, यत्, तत् आदि योजकों से जुड़े रहते हैं। दृष्टान्त में धर्मसहित वस्तुओं में विम्ब-प्रतिविम्ब-भाव होता है, परन्तु निदर्शना में यह आवश्यक नहीं।

निदर्शना या निदर्शनम् का अर्थ है—सकेत करना। इसमें पहिले एक बात कही जाती है और तब सकेत देकर उसे स्पष्ट किया जाता है, जैसा कि इसकी व्युत्पत्ति से स्पष्ट है—

निर्दिष्ट्य वशं सादृश्यप्रचटनं निदर्शना । निदर्शं दृष्टान्तकरणम् ।

निदर्शना को बोध-दर्शना भी कहा जाता है, क्योंकि इस अलंकार में किसी प्राकृतिक तत्त्व के निदर्शन से कोई न कोई शिक्षा दी जाती है।

निदर्शना भामह के समय से प्रचलित अलंकार है। इसके बाव दण्डी, उद्भट आदि आचार्यों ने भी इसके स्वरूप पर अपनी दृष्टि से प्रकाश डाला है। रूयक, विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने सम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिबन्धना तथा असम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिबन्धना, एकवाक्यगा, अनेकवाक्यगा आदि रूपों में निदर्शना का विस्तार से विवेचन किया है।

विश्वनाथ ने निदर्शना का लक्षण दिया है—

सम्भवानुसम्बन्धोऽसम्भवान्वापि कुत्रचित् ।

यत्र विम्बानुविम्बत्व बोधयेत् सा निदर्शना ॥

—सा० द० १० ५२

यथा—

उत्तिष्ठत माघत प्राप्य वरान्निबोधत ।

सुरस्य धारा निगिता दुरत्यया, दुर्गं ययस्तत्कथयो वरन्ति ॥

—कठ० ३ १४

इस मन्त्र में उत्तरे की धारा तथा मार्ग की दुर्गमता का परस्पर सम्बन्ध असम्भव होते हुए भी उनका सादृश्य (सम्बन्ध) विम्बप्रतिविम्ब-भाव से स्थापित किया गया है। जिस प्रकार छुरे की धारा तीक्ष्ण तथा दुम्तर होती है, तत्त्वज्ञानी लोग आत्मज्ञान के मार्ग को वैसा ही दुर्गम वतलाते हैं, अतः यहाँ निदर्शना अलंकार है।

यथा—

स पर्यगाच्छुक्मकायमद्रणमस्नाविर शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनोषी परिमू स्वपशूपात्तप्यतोऽर्पान् ध्वजघाञ्जास्वरोऽप्यु-समाप्य ॥
—ईश० ८

इस मन्त्र में ईश्वर के सभी विशेषणों के साभिप्राय अर्थात् उस के गुणों के छोटक होने से परिकर अलंकार है ।

पोतोदका जघत्तृणा कुण्डबोहा निरिन्द्रिया ।

अनन्दा नाम ते सोऽनास्तान्त गच्छति ता वदन् ॥

—कठ० १ ३

यहां सामर्थ्यहीन, मरणास्तन गौए दान में देना पाप है, इस बात पर बल देने के लिए गौओं के पोतोदका, जघत्तृणा, कुण्ड-बोहा, निरिन्द्रिया साभिप्राय विशेषण प्रयुक्त हुए हैं, अतः यहां परिकर अलंकार है ।

स त्वमग्निं स्वयंमग्नेषि मृत्यो प्रब्रूहि त्व अद्वावाय मह्यम् ।

स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे बरेण ॥

—कठ० १ १३

यहां अद्वावाय यह सार्थक विशेषण है, क्योंकि अद्वावान् ही रहस्यपूर्ण उपदेश का अधिकारी होता है । अद्वावांस्तमने तनम् ।' इस कारण यहां भी परिकर-अलंकार है ।

दिश्यो ह्यमूर्तं पुण्यं तवाहाम्यन्तरी ह्यज ।

अप्राणो ह्यमना शुद्धो ह्यमरात्परतः पर ॥

—मु० २ १ २

इस मन्त्र में ब्रह्म के स्वरूप व शक्ति के छोटक सभी विशेषण साभिप्राय प्रयुक्त होने से परिकर अलंकार है ।

एष सर्वोत्तर । एष सर्वज्ञ । एषोऽन्तर्यामी । एष योनिः सर्वस्य ।
ममवाप्स्यमी हि भूतानाम् ।

—मा० ६

यहां ईश्वर की सत्ता व शक्ति के द्योतक होने से सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, भक्त्यामी, योनि तथा सर्वस्य प्रभवाप्ययौ ये सभी विशेषण साभिप्राय हैं, अतः परिकर अलंकार है ।

॥ हीयाचाजातशत्रु — प्रतिलोम चेतछद ब्राह्मण क्षत्रियमुपेयाद् बह्य मे वक्ष्यन्मीनि । ध्येय स्वा क्षयिष्यामीनि । स पाणावादायोत्तस्थौ । तौ ह पुरुष सुप्तमाजगमतु । समेतैर्नामिरामन्त्रपांचके बृहन् पाण्डरवात् सोम राजग्निति । स मोत्तस्थौ । स पाणिनापेय बोधयाचकार । स होत्तस्थौ ।

—वृ० २ १ १५

इस मन्त्र में बृहन् पाण्डरवात्, सोम, राजन् आदि विशेषण प्रशंसा-बोधक होने से साभिप्राय प्रयुक्त है, जिससे वह पुरुष अपनी महिमा सुनकर उठ पड़े, अतः यहां परिकर अलंकार है ।

एकध्वानुदृष्टव्यमेतदप्रमेय ध्रुवम् ।

विरज पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुव ॥

—वृ० ४ ४ २०

यहां अह्य के लिए अप्रमेयम्, ध्रुवम्, विरज, अज आदि साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग हुआ है, अतः परिकर अलंकार है ।

स बृहन्नालाकृतिभिः परोऽप्यी यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्ततेऽप्यम् ।

धर्मावह पापनुद भगेश ज्ञात्वाऽऽत्मस्यममृतं विरवधाम ॥

—श्वे० ६ ६

यहां धर्मावहम्, पापनुदम्, भगेशम् आदि विशेषण साभिप्राय होने से परिकर अलंकार है ।^१

१.४ २० परिकरांकुर

जैना वि नाम से ही स्पष्ट है, यह अलंकार परिवर अलंकार से उत्पन्न हुआ है । परिवर अलंकार में विशेषणों का साभिप्राय प्रयोग

१ अथर्व ऋष्टव्य — बट० २ १२, २ १८, मां० ७, वृ० ६ १.१-२, श्वे० ४ २१, ६.७, ६ १६

होता है, परन्तु परिकराकुर में विशेष्य साभिप्राय होता है। अतः परिकर के लक्षण में केवल विशेष्य पद को हटाकर विशेष्य पद का प्रक्षेप करने से परिकराकुर असंकार का लक्षण बन जाता है। इस प्रकार विशेष्य का साभिप्राय प्रयोग परिकराकुर असंकार है।

मम्मट तथा विश्वनाथ ने परिकराकुर का उल्लेख नहीं किया। यह परवर्ती प्रालंकारिको की कल्पना है। अप्ययदीक्षित ने परिकराकुर का लक्षण दिया है—

साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत्परिकराकुरः ॥

—कुवलयानन्द ६३

कुछ उदाहरण देखिए,

तदभ्यद्रवत् । तमभ्यद्रवत्कोऽस्मीति । अग्निर्वा अहमस्मीत्यग्नौ जातयेवा वा अहमस्मीति ॥

—केन० ३. ४

इस मन्त्र में जातयेवा (समस्त पदार्थों को जलाने वाला) साभिप्राय विशेष्य है, अतः यहाँ परिकराकुर असंकार है।

तदभ्यद्रवत् । तमभ्यद्रवत्कोऽस्मीति । वायुर्वा अहमस्मीत्यग्नौ जातयेवा वा अहमस्मीति ॥

—केन० ३. ५

यहाँ मैं केवल वायु नहीं, अपितु मातरिवा—सूत्रात्मा वायु, मातरि (अन्तरिक्ष में) श्वयन्त (विचरण करने वाला) हूँ, इस प्रकार साभिप्राय विशेष्य का प्रयोग होने से परिकराकुर असंकार है।

तद् तद्वनं माम् । तद्वनमित्युपासितव्यम् । स य एतदेव वेद जमि हूँ सर्वानि भूतानि सवाञ्छन्ति ॥

—केन० ४. ६

यहाँ वनम्—वननीय, भजनीय—साभिप्राय विशेष्य के कारण परिकराकुर असंकार है। वनम् ✓ वन् (समवर्ती) + अच् का प्रयोग ब्रह्म की अतिशय भजनीयता का चोतक है।

मावि सनिहितं गृहाचर नाम महत्पदमर्च्यतत्सर्वापत्तम् ।

एजत्प्राणान्निमिषच्च (यदेतज्ज्ञानं स तदसद्वरेण्यम्) ।

परं विज्ञानाच्चरिष्ठं प्रनानाम् ॥

—मु० २ २ १

इस मन्त्र मे गुहावरम (हृदयरूपी गुहा मे स्थित) साभिप्राय विरोध्य के कारण परिकराकुर अलकार है ।

अन्न हि भूताना ज्येष्ठम् । तस्मान्सर्वौषधमुच्यते । सर्वं च तेऽन्नमाप्नुवन्ति । येऽन्नं ब्रह्मोपासते ।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि जातान्यन्नेन वर्धन्ते ।

अद्यनेजति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते ॥

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयान्, अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय । तैर्नैव पूर्ण । स वा एष पुरुषविष्ट एव । तस्य पुरुषविष्टनामन्वय पुरुषविष्टः । तस्य प्राण एव शिरः । व्यानो इक्षिणः पक्षः । अपान उत्तरः पक्षः । आकाश आत्मा । पृथिवी पृथग् प्रतिष्ठा ।

—तै० २ २

यहा अन्नम्—अद्यते अति च सार्यक विरोध्य है । इसका अभिप्राय है कि अन्न सम्पूर्ण प्राणियों का भोज्य है और उनका भोक्ता भी । अतः महा परिकराकुर अलकार है ।

स एतमेव सीमान विदार्थयत्वा द्वारा प्रापद्यत । संपा विद्वृतिर्नाम द्वा । तदेतन्नान्दनम् । तस्य त्रय आवसथास्त्रय स्वप्ना अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति ॥

—ऐत० १ ३ १२

इस मन्त्र मे कहा गया है कि आत्मा सीमा (मूर्धा) को विदीर्ण कर इसी द्वार से देह में प्रविष्ट हुआ, अतः इस द्वार का नाम विद्वृति है, यह परमेश्वर का स्थान अर्थात् मार्ग हाने से परमानन्द का हतु है, अतः नान्दन कहनाता है । इस प्रकार विद्वृति और नान्दन सार्यर विरोध्य होने में महा परिकराकुर अलकार है ।

तस्मादिदं त्री नाम । इदं त्री ह वै नाम । तस्मिन् त्र सन्निमित्तं इत्यावसथे परोक्षेण । परोक्षप्रिया इव हि देवा, परोक्षप्रिया इव हि देवा ॥

—ऐत० १ ३ १४

प्रत्यक्ष नाम नहीं लेते। वैसे भी परोक्षप्रिया हि देवाः, फिर सम्पूर्ण देवताओं के भी देव का तो कहना ही क्या। देवजन, ऋषि तथा महर्षि नाम को रहस्य से रखते हैं तथा भेद की बात जिगासु को ही कहते हैं।

इस मन्त्र में इन्द्र साभिप्राय विशेष्य है, अतः यहाँ परिकराकुर अलंकार है।

त हागिरा उदगीयमुपासाधकं । एतमु एवाऽऽङ्गिरस मन्यन्तेऽङ्गाना यदस ॥

—छा० १ ० १०

यहाँ अगिरा विशेष्य साभिप्राय है। अगिरा नामक महर्षि प्राण को साधन बनाकर उदगीय-उपासना किया करता था। मुख ने जप, पाठ तथा स्मरण किया करता था, इससे उसका कल्याण हो गया। इस कारण तब से इस प्राण को ही ब्रह्मजानी अगिरा कहते हैं, क्योंकि यह अगो का रस है, सब इन्द्रियों का सार है।

सा वा एषा देवता दूर्नाम । दूर इत्या मृत्युः । दूर ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एव वेद ॥

—वृ० १ ३ ९

इस मन्त्र में प्राणदेवता को दूर्नाम अर्थात् दूर, इस प्रकार विन्यास कहा गया है। इस प्राणदेवता से मृत्यु अर्थात् आसक्ति रूप पाप दूर है। प्राण अससर्गर्गर्मी है, अतः समीपस्थ होने पर भी इससे मृत्यु की दूरता है, सो दूर इस प्रकार ही इसकी प्रसिद्धि है। इस प्रकार प्राण की विगुद्धि बतलाई गई है (तुलनीय शाकुरमाप्य)। यहाँ दूर्नाम सार्थक विशेष्य होने से यहाँ परिकराकुर अलंकार है।

वृत्तवासाकिर्हानूचानो गार्ध आत स होवावाजातयात्र कारयन्—ब्रह्म ते व्रवाणीति । स होवावाजातयात्र—सहस्रमेतस्या वाचि बद्ध, जनको जनक इति वं जना धावन्तीति ॥

—वृ० २ १ ९

यहाँ जनको जनकः साभिप्राय विशेष्य है, जिसका तात्पर्य है 'जनक बड़ा दानी है, जनक बड़ा श्रोता है' अर्थात् 'जनक देने की इच्छा वाला है, जनक ब्रह्मतत्त्व के श्रवण की इच्छा वाला है।' अतः, यहाँ परिकराकुर अलंकार है।

वृत्तमे घनव इति । अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च
 घोरश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवः । एतेषु हीद सर्वं यमु हितमिति
 तस्माद्वसव इति ॥

—श्वे० ३ ९. ३

इस मन्त्र में 'वासयोग्य' अथवा 'निवामस्थान' अर्थ होने में
 बस्ये मायंक विज्ञेय्य है । जगदिद सर्वं वामयन्ति वसन्ति च (देखिए
 शाकल्यभाष्य) । अतः यहाँ परिकरातुर अलंकार है ।

या ते इद्र शिवा तनूरपोराज्यापकाशिनो ।

तया नस्तनुवा शतमया गिरिशन्तामिषारशीहि ॥

—श्वे० ३ ५

इस मन्त्र में गिरिशन्त—गिरौ स्थित्वा श सुष्ठु तनोतीति—मायंक
 विशेष्य है कि 'ह पर्वता पर शान्ति करने वाले परमेश्वर । हमारी ओर
 भी मग्नमय दृष्टिपात करो अर्थात् हमें कन्यागण्य में युक्त करो,
 अतः यहाँ परिकरातुर अलंकार है ।

यामिषु गिरिशन्त हस्ते विमर्ष्यन्तवे ।

शिवा गिरिष ता क्रुह मा हिनी पुरुष जगन् ॥

—श्वे० ३. ६

है ? इसका समाधान है कि यदि कारणरूप प्रस्तुत अर्थ गम्य है, तो उसे कार्यरूप में अभिहित किया जा सकता है। जैसे हयग्रीव राक्षस ने स्वर्ग को जीत लिया, इस कारण को न कह कर 'हयग्रीव ने इन्द्राणी के केशों का अलंकार करने वाली पारिजात की मजरियों को मसल डाला'^१, इस कार्य का अभिधान किया गया है। यहाँ स्वर्गविजय-रूप व्याप्य का कार्यरूप—पारिजातमजरीमर्दन—से अभिधान किया गया है। अतः यहाँ पर्यायोक्त है।

पर्यायोक्त अलंकार की निरुक्ति से ही इसका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। पर्यायोक्त प्रकारेण, प्रकारान्तरेण, कथनं पर्यायोक्तम्।

भामह तथा दण्ठो ने पर्यायोक्त को स्वीकार किया है, परन्तु वामन ने उल्लेख नहीं किया। रुद्रट ने इन्हीं पर्यायों के नाम से स्वीकार किया है। बाद में रुय्यक, विश्वनाथ, जगन्नाथ, अण्णमदीक्षित आदि आलंकारिकों ने इसका विवेचन किया है।

विश्वनाथ ने पर्यायोक्त का लक्षण दिया है—

पर्यायोक्तं यदा भव्या गम्यमेवाभिधीयते ।

—सां० द० १०. ६१

यथा—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक नेमा विद्युतो भाति कुतोऽयमाग्निः ।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

—श्वे० ६. १४

इस मन्त्र में ऋषि का कथ्य है कि—

—सब तत्त्वों का प्रकाशक होने पर भी सूर्य से ब्रह्म को प्रकाशित करने का सामर्थ्य नहीं, न ही चन्द्र, तारे तथा विद्युत् में यह शक्ति है, वेचारी (साधारण) अग्नि को तो बिजान ही क्या ? भासमान जगत् भी स्वतः प्रकाशरूप परमात्मा

१. दृष्टास्ता नन्दने शन्याः केशतन्मोगतातिता ।

सावत पारिजातस्य मञ्जरी यस्य मञ्जरी ॥

(रुय्यक, अलं० सर्व० पृ० १४२)

के प्रकाशित होने से ही प्रकाशित हो रहा है। जिस प्रकार सोहा आदि पदार्थ जलाने वाले अग्नि के साथ ही (उसी की शक्ति से) जलाते हैं, स्वतः नहीं, उसी प्रकार ये सब सूर्यादि ब्रह्म के प्रकाश अर्थात् दीप्ति से ही प्रकाशित होते हैं।

यह ब्रह्म के स्वतः प्रकाशत्वरूप गम्य अर्थ को प्रकारान्तर से वाच्य कर दिया गया है अतः पर्यायोक्त अलंकार है।

१४२२. अर्थान्तरन्यास

एक अर्थ अर्थात् कथन के समर्थन में जब दूसरे अर्थ अर्थात् कथन को समर्थक के रूप में रखा जाता है, तब अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है जैसा कि इसकी निरुक्ति से स्पष्ट है—अर्थ्यंते वर्णनीयावेन इष्यते इति अर्थं प्रस्तुतम्। अन्यं अर्थं अर्थान्तरम् अप्रस्तुतम्। तस्य प्रस्तुतसमर्थकत्वेन न्यास अर्थान्तरन्यासः। अर्थान्तरन्यास अलंकार में भी दृष्टान्त, प्रति-वस्तूपमा आदि अलंकारों के समान दो वाक्य रहते हैं। इसमें एक समर्थ्य वाक्य होता है अर्थात् ऐसा वाक्य जिसका समर्थन करना इष्ट होता है, और दूसरा वाक्य समर्थक होता है जो कही हुई बात का समर्थन करता है। अर्थान्तरन्यास में भी यद्यपि दो वाक्यों में परस्पर औपम्य की प्रतीति व्यंग्य के रूप में होती है तथापि कवि का उद्देश्य सादृश्य की अपेक्षा समर्थन की ओर अधिक रहता है। अतः, अर्थान्तरन्यास का धीज दो वाक्यों में परस्पर समर्थ्य-समर्थकभाव है। एक कथन का समर्थन कई प्रकार से हो सकता है अतः अर्थान्तरन्यास के कई भेद हो जाते हैं। जैसे कभी सामान्य से विशेष या विशेष से सामान्य, कभी कार्य से कारण या कारण में कार्य का समर्थन होता है। यह समर्थन कभी माध्यम से तथा कभी वैधर्म्य में होता है। इस प्रकार अर्थान्तरन्यास के प्रमुख आठ भेद हो जाते हैं।

विश्वनाथ का अर्थान्तरन्यास का लक्षण है—

सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि ।

कार्यञ्च कारणेनेह कार्येण च समर्थ्यते ॥

साधर्म्येणोत्तरेणार्थान्तरन्यासोऽप्युच्यते । ततः ॥

—सा० द० १० ६१ ६२

यथा—

भूरमेते विपरीते विपुची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।

विद्याभीष्मिन् न विविचेतन् मय्ये न त्वा नामा बहुषोऽस्तोमुपत ॥

—यट० २ ४

—जो विद्या और अविद्या नाम से जानी गई हैं, वे दोनों एक दूसरे से विपरीत तथा भिन्न मार्ग की से जाने वाली हैं। मैं तुझ नचिकेता को विद्या-भिलाषी मानता हूँ, क्योंकि बहुत ही कामनाएँ भी तुझे नहीं लुप्त सकें।

यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

अविद्यायामन्तरै वर्तमाना स्वयधीरा पण्डितमग्नमाना ।

जह्पग्नमाना परिधन्ति मूढा अग्धेनैव जीयमाना यथान्धा ॥

—मु० १ २ ८

इस मन्त्र में अग्धेनैव जीयमाना यथान्धा इस विशेष वाक्य से सामान्य वाक्य का समर्थन हुआ है, अतः यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

सवित्रा प्रसवेन जुपेत बह्व पूर्णम् ।

तत्र योनि कृण्वते न हि ते पूर्वमक्षिपत् ॥

—इवे० २ ७

—सवितादेव के रत्न प्रलय—प्रकाश के प्रकट होने—से ब्रह्म का स्रजन करना चाहिए, उसी प्रकाश में आत्म जागृति का स्थान करना चाहिए। इससे उपासक के कर्तकर्म (शुभकर्म) का गारा नहीं होता।

यहाँ पूर्वनिर्दिष्ट अर्थों की पुष्टि के लिए अन्तिम वाक्य (अर्थ) दिया गया है, अतः यहाँ भी अर्थान्तरन्यास अलंकार स्पष्ट है।

१.५. विरोधमूलक अलंकार

जिन अलंकारों का आधार विरुद्ध वचन या उक्ति होता है, वे विरोधमूलक अलंकार कहलाते हैं जिनमें विभावना तथा विशेषोक्ति । इन अलंकारों में विरोधवचन दिखाई देता है, क्योंकि कवि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति या कारण के रहते हुए भी कार्य की अनुत्पत्ति बताता है । इस प्रकार विरोधाश्रित वचन कहने से वे विरोधमूलक अलंकार कहलाते हैं ।

१.५ १. विरोध

विरोध का अभिप्राय एक आशय के साथ असम्बद्ध रूप से प्रतिपादित दो पदार्थों के ऐसे परस्पर सम्बन्ध का अभिप्राय है जो कि उम आशय पर उनमें आभासित हुआ करता है । यह विरोध प्रत्यक्ष अथवा वास्तविक तथा अप्रत्यक्ष अथवा आपाततः प्रतीत दो रूपों का हो सकता है । इनमें वास्तविक विरोध तो एक महादोष है, किन्तु आपाततः प्रतीत विरोध अथवा विरोधाभास एक अलंकार अथवा वैचित्र्य है । विरोध का क्षेत्र विभावना एवं विशेषोक्ति के क्षेत्र से बड़ी अधिक व्यापक है । विरोध के नाम में ही स्पष्ट है कि इसमें विपमता का पुट रहता है । परन्तु इस विपमता का निराकरण होना अत्यन्त आवश्यक है । इसीलिए विरोधाभास के मूल में प्रायः श्लेष अलंकार रहता है, जिससे विपमता लाने वाले अर्थ का परित्याग करके अन्य उपयोगी अर्थ ग्रहण कर लिया जाता है । इसमें विपमता का परिहार हो जाता है ।

विरोध प्राचीन अलंकार है जिसका प्रारम्भ भामह के समय से हुआ । दण्डी आदि परवर्ती आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है । कुछ आचार्य इसे केवल विरोध तथा कुछ विरोधाभास कहने हैं ।

विरोधाभास की व्युत्पत्ति है—आ ईषद् भारत इत्याभास ।
विरोधश्चासावाभासरचेति विरोधाभास ।

विश्वनाथ का विरोधाभास का लक्षण है—

जातिरचतुर्भिर्जातित्याद्यैर्गुणैः गुणादिभिस्तत्त्रयम् ।

त्रियं त्रियाद्व्याख्या यद् द्रव्यं द्रव्येण वा मिथ ॥

विद्वदमिव भावेन विरोधोऽन्यो दशादृतिः ।

इस मन्त्र के शुष्मन्तोऽपि न विद्युः भाग मे विरोध प्रतीत होता है । परन्तु, कुसस्कार से अस्त जन आत्मवर्णन सुनकर भी नहीं समझते कि आत्मा क्या है, इस प्रकार यहा विरोध का आभास मात्र होने से विरोधाभास अलंकार है ।

आसीन दूर व्रजति शयान याति सर्वत ।

कस्त भवामह देव मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥

—कठ० २ २१

इस मन्त्र में आसीनो व्रजति तथा शयानो याति मे त्रिया से त्रिया का विरोध, एवं मह अमहम् मे गुण से गुण के विरोध की प्रतीतिमात्र होने से विरोधाभास अलंकार है ।

इसी प्रकार,

अशरीर शरीरेष्वनवस्येष्टवस्थितम् ।

महाग्त विभुमात्मान मत्वा धीरो न शोचति ॥

—कठ० २. २२

यहा ईश्वर का शरीरो मे अशरीरी तथा चलितो मे निश्चल रूप मानना विरुद्ध सा प्रतीत हो रहा है, पर आत्मा मे नित्यत्व एवं सर्वव्यापकत्वादि गुणों के होने से विशेष का परिहार हो जाता है, अतः विरोधाभास अलंकार है ।

दूरच्च तद्विषमचिन्त्यरूप सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतर विमाति ।

दूरात्सुदूरे तद्विहान्तिके च षण्पत्तिवहेव निहित गुहायाम् ॥

—मु० ३ १ ७

यहा भगवान् को दूर से दूर तथा समीप से समीप मानने में विरोध-सा प्रतीत हो रहा है, पर सर्वव्यापित्व धर्म के कारण विरोध का परिहार हो जान से विरोधाभास अलंकार है ।

इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् के पष्ठ अनुवाक में, ब्रह्म को सत्-अमत्, निरात अनिरुक्ता अर्थात् निर्वचन करने योग्य और अनिर्वचनीय, नित्यन अनित्यन, अर्थात् आश्रय-अनाश्रय, विज्ञान-अविज्ञान, मत् अमत् आदि परस्परविरोधी भासमान तत्त्वों से युक्त वर्णित करने से विरोधाभास अलंकार है । यथा—

असन्नेव स भवति । असद् ब्रह्मेति वेद चेत् ।

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेव ततो विदुरिति ॥

*** तदनुप्रविश्य । सन्न स्वप्नावभवत् । निरुक्त चानिरुक्त च ।
नित्यन चानित्यन च । विज्ञान चाविज्ञान च । सत्यं चानृतं च । सत्यमभवत् ।
पदिच किंच । तत्सत्यमिषाचक्षते ॥

—तै० २ ६

• हा३वु हा३वु हा३वु । अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् ।
अहमन्नावो३हमन्नावो३हमन्नाव ॥

—तै० ३. १०

इमं मन्त्र मे अहमन्नम्-अहमन्नाव —मैं अन्न हूँ, मैं ही अन्न को खाने
वाला हूँ अर्थात् मैं ही भोग्य हूँ और भोक्ता भी—मे विरोध प्रतीत हो
रहा है, परन्तु ब्रह्मवेत्ता द्वारा सर्व ब्रह्ममय अणु मानने से विरोध का
परिहार हो जाता है ।

अत्र पितृऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा भदेवा देवा
भवेवा । अत्र स्तनोऽन्तेनो भवति घ्नून्हाऽघ्नून्हा चाण्डालोऽचाण्डाल पीडकसोऽ-
पीडकस भ्रमणोऽभ्रमणस्तापसोऽतापस । अन्वागत पुष्पेनानन्वागत पापेन ।
तीर्णो हि तदा सर्वोऽद्योक्तान् हृदयस्य भवति ॥

—यु० ४ ३ २२

इस मन्त्र मे सुषुप्तिस्थ आत्मा की निमग तथा निशोक
स्थिति का वर्णन विरुद्ध धर्मों से करने के कारण विरोधाभास
अलंकार है ।

सर्वेन्द्रियगुणाभास सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।

सर्वस्य प्रभुमीशान सर्वस्य शरणं गृह्णते ॥

—श्वे० ३ १७

इस मन्त्र मे समस्त इन्द्रियवृत्तियों के रूप मे अवभासित
होता हुआ भी परमात्मा का सर्वेन्द्रिय-विवर्जित रूप मे वर्णन होने से
विरोधाभास अलंकार है ।

त्व स्त्री ॥ पुमानसि त्व कुमार उत वा कुमारी ।

त्व जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्व जलतो भवसि विश्वतोमुख ॥

—श्वे० ४. ३

इस मन्त्र में एक ही पदार्थ को स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी इत्यादि परस्परविरुद्ध धर्मों से वर्णन करने पर आपाततः पदार्थों के सम्बन्ध में विरोध-सा प्रतीत हो रहा है, पर जब उस ईश्वरतत्त्व की सर्वत्र विद्यमानता का ध्यान किया जाता है, तो मूल रूप से सब में उसके विद्यमान होने से सभी विरुद्ध धर्मों का परिहार हो जाता है। अतः यहाँ विराधाभास अलंकार है।^१

१.५२ विभावना

विभावना विरोधमूलक अलंकार है। लोक में साधारण नियम है कि कारण स वाय उत्पन्न होता है, जैसे मिट्टी से घड़ा बनता है। कार्य कारण के इस लोकप्रसिद्ध नियम का विभावना अलंकार में व्यतिश्रम दखा जाता है। यहाँ कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति प्रदर्शित की जाती है। ऐसी बात नहीं कि कारण विरक्तुल ही नहीं होता। वह होता तो है, परन्तु लोकप्रसिद्ध नहीं होता। अतः एव आपाततः प्रतीत होता है कि कारण के बिना कार्य हो रहा है। परन्तु, वास्तव में गुप्त कारण वहाँ रहता अवश्य है। जैसे 'नायिका अग्नि के बिना ही जल रही है' वाक्य में दाह के कारण 'अग्नि के बिना ही' दाहस्वी कार्य की उत्पत्ति बताई गई है। अग्नि दाह का लोकप्रसिद्ध कारण है। कवि इस लोकप्रसिद्ध कारण कार्य के नियम का उल्लंघन करके चमत्कार उत्पन्न करता है। परन्तु, वस्तुतः कविकल्पित कारण तो यहाँ है ही। नायिका के दाह का कारण नायक का वियाग है, जिसे कवि ने गुप्त रखकर अपन कथन में वैषम्य उत्पन्न किया है। इस प्रकार विभावना तथा इस वग के विशेषोक्ति आदि सभी अलंकारों में विषमता उत्पन्न करके कवि वैचित्र्य लाने का प्रयास करता है। परन्तु, कारण-कार्य के नियम के उल्लंघन की यह विषमता आपाततः ही प्रतीत होती है। गूढ़ कारण को जान लेने पर यह विषमता दूर हो जाती है। चाहे लोकप्रसिद्ध कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति प्रदर्शित की गई हो तथापि कविकल्पित गूढ़ कारण तो वहाँ अवश्य रहता है। कारण के कविकल्पित होने के कारण ही इस अलंकार में सौन्दर्य आ जाता है।

विभावना की व्युत्पत्ति से इस अलंकार का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है—

विभावयति कारणांतर—अप्रसिद्धकारण, विदग्धमात्रवेद्य कारण—
करयसीति विभावना अथवा विभावयने अनुमीयने कारणान्तर प्रसिद्धात् कारणाद
अयत् कारण पत्त्याम् ।

विश्वनाथ ने विभावना का लक्षण दिया है—

विभावना विना हेतु कार्यात्पत्तिर्यदुच्यते ।

उपतानुपतनिमित्तत्वाद् द्विधा सा परिकीर्तिता ॥

—सा० व० १० ६६

यथा—

न तत्र रथा न रथघोषा न पन्थानो भवन्ति । अथ रथान् रथयोगान्
पथं सृजते । न तस्मान्गन्धं मुदं प्रमुदो भवति । अथानन्वाग्मुदं प्रमुदं सृजते ।
न तत्र वेशान्ता पुष्करिण्यं स्रवणयो भवति । अथ वेशान्तान् पुष्करिणी
स्रवन्ती सृजते । स हि कर्ता ॥

—दृ० ४ ३ १०

यहां कारण के बिना कार्यात्पत्ति का वर्णन होने से विभावना अलंकार है ।

इसी प्रकार,

अवाणिबाहो जवलो ब्रहीता परत्यवन्तु स शृणोरवकर्णं ।

स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरस्य पृथक् भहन्तम् ॥

—श्वे० ३. १९

इस मन्त्र में बिना हाथ-पैर के ग्रहण तथा चलन शक्ति, बिना नेत्रों के दर्शन शक्ति, बिना कानों के श्रवण सामर्थ्य आदि का वर्णन होने से विभावना अलंकार है ।

१.५ ३ विशेषोक्ति

विभावना से ठीक विपरीत विशेषोक्ति अलंकार है । विभावना में कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति दिखाई जाती है, तो विशेषोक्ति में कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ कारण के रहते हुए भी कार्य का न होना दिखाया जाता है । जब कवि अपनी प्रतिभा से अनुप्राणित ऐसी बात

कहता है जहां कारण के होने पर भी कार्य का अभाव हो, तो वहां विशेषोक्ति अलंकार होता है। निष्कर्ष यह है कि प्रसिद्ध कारण के विद्यमान होने पर भी उसके फल के अभाव का कथन विशेषोक्ति अलंकार है। कारण के कार्य को उत्पन्न करने में मग्न रहते भी यदि कार्य नहीं हो रहा है तो इसका अर्थ है कि अवश्य कुछ न कुछ कार्य की उत्पत्ति में बाधक है। परन्तु कवि कार्य की उत्पत्ति के बाधक इस तत्त्व का उल्लेख न करके अपने कथन में वैचित्र्य लाना चाहता है, जो कि प्रत्येक अलंकार का प्राण है। सहृदय पाठक इस अव्यक्त बाधक तत्त्व की कल्पना कर लेते हैं, तो प्रसिद्ध कारण के रहते भी कार्य की उत्पत्ति का अवधान उन्हें अमंगल नहीं लगता। प्रयुक्त इस विषम कथन में चमत्कार की प्रतीति होती है।

विश्वनाथ का विशेषोक्ति का लक्षण है—

सति हेतौ कलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा।

—सा० द० १० ६७

यथा—

न धेनोरास्य हन्यते । नास्य साम्येण स्याम । धनन्ति स्वेवंनम् । विच्छा-
दयतीव । अग्रिमवेत्तेव भवति । अपि रोदितोव । नाहमत्र मोम्य पदयामीति ॥

—छा० = १० २

इस मन्त्र में हनन, साम्यता आदि के हेतु के विद्यमान होने पर भी वऽ, स्याम आदि फल नहीं हो रहा, अतः यहां विशेषोक्ति अलंकार है।

१. ५ ४. विषम

जत्र अननुम्प पदार्थों का परस्पर समर्थ वर्णन हो तब विषम अलंकार होता है। जैसे 'युद्धभूमि में प्रतापी राजा की तमालपत्र की भी नीली कृपाण शरद् श्रुतु की चादनी की भांति धवन यश का विस्तार कर रही है।' यहां नीली तलवार तथा धवल यश इन दो विरोधी पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है, अतः विषम अलंकार है। यह मम अलंकार में ठीक विपरीत है। अतः तमालवार का विपर्याय स्वरूप हो विरमालवार का सामान्य लक्षण है।

विषम के तीन रूप हैं—(१) कारण और कार्य के गुण अथवा उनकी क्रियाओं का परस्पर विरुद्ध रूप में वर्णन करना, (२) आरब्ध कार्य की विफलता और उसके साथ ही उसमें अनर्थ की उत्पत्ति, (३) दो विरुद्ध पदार्थों का परस्पर उपनिबन्धन । विषम के इन तीनों रूपों में असमता को उभारा जाता है । इससे स्पष्ट है कि विषम का सौन्दर्य विरोध के कारण है और यह इस दृष्टि से विरोधालंकार का प्रसव है जिसने बाद में अपना स्वतन्त्र स्थान बना लिया । विषम में कविप्रतिभा का सस्पृशं आवश्यक है, क्योंकि स्वभावतः अननुरूप पदार्थों के ससर्ग का वर्णन अनुचित है ।

विश्वनाथ ने विषम का लक्षण दिया है—

गुणी क्रिये वा यत्स्याता विरुद्धे हेतुकार्ययो ।
पट्टारम्भस्य वंक्तव्यमनर्थस्य च सम्भव ।
विरूपयो सघटना या च तद्विषम मतम् ॥

—सा० द० १० ७०

यथा—

असद्वा इदमत्र आसीत् ततो वा सदभाष्यत ।
तदात्मना स्वयमनुष्ठित तस्मात्तत्सुष्ठुतमुच्यते ॥

—तै० २ ७

इस मन्त्र में असत् से सत् की उत्पत्ति का वर्णन होने से कार्य और कारण के परस्परविरुद्ध गुणों का उल्लेख है, अतः यहाँ विषम अलंकार है ।

१५५ अन्योन्य

अन्योन्य अलंकार का स्वरूप इसके नाम से ही स्पष्ट है । जब दो पदार्थ एक क्रिया के द्वारा परस्पर कारण होते हैं, तब अन्योन्य अलंकार होता है । जैसे, 'हसो को शोभा सरोवरो से होती है और सरोवरो की शोभा हसो से होती है ।' इस प्रकार ये दोनों परस्पर अपने को शोभित करते हैं । यहाँ हम और सरोवर दोनों पदार्थ एक क्रिया—शोभा—के द्वारा एक दूसरे के गौरव का कारण हैं अतः अन्योन्य अलंकार है । यहाँ परस्पर क्रिया से परस्पर उपकारजनन से वैचित्र्य के कारण अलंकार है । निष्कर्ष यह है कि अन्योन्य में दो पदार्थ परस्पर कारण-

कार्य रूप में विद्यमान रहते हैं। ठीक यही बात उपमेयोपमा में भी होती है। उपमेयोपमा में इसका यह भेद है कि इसमें दो पदार्थ कारण-कार्यरूप में विद्यमान रहते हैं पर उपमेयोपमा में उपमेय-उपमान भाव से। परन्तु वहाँ एक पदार्थ जो पहले उपमान होता है फिर वही उपमेय बन जाता है। उभी प्रकार अन्योन्य में भी जो पदार्थ पहिले कार्य था वही कारण बन जाता है। अतः इन दोनों अलंकारों का बीज पारस्पर्यजनक है, और यही उन अलंकारों के जन्मकार का आधार है। ध्यान रहे कि 'अन्योन्य' विरोधगन्धी अलंकार है, क्योंकि दो पदार्थों की एक क्रिया के द्वारा परस्परजनकता विरुद्ध-सी प्रतीत होती है।

विश्वनाथ ने इसका लक्षण दिया है—

अन्योन्यमुपयोरेकक्रियाया कारण मिथ ।

—सा० द० १० ७३

यथा—

अहं ह देवेभ्यो विजिग्ये । तस्य हि ब्रह्मणो विजिग्ये देवा अमहीयन्त ।
त ऐशान्तात्माकमेवाय विजिग्योऽस्माकमेवाय भविष्येति ॥

—केन० ३ १

इस मन्त्र में अहं तथा देवताओं का परस्पर एक दूसरे का महिमायुक्त करने का वर्णन होने से अन्योन्यालंकार है।

नापमात्मा प्रवचनेन तम्यो न मेघया न बहुना ध्रुतेन ।

यमेवैव ध्रुते तेन तम्यस्तत्त्वैव आत्मा विवृणुते तन् स्वाम् ॥

—कठ० २ ३

यहाँ आत्मा तथा साधक के परस्पर वर्णन तथा प्राप्ति का वर्णन होने से अन्योन्य अलंकार स्पष्ट है।

प्राणं शरीरं प्रतिष्ठितम् । शरीरे प्राणं प्रतिष्ठितम् । ... ॥

—तै० ३ ७

... अप्यु उक्षेति प्रतिष्ठितम् । ज्योतिष्याय प्रतिष्ठितम् । ... ॥

—तै० ३ ८

... पृथिव्यामाश्रयं प्रतिष्ठितम् । आश्रयो पृथिवी प्रतिष्ठितम् । ... ॥

—तै० ३. ९

उपयुक्त तीनों मन्त्रों में क्रमशः प्राण शरीरम्, शरीरे प्राण, अम्बु-ज्योतिः ज्योतिरप्याय, पृथिव्यामाकाश आकाशे पृथिवी आदि वर्णन में एक दूसरे को एक दूसरे पर आश्रित मानने से अन्योन्यालंकार है १। १। ५। ६।

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु । अस्त्ये पृथिव्ये सर्वाणि भूतानि मधु ।
प्रचायमस्या पृथिव्या तेजोमयोऽमृतमयं पुण्यो यश्चायमध्यात्म शरीरस्तेजोमयो-
ऽमृतमयं पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा । इदममृतमिदं घटोद सर्वम् ।

—वृ० २ ५ १

इस मन्त्र में पृथिवी द्वारा मधु एवं मधु द्वारा पृथिवी की सुखप्रदता का वर्णन है। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे का पोषक होने के कारण यहाँ अन्योन्य अलंकार है।

१५६ विशेष

विशेष विरोधमूलक अलंकार है। इसका कोई सामान्य लक्षण नहीं दिया गया है। परन्तु इसके लक्षण में आचार्यों ने इसके तीन भेदों का प्रतिपादन किया है। इसमें प्रतीत होता है कि तीन अलंकार मिलकर एक 'विशेष' अलंकार हो गए हैं। अलंकार-सर्वस्व की टीका में भी कहा गया है कि विशेषश्चात्र त्रयो न पुनरेकस्त्रिविधः । तल्लक्षणस्य भिन्नत्वात् ।^१ इनमें पहिला विशेष वह है जहाँ प्रतिष्ठ आधार के बिना आधेय की स्थिति दिखाई जाए। दूसरा विशेष वह है जहाँ एक ही वस्तु का अनेक स्थानों में, एक ही समय में वर्णन किया जाए। तीसरा विशेष वह है जहाँ एक कार्य करते हुए अन्य अशक्य कार्य का भी दैववश सम्पादन हो जाए। उच्यते न विशेष के इन तीन रूपों को विवृत करते हुए कहा है—इहाधारमन्तरेणाधेयं न वर्तत इति स्थितावपि यस्तत्परिहारेणाधेयस्योपनिबन्ध स एको विशेषः । पञ्चकं वस्तु परिमितं युगपदनेकधा वर्तमानं धियते स द्वितीयो विशेषः । पञ्च किञ्चिदारभमाणस्यातन्माप्यवस्तुवन्तरणं स तृतीयो विशेषः ।^२

विश्वनाथ ने विशेष का लक्षण दिया है—

यदाधेयमनाधारमेकं चानेकगोचरम् ॥

किञ्चित्प्रकुर्वत कार्यमशक्यस्येतरस्य वा

कार्यस्य करणं देवादिशेषस्त्रिविधस्ततः ॥

—शा० द० १० ७३-७४

१. धन० सर्व०, विमर्षिणी टीका०, पृ० १७२

२. रम्यक, अल० सर्व०, पृ० १७१

विशेष नवीन अलंकार है, क्योंकि भामह, दण्डी, उद्भट और वामन ने इसका उल्लेख नहीं किया। रद्वट ही प्रथम आलंकारिक हैं, जिन्होंने इसका उल्लेख किया है।

वतिपय उदाहरण देखिए—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येदानुपश्यति ।

सर्वंभूनेषु चाऽऽत्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥

—ईश० ६

यहां पर एक ही आत्मतत्त्व की अनेकत्र स्थिति के कारण विशेष अलंकार है।

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्पद्मन्ते निषक् सर्वहृषा ।

अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैव भूर्नस्तिप्यते ह्यतरात्मा ॥

—मु० २. १ ९

यहां वैचित्र्यपूर्ण विधि से कहा गया है कि एक ही आत्मा अथवा ब्रह्म अनेक—समुद्र, पर्वत, नदियों, धन्न, रस आदि—का कारण है और इन अनेकों में विद्यमान है, अतः यहां विशेष अलंकार है।

ब्रह्मवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म परवाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।

अग्रश्चोर्ध्वञ्च प्रसृतं ब्रह्मवेदं विरवमिदं वरिष्ठम् ॥

—मु० २. २. १२

इन मन्त्र में भी एक ब्रह्म की आगे-पीछे, नीचे-ऊपर, दक्षिण-उत्तर आदि अनेकत्र स्थिति के चमत्कारी वर्णन में विशेष अलंकार है।

*** स य एकविं । आत्मात्सोऽहं प्रेत्य । एतमन्नमयमात्मानमुपसत्त्वामनि ।
एतं प्राणमयमात्मानमुपसत्त्वामनि । एतं मनोमयमात्मानमुपसत्त्वामनि । एतं
विज्ञानमयमात्मानमुपसत्त्वामनि । एतमानन्दमयमात्मानमुपसत्त्वामनि ॥

—तै० २. ८

इस मन्त्र में एक ही ज्ञानों द्वारा अनेकत्र—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय शरीर की आत्मा में—सत्त्वमण का अद्भुत वर्णन होने से विशेष अलंकार है।

इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली के सभी अनुवाक और विशेष कर दशम अनुवाक का निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है—

‘ । स पञ्चाय पुरुषे । यश्चासावादित्ये । स एक । स य एवमित् । अस्मात्ल्लोकात् प्रेत्य । एतमन्नमयमात्मानमुपसक्तम् । एत प्राणमयमात्मानमुपसक्तम् । एत मनोमयमात्मानमुपसक्तम् । एत विज्ञानमयमात्मानमुपसक्तम् । एतमानन्दमयमात्मानमुपसक्तम् । इमात्ल्लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसवरन् । एतत् साम पापनास्ते । ॥

—तै० ३ १०

इसी प्रकार,

यो देवो अन्नो यो अणु यो विश्व भुवनमाश्विनेश ।

य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्य देवाय नमो नम ॥

—श्वे० २ १७

इस मन्त्र में एक ही देव का अनेक स्थानों में वर्णन होने से विशेष अलंकार है ।

यहाँ उल्लेख अलंकार की आन्ति नहीं होनी चाहिए । उल्लेख में एक ही वस्तु अनेक रूप से दिखाई जाती है, परन्तु इस मन्त्र में देव की अनेकरूपता न दिखाकर उसकी अनेकत्र स्थिति का निर्देश है ।

एको हि ह्यत्रो न द्वितीयाय तत्पूर्वं इमात्ल्लोकानीयात् ईशानीमि ।

प्रत्यङ्मनास्तिष्ठति सच्चकोच्चान्तकाले सद्यस्य विरवा भुवनानि गोपा ॥

—श्वे० ३ २

यहाँ पर एक ही रत्न की अनेकत्र स्थिति का वर्णन होने के कारण विशेष अलंकार है ।

सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात् ।

स भूमि विश्वतो ब्रूवाप्रत्यतिष्ठद्दराद्भुतम् ॥

—श्वे० ३ १४

एक परम पुरुष के अनेक आधार होने से यहाँ विशेष अलंकार है । यहाँ आलंकारिक वर्णन द्वारा परम पुरुष की महिमा (सर्वव्यापकता) स्पष्ट द्योतित हो रही है ।^१

१ अयमत्र द्रष्टव्य —श्वे० ३. ३, ३ १६, ४ ११, ४ १५, २. २

१. ६. शृंगलान्धमूलक अलंकार

१ ६ १ कारणमाला

कारणमाला नाम से ही इस अलंकार का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। कारणों की माला=कारणमाला। जहाँ उत्तरोत्तर वस्तु के लिए पूर्वं पूर्वं वर्णित वस्तु कारण के रूप में उपनिबद्ध हो, वहाँ कारणमाला अलंकार होता है। जैसे, 'विद्वानो की सगति से शास्त्रज्ञान होता है, शास्त्रज्ञान से विनय प्राप्ति और विनय से प्रेम।' यहाँ कारणों की माला है। शास्त्रज्ञान का कारण विद्वानों की सगति, विनय प्राप्ति का कारण शास्त्रज्ञान इत्यादि। इस प्रकार उत्तरोत्तर वर्णित वस्तु के लिए पूर्वं पूर्वं वर्णित वस्तु कारण है। कारणों की यह परम्परा चलती रहती है। अतः कारणमाला की अलंकार-रचना में 'कार्यकारण त्रय' निमित्त रूप है, न कि पदार्थों का शृंगला रूप से उपनिबन्धन। अतः एव कारणमाला यह मार्यक अभिधान है। कारणमाला अलंकार में कार्यकारण त्रय के वैलक्षण्य में ही सौन्दर्य है। जैसा कि रय्यक ने कहा है—

कार्यकारणत्रय एवात्र चादत्तहेतुः ।

—अल० सर्व०, पृ० १७७

भामह, उद्भट, दण्डी, वामन आदि प्राचीन आलंकारिकों में से किसी ने भी कारणमाला का उल्लेख नहीं किया। उद्भट ने ही सर्वप्रथम इसका विवेचन किया है। बाद में भम्मट, रय्यक, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने इसे स्वीकार किया।

विश्वनाथ का कारणमाला का लक्षण है—

पर पर प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता ।

तदा कारणमाला स्यात् ॥

—मा० द० १०. ७६

१ धृत वृत्तधियां सगाज्जायते विनयः धृतान् ।

सोचानुरागो विनयान्न किं सोचानुरागतः ॥

(मा० द०, सर्पा० पातिशाम, पृ० १११)

उपनिषदों में उपलब्ध इसके कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं—

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।

अन्नात्प्राणो मन सत्य लोका कर्मसु चामृतम् ॥

—मु० १ १ ८

इस मन्त्र में पूर्वं पूर्वं वस्तु उत्तर उत्तर वस्तु के प्रति कारण होने से कारणमाला अलंकार है ।

तस्माद्वा एतन्मावात्मन आकाश समन् । आकाशाद्वायु । वायोऽग्निः ।
आग्नेराप । अद्ध्य पृथिवी । पृथिव्या ओषधयः । ओषधीभ्योऽन्नम् ।
अन्नात्पुष्टयः ॥ आ एष पुरुषोऽन्नरसमयः । तस्यैवमेव शिरः । अयं दक्षिण पक्षः ।
अयमुत्तर पक्षः । अयमात्मा । इदं पुच्छं प्रतिष्ठा ॥

—तै० २ १

महा आत्मा (परमात्मा) से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल * इस प्रकार पूर्व पूर्व वस्तु उत्तर उत्तर की उत्पत्ति का कारण होने से कारणमाला अलंकार है ।

तमभ्यतपन् । तस्यामित्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाष्टम् । भुखाद् वाह ।
वायोऽग्निः ॥ नासिके निरभिद्येताम् । नासिकाभ्यां प्राणः । प्राणाद् वायुः ॥
अक्षिणी निरभिद्येताम् । अक्षीभ्यां चक्षुः । चक्षुष आदित्यः ॥ कर्णौ
निरभिद्येताम् । कर्णाभ्यां श्रोत्रम् । श्रोत्रादित्यः ॥ त्वद् निरभिद्यत । त्वचो
लोमानि । लोमभ्य ओषधिवनस्पतयः ॥ हृदयं निरभिद्यत । हृदयात्पुष्पम् ।
मनसश्चन्द्रमा ॥ नाभिर्निरभिद्यत । नाभ्यां अपानः । अपानात्पृष्ठम् ॥
शिरसि निरभिद्यत । शिरसाद्रेतः । रेतस आपः ॥

—ऐत० १. १ ४

इस मन्त्र में भी उपर्युक्त लक्षणानुसार कारणमाला अलंकार ही है ।

प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति । चक्षुषि तृप्यत्यादित्यस्तृप्यति । आदित्ये
तृप्यति शीस्तृप्यति । इति तृप्यन्त्या पत्किञ्च घोरवादिप्रश्चादितिष्ठतस्तृप्यति ।
तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया षष्ठुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥

—छा० ५ १९ २

इस मन्त्र में पूर्व पूर्व शक्ति उत्तर उत्तर शक्ति की तृप्ति में कारण होने से कारणमाला अलंकार है ।

मासेष्य पितृलोकम् । पितृलोकावाकाशम् । आकाशाञ्छाद्रमसम् ।
एष सोमो राजा । तद्देवानामन्नम् । त वेवा भक्षयन्ति ॥

—छा० ५ १०. ४

इस मन्त्र में भी पूर्व पूर्व से उत्तर उत्तर की प्राप्ति के वर्णन से
कारणमाला अलंकार है ।

इसी प्रकार,

आहारशुद्धो सत्त्वशुद्धि । सत्त्वशुद्धो ध्रुवा स्मृतिः । स्मृतिसम्मे
सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष ॥

—छा० ७. २६. २

इस मन्त्र में भी कारणमाला अलंकार है ।

सात्त्वा देव सर्वपाशापहानि क्षीर्णे बत्सेर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।

तस्याभिध्यानात् तृतीय देहभेदे विश्वंरव्यं केवल आप्तकाम ॥

—श्वे० १ ११

यहाँ पूर्व पूर्व वाक्य उत्तर उत्तर के प्रति कारण है । देव को
जानकर सर्वपाश-हानि, पाशों की हानि से जन्म-मृत्यु की हानि, इससे
तृतीय अवस्था (सकल ऐश्वर्य-पद-प्राप्ति), उससे केवल लाभ, इस
प्रकार यहाँ कारणमाला अलंकार है ।

इसी प्रकार,

आरभ्य वर्माणि पुणान्वितानि आवाह्य सर्वान् विनियोजयेद्य ।

तेषामभावे हृतकर्मनाश कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽम्य ॥

—श्वे० ६. ४

यहाँ भी कारणमाला अलंकार स्पष्ट है । ऋषि को इस
अचिन्तित अलंकार-योजना के द्वारा अपने भाव की अभिव्यक्ति में
कितना वैचित्र्यपूर्ण सहयोग मिला है ।^१

१६२ सार

सार का अभिप्राय है निप्यन्द या उत्कर्ष । इस अलंकार
का सार नाम अर्थार्थक है, क्योंकि इसमें किसी वस्तु का धाराधिरोह के

१. अन्यत्र द्रष्टव्य :—मु० २. १. १-८; छा० ४. १७ ७-८, ५. २०. २,
५ २१. २, ८ ॥ १-२

समान उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखाया जाता है। इसमें वस्तुओं की शृंखला होती है जिनमें उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखाते हुए अन्तिम वस्तु में पर्यवसान होता है। जैसे, 'राज्य मे पृथ्वी सार है, पृथ्वी मे नगर, नगर मे महल, महल मे शय्या तथा शय्या मे रत्नसंवत्स-सुन्दरी सार है।' यहाँ वस्तुओं की शृंखला बनाकर उनमें उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्रदर्शित करते हुए सुन्दरी को सब का निष्पन्द=सार=परमोत्कर्ष बताया गया है कि सुन्दरी उत्कर्ष की चरम सीमा है, उससे आगे अन्य कोई वस्तु उत्कृष्ट नहीं। अतः यहाँ सार अलंकार है। हय्यक सार को उदाहर कहते हैं—उत्तरोत्तर-मुत्कर्षणमुदाहरण^१ कारणमाला के समान सार भी शृंखलाबन्ध रूप है।

प्राचीन आलंकारिकों ने सार का उल्लेख नहीं किया है। सर्वप्रथम वट्ट ने इसका लक्षण उपनिबद्ध किया। मम्मट, हय्यक, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि सभी आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है।

विश्वनाथ का सार का लक्षण है—

उत्तरोत्तरमुत्कर्षो वस्तुषु सारमुच्यते ।

—सा० ६० १० ७८

कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य है—

इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्था न्येभ्यश्च पर मत ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् पर ॥

—कठ० ३ १०

इस मन्त्र में पूर्व पूर्व वस्तु की अपेक्षा उत्तर उत्तर वस्तु को सूक्ष्म (उत्कृष्ट) बताया गया है, अतः यहाँ सार अलंकार है।

१. राज्ञे सार वसुधा यत्तुघाणामपि पुर पुरे सौधम् ।

सौधे तल्प तल्पे वराङ्गनामङ्गसर्वस्यम् ॥

(सा- ६०, उपा- शालिग्राम, पृ० ११६)

२. हय्यक, मत- सर्व०, पृ० १७६

इसी प्रकार,

महत परमव्यवयवमव्ययतात पुरुष पर ।

पुण्यान पर किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गति ॥

—कठ० ३ ११

इस मन्त्र मे भी पूर्व पूर्व की अपेक्षा पर पर की सूक्ष्मता का वर्णन होने से सार अलंकार है ।

इन्द्रियेभ्य पर मनो मनस सत्त्वमुत्तमम् ।

सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्ययतमुत्तमम् ॥

—कठ० ६ ७

अव्ययतात् पर पुरुषो व्यापरोऽतिह एव च ।

य क्षारवा मुच्यते जन्तुरमृततय च गच्छति ॥

—कठ० ६ ८

इन मन्त्रा मे भी पूर्व पूर्व वस्तु की अपेक्षा उत्तर उत्तर वस्तु की उत्कृष्टता अथवा प्रबलता का वर्णन है, अतः यहाँ भी सार अलंकार है ।

एषा भूताना पृथिवी रस । पृथिव्या आपो रस । अपामोपधयो रस ।
धोपधीना पुरुषो रस । पुरुषस्य वायुस । वाच ऋषस । ऋच साम रस ।
साम्न् उदगीधो रस ॥ स एष रसानां रसतम परम परार्थोऽष्टमो यदुदगीष ॥

—छा० १ १. २-३

इन मन्त्रा मे पञ्चमहाभूतों का सार पृथिवी, पृथिवी का सार जल, जल का सार ओषधियाँ, ओषधियों का सार पुरुष ... इस प्रकार उत्तरोत्तर वस्तु के उत्कर्ष के वर्णन के कारण सार अलंकार है ।

१. ७. काव्यन्यायमूलक अलंकार

१.७.१ पर्याय

पर्याय का अर्थ है—रुम । पर्यायोप्यसरे रुमे (अमरकोश) । इस अलंकार में एक वस्तु रुम से अनेक में होती है या की जाती है, अतः रुम के कारण इसे पर्याय कहते हैं । सर्वस्वकार ने भी कहा है—अत एव यमाश्रयवात् पर्याय इत्यन्वयार्थमिच्छातम् (पृ० १८९) । तरलटीकाकार का वचन है—पर्यायवान् पर्याय इत्यर्थः । पर्याय का महत्त्व इस बात में है कि एक वस्तु रुमपूर्वक अनेक स्थानों में हो । जब एक वस्तु दूसरे स्थान पर जाती है, तब उसका प्रथम स्थान से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है । जैसे, कुमारसम्भव में सपोलीन भगवती पार्वती के वर्णन में वर्षा की पहनी बूंदों का क्षण भर के लिए पलकों पर टिकना, तदनन्तर होठों पर रुकना, फिर उन्नत स्तनों से टकराना आदि में उन्हीं वर्षाबिन्दुओं की रुमपूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान पर अवस्थिति होने के कारण पर्याय अलंकार है ।^१ केवल एक वस्तु का रुमरा अनेक में अवस्थान ही पर्याय नहीं है, अपितु अनेक वस्तुओं का एक में रुमरा अवस्थान या सम्पादन भी पर्याय है । सर्वस्वकार ने भी कहा है—एकमात्रेयमनेकस्मिन्नाधारे वसिष्ठति स एक पर्याय । एकस्मिन्नाधारे अनेकमाधेय वस्तु द्वितीय पर्याय ।^२

पर्याय अलंकार का प्रारम्भ रुद्रट के समय से है । रुद्रट ने इस अलंकार के दोनों रूपों को स्वीकार किया और फिर परवर्ती सभी आलंकारिकों ने इसे इसी रूप में ग्रहण कर लिया ।

विश्वनाथ का पर्याय का लक्षण सर्वस्वकार से प्रभावित है—

अपिदेकमनेकस्मिन्ननेक संयम प्रमात् ।

भवति त्रिपते वा चेतदा पर्याय इत्यते ॥

—सा० द० १० ८०

१. स्थिता क्षण एकमसु ताडिताधरा अपोधरोत्सेधनिपातचूर्णिता ।

वनीषु तस्या स्थलिता प्रपेदिरे प्रमेण नाभि प्रयमोदविन्दव ॥

(कु० स० १२४)

२. रम्यक, अल० सर्व०, पृ० १८६

यथा—

अपर्वणे यां प्रवदेन ब्रह्माधर्वा तां पुरोवाचांतिरे ब्रह्मविद्याम् ।

स भारद्वाजाय सत्यवहाय ग्राह भारद्वाजोऽगिरसे परावराम् ॥

—मु० १ १ २

इस मन्त्र में एक ही वस्तु—ब्रह्मविद्या—का भिन्न-भिन्न काल में क्रमशः अनेको—अधर्वा, अगिर, भारद्वाजगोत्रीय सत्यवाह, अगिरा—के पास जाने का वर्णन करने से पर्याय अलंकार है ।

एको हसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्नि सलिले सनिबिष्ट ।

तमेव बिबिधाति मृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽप्यनाय ॥

—श्वे० ६ १५

यहाँ एक हस (हन्तृविद्यादिबन्धकारणमिति) अर्थात् परमात्मा के प्रथम से अनेक—भुवन के बीच, ज्योति में तथा जल में—विद्यमान होने के कारण पर्याय अलंकार है ।

१७.२. परिवृत्ति

परिवृत्ति का अर्थ है—विनिमय अर्थात् एक वस्तु को देकर दूसरी वस्तु लेना । तिल देकर तण्डुल लेना विनिमय है । जैसा धामन झलकीकर भी काव्यप्रकाश की टीका (पृ० ६७४) में कहते हैं—परिवर्तन विनिमयकरणम् परिवृत्तिरित्यन्वयैव सत्ता । सर्वस्वभार ने भी विनिमय के भाव को स्पष्ट करते हुए कहा है—विनिमयोऽत्र किञ्चित्पश्यत्वा कस्यचिदा वानम् ।^१ परिवृत्ति अलंकार में यह बात ध्यातव्य है कि वस्तुओं का यह विनिमय कविकल्पना से मण्डित होकर ही अलंकार बना है, अन्यथा तो यह तोरमिद्ध व्यवहार ही माना जाएगा, अलंकार नहीं । जैसे कि 'भीलनी बेर देकर गेहूँ गरीदती है', यह कथन परिवृत्ति अलंकार नहीं है । परिवृत्ति (१) सम (२) न्यून (३) तथा अधिग होने में तीन रूपों में देखी जा सकती है ।

परिवृत्ति का प्रारम्भ भामह से हुआ और बाद में सभी प्रमुख आलंकारिकों ने इसे स्वीकार किया ।

विभवनाय का परिवृत्ति का लक्षण है—

परिवृत्तिविनिमयः समन्युनापिकैर्भवेत् ।

—सा० द० १० ८१

परिवृत्ति में जिन दो वस्तुओं का आदान-प्रदान विवक्षित होता है, उनमें ओपम्य का भाव अन्तर्हित होने से परिवृत्ति का सौन्दर्य अधिक बढ़ जाता है। उपनिषदों में इसका निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है—

जानाम्यहं शेषधिरित्यनित्यं न ह्यधुबं प्राप्यते हि धुबं तत् ।

ततो मया पात्रिकेतश्चित्तोऽग्निरनित्यं त्र्यं प्राप्तावानस्मि नित्यम् ॥

—कठ० २ १०

इस मन्त्र में—अनित्यं त्र्यं प्राप्तावानस्मि नित्यम्—अनित्य द्रव्यों से (कर्मों से) नित्य आत्मा को पाने के वर्णन द्वारा न्यून के साथ उत्कृष्ट का विनिमय होने से परिवृत्ति अलकार है।

१७३ परिसरूपा

परिसरूपा पूर्वमीमांसा का पारिभाषिक शब्द है, जिसे आलकारिकों ने एक अलकार के रूप में ग्रहण किया है। इसके स्वरूप को पूर्वमीमांसा में इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है—विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियम पात्रिके सति । तत्र चान्यत्र च प्राप्ता परिसरूपेति गीयते ॥ वामनाचार्य हालकीकर ने परिसरूपा की व्युत्पत्ति स्पष्ट करते हुए कहा है—परिसरूपोऽत्र वर्जनार्थकः परेवर्जने (८ १ ५) इति पाणिनिस्मृते । सरूपा बुद्धिः । तेन वर्जनबुद्धिः परिसरूपेत्यन्वयः सत्ता ।^१ इसमें यह स्पष्ट होता है कि वर्जन का ज्ञान परिसरूपा है। सर्वस्वकार ने परिसरूपा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है—अस्मचित् परिवर्जनेन कुत्रचित् सरूपानं वर्जनीयत्वेन गणनं परिसरूपा ।^२ आशय यह है कि परिसरूपा अलकार में अन्य की व्यावृत्ति होती

१ का० प्र०, पृ० ७०३

२ रम्यक, धन० सर्व०, पृ० १६३

है। जैसे 'कि भूषण सुदृढमत्र यशो न रत्नम्' में 'ससार में सुदृढ भूषण क्या है, यश न कि रत्न, वहकर रत्न की व्यावृत्ति की गई है। यह व्यावृत्ति या परिवर्जन का भाव ही परिमध्या का प्राण है। यह व्यावृत्ति कभी प्रश्नपूर्वक होती है, जैसे उपर्युक्त उदाहरण में, और कभी विना प्रश्न के भी। इस प्रकार परिमध्या में एक वस्तु के कथन से उसके सदृश किसी दूसरी वस्तु की शब्दत अथवा अर्थत व्यावृत्ति या व्यवच्छेद दिखाया जाता है। परिमध्या के मूल में जब श्लेष अलंकार रहता है, उस समय ही इसका सौन्दर्य पूर्णरूप से खिलता है। सुबन्धु, वाणभट्ट आदि गद्यकारों की परिसध्या तो सहृदयों के गले का हार बनी हुई है।

विश्वनाथ ने परिसध्या का लक्षण दिया है—

प्रश्नादप्रश्नतो वापि कथितास्तुनो भवेत् ।

तादृगव्यवधोहरषेच्छाव्यवधौऽप्यवा तथा ॥

—सा० द० १०. ८२

मम्मट ने (१) प्रश्नपूर्विका (२) अप्रश्नपूर्विका (३) प्रतीयमानव्यवच्छेद्या (४) वाच्यव्यवच्छेद्या के रूप में परिसध्या के ४ भेद स्वीकार किए हैं।

कुछ एक उदाहरण देखिए—

स्वर्गं लोके न भय किञ्चनास्ति न तत्र त्व न जरया बिभेति ।

उभे तीर्त्वाज्ञानायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥

—कठ० १. १२

स्वर्गलोके में भय, यम और बुढ़ापे का निषेध करने निर्देश किया गया है कि इनकी भत्ता भूतों में ही है। अतः यहाँ परिमध्या अलंकार है।

नाविरतो दुःखचित्ताग्नाशान्तो नासमाहितः ।

आशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेननमाप्नुयान् ॥

—कठ० २. २४

इस मन्त्र में विना ही प्रश्न के व्यवच्छेद में अर्थसिद्धि हो रही है कि परमात्मा प्रज्ञान—बुद्धिवाद से अगम्य है। उसकी प्राप्ति

सदाचार, शान्ति, निश्चय तथा स्थिर मन से सम्भव है। इस प्रकार
यहा अर्थसिद्ध व्यावृत्ति के कारण परिसर्या अलंकार है।

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राण पचघ्ना सविदेशः ।

प्राणंश्चित्तं सर्वमोत प्रनाना यस्मिन् विशुद्धे विषयत्येष आत्मा ॥

—मु० ३ १ ९

यहा प्रसंग से इस अर्थ की व्यावृत्ति होती है कि सूक्ष्म परमात्मा
विशुद्ध चित्त के अतिरिक्त अन्य किसी से जानने योग्य नहीं, अतः यहा
परिसर्या अलंकार है। इसी प्रकार,

नायनात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

यमेवैव वृणुते तेन लभ्यस्तत्स्यं आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसी वाऽप्यसिद्धात् ।

एतदपार्ययतते यस्तु विद्वास्तत्स्यं आत्मा विगते बह्व धाम ॥

—मु० ३ २ ३-४

इन मन्त्रों में प्रश्न तो नहीं है, परन्तु नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य, न
मेधया इत्यादि व्यवच्छेद्य शब्दोक्त होने से परिसर्या अलंकार है।

यो वै भूमा तत्सुखम् । नात्मे सुखम् । इति ॥

—छा० ७ २३ १

यहा नात्मे सुखमस्ति व्यवच्छेद्य अर्थ है जिसका शब्द से उपादान
किया गया है, अतः यहा शब्द व्यपोह रूप परिसर्या अलंकार है।

इसी प्रकार,

मा नस्तोके तनये मा न द्राघुवि मा नो गोषु मा नो अखेषु रोरिष ।

शीरान् मा नो रुद्र आसितो वषोर्हविष्मन्तः सधमिन्त्वा हवामहे ॥

—श्वे० ४ २२

इस मन्त्र में बिना प्रश्न के व्यवच्छेद्य अर्थ है कि हमारे शत्रुओं
की हानि कर, न कि हमारी, अतः यहा परिसर्या अलंकार है।

एवमेव,

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समस्तवाच्यधिकश्च द्रव्यते ।
पराऽस्य शक्तिर्विबिधैश्च ध्रुयते स्वाभाविको ज्ञानबलक्रिया च ॥

—श्वे० ६ ८

अपि च,

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेक्षिता मयं च तस्य लिङ्गम् ।
न कारणं करणाधिपाधिषो न चास्य कश्चिज्जनितान् न चाधिप ॥

—श्वे० ६ ९

यहां निषेधात्मक रूप से उस देव के पति, लिङ्ग, कारण आदि का निषेध करके लौकिक व्यवस्थितियों के लिए ही इनकी आवश्यकता सिद्ध की गई है, अतः परिसरण्या अलंकार है ।^१

१ ७.४. अर्थापत्ति

अर्थापत्ति भीमासासप्रत एक प्रमाण है, जिसे साहित्यशास्त्र में अलंकार के रूप में ग्रहण किया गया है । जैसे काव्यलिङ्ग अलंकार तत्वंशास्त्र के लिङ्ग का साहित्यशास्त्र में परिष्कृत रूप है, वैसे ही भीमासको भी अर्थापत्ति भी कविप्रतिभा से अनुप्राणित होकर साहित्यशास्त्र में अलंकार बन गई है । अर्थापत्ति का तात्पर्य उपपाद्य ज्ञान से उपपादक की कल्पना है । जैसे, पीनो वेषवत्तो विना न भुङ्क्ते में देवदत्त की पीनता 'उपपाद्य' है और इसके ज्ञान से रात्रिभोजन की कल्पना 'उपपादक' अर्थापत्ति है ।

अलंकारिकों ने दण्डापूर्विकान्याय से अन्य अर्थ की प्रतीति को अर्थापत्ति अलंकार माना है । 'चूहा लकड़ी खवा गया' इससे अनायास समझ लिया गया कि चूहा लकड़ी पर रमे भाल-भूए भी साथ साथ खा गया । इसी भाँति एक अर्थ से अनायास दूसरे अर्थ की प्रतीति होना अर्थापत्ति है । अर्थापत्ति में कही तो प्राकरणिक अर्थ में अप्राकरणिक अर्थ की आपत्ति अर्थात् अनायास प्रतीति दिखाई देती है, और कही अप्राकरणिक अर्थ से प्राकरणिक अर्थ की प्रतीति होती है ।

भागह, दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों ने इस अलंकार का विवेचन नहीं किया । यहाँ तक कि नवीन आचार्य मम्मट ने भी इसे स्वीकार नहीं किया । उद्योतकारका कथन है कि अर्थापत्ति का अनुमान या अतिशयोक्ति में अन्तर्भाव हो जाने से इसे पृथक् अलंकार मानने की आवश्यकता नहीं है ।

विश्वनाथ ने अर्थापत्ति का लक्षण इस प्रकार किया है—

व्यङ्ग्यार्थान्वापार्थान्मोऽर्थापत्तिरित्युच्यते ।

—सी० द० १०. ८३

उपनिषदों से इसके उदाहरण इस प्रकार दिए जा सकते हैं—

असुर्या नाम ते लोक्य जग्येन तमसाऽऽवृताः ।

तास्ते प्रेत्यामिषश्चक्षुः के के आत्महनो जना ॥

—ईश० ३

असुर-सम्बन्धी लोक अर्थात् जो जन आस्तिक तथा उपासक नहीं और कर्तव्यविमुख हैं, वे आत्मा के अदर्शन रूप अज्ञान-अन्धकार से आच्छादित हैं । एवम्, मौलिक सत्यो को न मानना, आत्मा, परमात्मा और परलोक को नास्ति कहना नास्तिकभाव है, तथा नास्तिक भाव ही आत्महनन है । उक्त मन्त्र में यह अर्थापन्न है । अतः यहाँ अर्थापत्ति अलंकार है ।

अजीर्णताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मह्यं वृषभः स्थः प्रजानन् ।

अभिध्यापन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घं जीविते को रमेत ॥

—कठ० १. २८

इस मन्त्र में को रमेत से यह अर्थापन्न है कि मुक्त आत्मा और विवेकी मनुष्य को असार पदार्थों, अस्थिर सुखों तथा दीर्घायु की इच्छा नहीं होती । अतः यहाँ अर्थापत्ति अलंकार है ।

यस्य ब्रह्मा स सत्रं च उभे भवत ओदनः ।

भृशुर्गर्भोपसेधनं ह इत्या वेद यत्र सः ॥

—कठ० २. २५

यहां क इत्या वेद यत्र स—इस प्रकार के उसे कौन अज्ञ जान सकता है—से अर्थान्तर की सिद्धि होती है कि 'कोई नहीं', अतः यहां अर्थापत्ति अलवार है।

येन रूप रस गन्ध शब्दान् स्पर्शाश्च भंयुनान् ।

एतेनैव विजानाति किमत्र परिसिध्यते ॥

—कठ० ४ ३

इस मन्त्र में किमत्र परिसिध्यते से अर्थान्तर—आत्मज्ञ की सर्वज्ञता—की अर्थबल से सिद्धि होती है कि आत्मज्ञाता मनुष्य के लिए जानने योग्य शेष कुछ भी नहीं रहता। इस प्रकार यहां अर्थापत्ति अलवार है।

नैव वाचा न मनसा प्राप्नु शक्यो न बभूव ।

अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र क्व तनुपपत्त्यते ॥

—कठ० ६ १२

यहां इस अर्थान्तर की प्राप्ति हो रही है कि आत्मोपलब्धि का साधन, मन्-बुद्धि (आस्तिक भाव, श्रद्धा, विश्वास, समाधि) ही है, अन्य नहीं। अतः यहां अर्थापत्ति अलवार है।

१७५ समुच्चय

इस अलवार का समुच्चय नाम सार्यक है। समुच्चय का अर्थ है—मिलना, इकट्ठे होना। इस अलवार में बहुत से कारण खलेकपोतग्याय से इकट्ठे होकर विशेष कार्य को सिद्ध करते हैं, अतः कारणों के समुच्चय के कारण इसे समुच्चय अलवार कहा जाता है। जैसे खलिहान में दाना चुगने के लिए सब कबूतर एक साथ उतरते हैं, वैसे ही किसी कार्य की सिद्धि के लिए सभी कारण युगपद् मिल कर आते हैं। यह अलवार दो रूपों में देखा जाता है—(१) जब किसी कार्य की सिद्धि के लिए एक कारण सक्षम भी हो, फिर भी खलेकपोतग्याय से उसके माघक और भी अनेक कारण एक साथ भवतरित हो जाते हैं, (२) जब दो गुणों, दो त्रियाभों या गुण और त्रिया का एक साथ ही एकत्र उत्पादन अथवा भवस्थान होता है। दोनों ही रक्षाभों में समुच्चय अलवार होना है।

प्राचीन आलकारिको ने समुच्चय का लक्षण नहीं किया है।
संभवतः रुद्रट ही प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने इसकी उद्भावना की है।
उनके बाद मम्मट, रुय्यक आदि आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है।
परन्तु उन्होंने सद्योग, असद्योग तथा सदसद्योग को इसका आधार मानकर
इसके स्वरूप को विशद किया है।

विश्वनाथ के समुच्चय के लक्षण में ये दोनों रूप अन्तर्हित हैं।
उनका लक्षण है—

समुच्चयोऽयमेकस्मिन्सति कार्यस्य साधके ।

खलेकपोतिकाभ्यावासरकरः स्यात्परोऽपि चैत् ॥

गुणौ क्रिये वा युगपत्स्याता यद्वा गुणक्रिये ।

—सा० द० १० ८४-८५

उपनिषदों में इसके निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है—

तत्त्वं तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा । वेदाः सर्वाणानि सत्यमायतनम् ॥

—केन० ४ =

इस मन्त्र में एक साथ तप, दम, कर्म, वेद, वेदांग—इन सबको
ब्राह्मी उपनिषद् की प्रतिष्ठा अर्थात् विद्याप्राप्ति के साधन गिनाने से
समुच्चय अलंकार है।

काली कराक्षी च मनोसबा च सुलोहिता मा च मुधूच्चवर्णा ।

स्फूर्तिगिरी विश्वरुची च देवी तैलायमाना इति सप्त जिह्वा ॥

—मृ० १२४

यहाँ विभिन्न देवियों का एकत्र वर्णन होने से समुच्चय
भलकार है।

तस्माच्च देवा ब्रह्मया सप्रसूता साध्या मनुष्या यशसो वयासि ।

प्राणापानौ प्रोहिषसौ तपश्च भद्रा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिरच ॥

—मृ० २१७

यहाँ खलेकपोतन्याय से अनेक वस्तुओं का एक साथ वर्णन है,
अतः यहाँ समुच्चय अलंकार है।

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्ब्रह्मोऽन्तरिक्षा । पृथिवीं च पृथिवीं
स्पृणोतीति ॥

—तै० १. ७

इस सम्पूर्ण मन्त्र में भी उपर्युक्त विधि से समुच्चय अलंकार है ।

• ... यदेतद् हृदय मनश्चैतत् । सज्ज्ञानमाज्ञान विज्ञान प्रज्ञान मेधा
बुद्धिर्प्रतिमंतिमंमीमांसा जूति स्मृति स्वरूपः कतुरसु कामो बल इति सर्वाण्ये-
वंतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥

—ऐत० ३. २

इस मन्त्र में आत्मा—चेतनासत्ता—की सब सज्ञाओं अथवा परिचायक चिह्नों का एक साथ परिगणन किया गया है, अतः यहाँ समुच्चय अलंकार है ।

काल स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति बिम्बम् ।

सयोग एषो न स्वात्मभावादात्माऽप्यनीश सुखदुःखहेतो ॥

—श्वे० १. २

यहाँ ससार के कारण के प्रसंग में काल, स्वभाव, नियति इत्यादि का एकत्र वर्णन है, अतः समुच्चय अलंकार है ।

सद्युत्पन्नारोग्यमलोलुप्त्वं दर्शनप्रसादः स्वरसौष्टव च ।

गन्ध शुभो मूत्रपुरीषमस्य योगप्रवृत्तिः प्रथमा भवन्ति ॥

—श्वे० २. १३

इस मन्त्र में भी योग में प्रवृत्ति की पहली सिद्धि के परिचायक चिह्नों का एकत्र वर्णन है, अतः यहाँ भी समुच्चय अलंकार है ।

१. ८. तर्कन्यायमूलक अलंकार

वे अलंकार, जिनका आधार भीमासा, न्याय आदि शास्त्रों के नियम या लोकाप्रसिद्ध न्याय होते हैं, तर्कन्यायमूलक अलंकार कहलाते हैं, जैसे काव्यलिङ्ग इत्यादि। तर्कशास्त्र में कार्यकारण या हेतुहेतुमद्भाव का उल्लेख होता है। वहाँ लिङ्ग—धूम—से लिङ्गी—वह्नि—का ज्ञान अनुमान माना जाता है। धूम और वह्नि में लिङ्गलिङ्गीभाव होता है। इसी प्रकार जहाँ कवि पदार्थों या वाक्यार्थों में परस्पर कारण-कार्यभाव प्रदर्शित करता है, वहाँ अलंकार का मूल तर्कन्याय होता है। अतः काव्यलिङ्ग तर्कन्यायमूलक अलंकार है।

१. ८. १. काव्यलिङ्ग

अलंकारशास्त्र में यह नाम तर्कशास्त्र से आया है। न्यायशास्त्र में लिङ्ग उस हेतु या चिह्न को कहते हैं, जिससे साध्य का अनुमान होता है। न्यायशास्त्र का यह लिङ्ग ही जब काव्य के क्षेत्र में आता है, तो अपनी शुद्धता को छोड़कर सज्ज सुन्दर तथा वैचित्र्ययुक्त हो जाता है। तब यह तर्कशास्त्र का पारिभाषिक लिङ्ग न रह कर, काव्याभिमत लिङ्ग होकर चमत्कारपूर्ण काव्यलिङ्ग अलंकार बन जाता है। वामनाचार्य श्लोकीकर करते हैं—काव्याभिमत लिङ्गं काव्यलिङ्गम्।^१ न्यायशास्त्र में लिङ्गबोधक पद को पचम्यन्त या तृतीयान्त बना कर लिङ्ग को स्पष्ट सूचित कर दिया जाता है, जैसे पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात् में धूम पचम्यन्त होने के कारण हेतु या लिङ्ग है। परन्तु काव्यलिङ्ग में ऐसे नहीं किया जाता, यहाँ हेतु स्पष्ट न होकर प्रतीयमान रहता है। इसीलिए काव्यलिङ्ग न्याय के लिङ्ग से अधिक चमत्कारकारी तथा सुन्दर होता है।

काव्यलिङ्ग की व्युत्पत्ति है—सिद्ध्यते यच्चैते अनेन अर्थ इति लिङ्गं हेतु, चाव्यय लिङ्गं काव्यलिङ्गम्। इस अलंकार का स्वरूप काव्यलिङ्ग की अपेक्षा काव्यहेतु नाम से अधिक स्पष्ट होना है। उद्भट ने इसके लिए काव्यहेतु नाम का प्रयोग किया है।

भामह, दण्डी, वामन आदि प्राचीन आचार्यों ने काव्यलिङ्ग का उल्लेख नहीं किया है। उद्भट ही ऐसे प्राचीन आचार्य हैं, जिन्होंने इसे सर्वप्रथम स्वीकार किया। बाद में रय्यक, विश्वनाथ आदि सभी आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है।

काव्यलिङ्ग अलङ्कार का बीज है - कार्यकारणभाव। यह कारण कभी पदार्थगत होता है कभी वाक्यार्थगत। अतः काव्यलिङ्ग पदार्थगत तथा वाक्यार्थगत दो प्रकार का होना है। विश्वनाथ ने भी काव्यलिङ्ग का स्वरूप स्पष्ट करते हुए इसके इन दो भेदों की ओर निर्देश किया है—

हेनोर्वाण्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्ग निगद्यते ।

—मा० द० १० ६४

उपनिषदा में इस अलङ्कार के अनेकों उदाहरण हैं। कतिपय इस प्रकार हैं—

यस्मिन्मर्वाणि भूनाभ्यामर्वाभामू विज्ञानतः ।

तत्र को मोहः कः शोकः एवमनुपपद्यते ॥

—ईश० ७

यहां एवमनुपपद्यते वाक्य भाह, शोक आदि से रहित होने का घातक हेतु है, अतः यहां काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

अग्न्यन्तमः प्रविशन्ति वेदविद्यामुपामने ।

ततो भूप इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥

—ईश० ९

यहां घोर अन्धकार में प्रवेश का कारण ज्ञानशून्य वर्मकाण्ड रूप अविद्या की उपामना, और उगम भी बढ कर अन्धकार में गिरने का हेतु वर्मशून्यकारी विद्या की आराधना वर्णित होने से काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

आशाप्रनीशे सगते भूतानां चेष्टाभूते पुत्रपशूश्च सर्वान् ।

एनद् बुद्धये पुरषस्यान्यमेघतो यस्याननन्दमतिं ब्राह्मणे गुरे ॥

—यज० १ ८

इस मन्त्र में घर में ब्राह्मण का भूखा रहना आशा, प्रतीक्षा, सगत, सञ्ची वाणी, इष्ट-आपूर्ति, पुत्र, पशु आदि सबके विनाश का कारण कहा गया है, अतः काव्यालिंग अलंकार है ।

इसी प्रकार—

तिस्रो रात्रोर्पदवात्सोर्गृहे मेघजम्बुद्वन्द्वान्नतिथिनमस्य ।

ममस्तेजस्तु बहन् स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥

—कठ० १९

इस मन्त्र में तीन वर मागने में तीन रात भूखे रहना हेतु कहा गया है, अतः काव्यालिंग अलंकार है ।

प्लवा ह्येते जड्वा यज्ञरूपा जष्टादशोत्तमवर येषु कर्म ।

एतच्छ्रेयो मेऽभिगच्छन्ति ब्रूया जरामृत्यु ते पुनरेवापि यन्ति ॥

—मु० १२.७

इस मन्त्र में जरा-मृत्यु की प्राप्ति में केवल यज्ञ-याजन को मुक्ति (कल्याण) का कारण समझना हेतु कहा गया है, अतः काव्यालिंग अलंकार है ।

इसी प्रकार—

अविद्याया बहुधा धर्तमाना यय कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति आत्मा ।

पत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रामात् तेमातुरा क्षीणस्तोकारण्यवन्ते ॥

—मु० १.२.९

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठ नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रभूदाः ।

माकृत्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विरान्ति ॥

—मु० १.२.१०

इन मन्त्रों में भी काव्यालिंग अलंकार है ।

जगत्परिस्वान्तो वैस्वानरोऽकार प्रथमा याज्ञाज्जन्तेरविमरवाद्वा ।

आप्नोति ह वं सर्वान् कामानादिश्च भवति ॥

—मा० ९

स्वप्नस्यानर्स्तंजस उकारो द्वितीया याज्ञोत्कर्षादुभयत्वाद्वा । उत्कर्षन्ति ॥
यै शानसन्ततिम् । समानश्च भवति । नास्यावह्यवित् कुले भवति य एवं वेद ॥

—मा० १०

मुमुक्षुस्थान प्राप्नो भकारस्तृतीया माता मितेरपीतेर्वा । मिनोति ॥
या इव सर्वमपीतिश्च भवति य एव वेद ॥

—मा० ११

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यं प्रपञ्चोपशम शिवोऽद्वैत । एवमोङ्कार
आत्मैव । सविशयात्मनाऽऽमान य एव वेद ॥

—मा० १२

इन सभी मन्त्रों में निर्दिष्ट प्रकार से नाम की महत्ता के ज्ञान को क्रमशः वाञ्छित पदार्थों व मुख्यता की प्राप्ति, शानविस्तार और समानता, विश्वज्ञान एवं भगवान् में लीनता तथा आत्मा से परमात्मा में प्रवेश आदि का हेतु कहने से काव्यालिंग असंकार है ।

मनसंबानुद्वष्टव्य नैह नानाऽस्ति किञ्चन ।

मृष्यो स मृष्युमाप्नोति य इह नानं व पश्यति ॥

—वृ० ४४१९

इस मन्त्र में मरण-चक्र में पड़ रहने का कारण नानात्व मानने से काव्यालिंग असंकार है ।

एवमंबानुद्वष्टव्यमेतदप्रमेय ध्रुवम् ।

विरज पर आकाशावज आत्मा महान् ध्रुव ॥

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मण ।

नानुध्यायाद् बहूऽध्वयान् वाचो विस्तपन हि तविति ॥

—वृ० ४४२०-२१

यहाँ अधिक शब्दों के अनुध्यान को वाणी के विस्तापन—विशेष रूप से ग्लानि अर्थात् मात्र श्रम उत्पन्न करने का हेतु बतलाया गया है, अतः काव्यालिंग असंकार है ।

एतज्ज्ञेय नित्यमेवाऽऽत्मतत्त्व नात पर वेदितव्य हि किञ्चित् ।

भोक्ता भोग्य प्रेरितार च भक्ष्या सर्वं प्रोक्त त्रिविध ब्रह्मेतत् ॥

—श्वे० १ १२

इस मन्त्र में ब्रह्म के जानने में उभरी अद्वितीयता—नात पर वेदितव्य हि किञ्चित्—कारण मानी गई है, अतः काव्यालिंग असंकार है ।

इसी प्रकार निम्ननिर्दिष्ट मन्त्रों में हेतु का निर्देश होने से काव्य-
लिङ्ग अलंकार है—

वेदाहमेत पुरय महान्तमादित्यवर्णं तमस परस्तात् ।

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽप्यनाम ॥

—श्वे० ३ ८

सर्वान्नशिरोक्षीय सबभूतगुहासाय ।

सर्वध्यापी स भगवास्तस्मात्सर्वभूत शिव ॥

—श्वे० ३ ११

वैशाहमेतमजर पुराण सर्वात्मान सर्वगत विभुत्वात् ।

जन्मनिरोध प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥

—श्वे० ३. २१

जन्मनिरोध अर्थात् अजन्मा होने से ही ब्रह्मवादी परमपुरुष को नित्य कहते हैं। यहाँ अनेक का कारण देकर नित्यता की पुष्टि की गई है, अतः काव्यलिङ्ग अलंकार है।^१

१ ८.२. अनुमान

हेतु द्वारा साध्य के चमत्कारपूर्ण ज्ञान को अनुमान अलंकार कहते हैं। ध्यान रहे कि यहाँ पर्यंतो बल्लिमान् धूमवत्त्वान् के समान केवल साध्य का ज्ञान इष्ट नहीं है, अपितु वह ज्ञान चमत्कारपूर्ण या कवि-प्रतिभा से मण्डित भी होना चाहिए, अन्यथा वह ताकिको का शुष्क अनुमान ही होगा।

विश्वनाथ ने अनुमान का लक्षण दिया है—

अनुमान तु विचिद्रत्या ज्ञान साध्यस्य साधनात् ।

१ अन्यत्र द्रष्टव्य —कठ० १.१७, १.१८, ४.१०-११, ५.१२, ६.६, ६.११; मू० २.२.८, ३.१.१-६, ३.१.१०, ३.२.१, वृ० १.३.१६, २.३.२६, १.४.८, २.४.१, श्वे० ४.१७, ४.२०, ६.२, ६.१२-१३

यथा—

नीहारघूमाकर्षनिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।

एतानि रूपाणि पुर सराणि ब्रह्मव्यभिव्यक्तकराणि योगे ॥

—श्वे० २ ११

यहां कुहरा, घुम्रा, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, विजली, स्फटिक और चांद की विद्यमानता को ब्रह्म के जानने में चमत्कारपूर्ण हेतु मानने से अनुमान अलंकार है ।

इसी प्रकार,

मील पतगो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्यमं श्रुतव समुद्रा ।

अनादिमास्य विभ्रुत्वेन घर्तसे यतो मातानि भुवनानि विश्वा ॥

—श्वे० ४ ४

इस मन्त्र में पदार्थों में दृश्यमान लोहितादि गुणों का किसी मूल गुणी की सिद्धि में हेतु मानने से अनुमान अलंकार है । क्योंकि, कारणगुणा हि कार्यगुणानारम्भते—कारण के गुण कार्य में आते हैं, अतः इनका कोई कारण भी ऐसा ही होना चाहिए । 'जो सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ' इस प्रकार अनुमान द्वारा उस परमात्मा की सिद्धि अभिप्रेत है । (तुलनीय 'साध्यकारिका'—१४, कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याप्यस्तमपि सिद्धम् ।)

१. ९. लोकन्यायमूलक अलंकार

१.९.१. उत्तर

उत्तर का अर्थ है—प्रतिवचन । इस अलंकार की यह अन्वर्थ सज्ञा है क्योंकि इसमें कवि उत्तर का उल्लेख करता है, जिससे प्रश्न का उन्नयन किया जाता है । सर्वस्वकार ने इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है—उत्तरात् प्रश्नोन्नयनमसकृदसम्भाव्यमुत्तरं चोत्तरम् ।^१ इससे उत्तर अलंकार के दो रूप हमारे सम्मुख आते हैं । (१) एक तो वह अलंकार है जहाँ प्रश्न होने पर अनेक असम्भाव्य उत्तर हो । सर्वस्वकार इसी भाव को स्पष्ट करते हुए फिर कहते हैं (१) यत्रानुपनिषद्यमानोऽपि प्रश्न उपनिषद्यमानादुत्तरादुन्नीयते तदेकमुत्तरम्, (२) यत्र च प्रश्नपूर्वकसम्भावनीयमुत्तरं तच्च न सकृत् तादृशमात्रेण चादृशप्रसीते, अतश्चासकृदसिद्ध्यने द्वितीयमुत्तरम् ।^२

भानु, दण्डी, उद्भट, वामन आदि प्राचीन आचार्यों ने उत्तर का लक्षण नहीं दिया है । सर्वप्रथम उद्भट ने ही इसे आविष्कृत किया । उसने इस नाम के दो स्वतन्त्र अलंकार माने हैं, जिन्हें परवर्ती आचार्यों ने उत्तर के दो भेदों के रूप में समाविष्ट कर लिया । सर्वस्व के टीकाकार जयरथ ने इन्हे दो पृथक् अलंकार माना है ।

आचार्य विश्वनाथ ने सर्वस्वकार से प्रभावित होकर उत्तर की यह परिभाषा दी है—

उत्तरं प्रश्नस्योत्तरादुभयो यदि ।

यच्चासकृदसम्भाव्यं सत्यपि प्रश्न उत्तरम् ॥

—सू० द० १०. ८२

उपनिषदों में उत्तर के इस प्रकार उदाहरण पाये जाते हैं—

अस्य बिलसमानस्य शरीरस्थस्य वेहिन ।

देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र वरिसिध्यते ॥

—कठ० ५. ४

१. रम्यक, अल० सर्व०, पृ० २१६

२. वही

—इस शरीर में रहने वाले आत्मा का, जब वह देह से फिसलता है, तब देह में क्या शेष रहता है ? अर्थात् कुछ भी पीछे नहीं रह जाता ।

इस मन्त्र में प्रश्न से उत्तर की ऊहा हो जाने से उत्तरालकार है ।

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे । कतर स आत्मा ? ॥

—ऐत० ३ १ १

इस मन्त्र में भी आत्मा के सम्बन्ध में जिज्ञासापूर्ण प्रश्न के उत्तर का उन्मयन होने से उत्तरालकार है ।

इसी प्रकार—

अथा वा गतिरिति । असी लोक इति होवाच । अमुष्य लोकस्य वा गतिरिति । न स्वर्गलोकमतिनयेदिति होवाच । स्वयं यथा लोकं सामासि सस्थापयाम । स्वर्गसस्ताव हि सामेति ॥

—छा० १ ८ ५

यहां भी प्रश्नोत्तर होने से उत्तरालकार है ।

तथा

यद् वृक्षो वृक्षोऽप्ररोहति मूलान्नयतर पुन ।

मर्त्यं स्थिमृत्युना वृक्षेण कस्मान्मूलान् प्ररोहति ॥

रेतस इति मा बोधत जीवतस्तत प्रजायते ।

छानाहृ इव वै वृक्षोऽज्जस्रा प्रेत्य सम्भव ॥

यत समूलमावृष्टेर्धूर्ध्वं न पुनराभवेत् ।

मर्त्यं स्थिमृत्युना वृक्षेण कस्मान्मूलान् प्ररोहति ॥

जान एव न जायते को ज्ञेन जनयेत् पुन ।

विज्ञानमानन्द ब्रह्म रातिर्दानु परायण निष्ठमानस्य तद्विद इति ॥

—वृ० ३ १ २८ के मन्त्र ४ में ७

इन मन्त्रों में भी प्रश्ना में उत्तर की ऊहा की प्रक्रिया के कारण उत्तरालकार है ।

एवमेव—

किं कारणं ब्रह्म कुत स्म जाता जीवाम केन एव च सप्रतिष्ठा ।

अधिष्ठिता केन सुतेतरेषु वर्तमाने ब्रह्मविदो भ्यवस्याम् ॥

—श्वे० १ १

इस मन्त्र में भी जहात्मक प्रश्न के होने से उत्तरालंकार है ।^१

१६२ तद्गुण

तद्गुण की व्युत्पत्ति है—तस्योत्कृष्टस्य गुणोऽस्मिन्निति तद्गुण । तद्गुण को तद्गुण इसलिए कहा जाता है कि इसमें उत्कृष्ट गुण वाली अप्रकृत वस्तु का गुण प्रकृत वस्तु में वर्णित किया जाता है । सर्वस्वकार ने इसके स्वरूप को विशद किया है—यत्र परिमितस्य वस्तुन समीपवर्तिप्रकृष्टवस्तुगुणस्य स्वीकरणं त तद्गुण ।^२ तद्गुण अलंकार में भिन्न भिन्न गुणों को धारण करने वाले दो पदार्थ होते हैं । ये गुण एक पदार्थ में अग्रिक तथा दूसरे में न्यून होते हैं । दोनों पदार्थ परस्पर समीपवर्ती होते हैं । न्यून गुण वाला पदार्थ अपने गुण का परित्याग करके अग्रिक गुणवान् पदार्थ के गुणों को ग्रहण कर लेता है । जैसे—पद्मरागवत् नासाभौक्षिक तेज्यराभिनम्^३ में नायिका के नासिका-भौक्षिक ने, जो न्यून गुणवान् है, अग्रिक गुणवान् अक्षर की लालिमा को ग्रहण कर लिया है, जिससे वह पद्मराग जैसा बन गया है । अतः यह तद्गुण का उत्तम उदाहरण है—

भामह, दण्डी उद्भट, तथा वामन ने तद्गुण का निर्देश नहीं किया । ध्रुव ने इसका सर्वप्रथम उल्लेख किया है । उसने इसके दो रूप स्वीकार किए हैं । उनमें से प्रथम रूप परवर्ती आलंकारिको का सामान्य अलंकार बन गया और उसका दूसरा रूप तद्गुण के रूप में ही स्वीकार किया गया ।

विरचनाय का तद्गुण का लक्षण है—

तद्गुण स्वगुणमाधावत्प्रकृष्टगुणग्रहः ।

—सा० द० १० ६२

१ अग्र्यत्र द्रष्टव्य —छा० १८०, द० ३६.१६-२४, ३.६०६

२ दृष्टक, अल० सर्व०, पृ० २१३

३ व दालोक १ १०२

कुछ एक उदाहरण देखिए—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि धिता ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

—कठ० ६ १४

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थय ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्वचनुज्ञात्मनम् ॥

—कठ० ६ १५

इन मन्त्रों में मर्त्य के द्वारा अपने अनुत्कृष्ट धर्म, मरणशीलता को छोड़कर परमात्मा के उत्कृष्ट गुण, अमृतत्व को ग्रहण करने का वर्णन होने से तद्गुण अलंकार है।

तत्प्रतिष्ठेरुपासीत । प्रतिष्ठावान् भवति । तन्मह इत्युपासीत । महान् भवति । तन्मन इत्युपासीत । मानवान् भवति ।

—तै० ३ १०

यहां भगवान् के गुणों को जानकर मनुष्य का तदनुसार प्रतिष्ठावान्, महान्, मानवान् हो जाने का वर्णन है। अतः उत्कृष्टगुण-ग्रहण का वर्णन होने से इस मन्त्र में भी तद्गुण अलंकार है।

इसी प्रकार,

तद्वैदगृहोपनिषत्सु गूढं तद्ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोगिन् ।

ये पूर्वदेवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वं बभूवुः ॥

—श्वे० ५ ६

इन मन्त्र में कहा गया है कि जो पुरातन देव और ऋषि वेदवेद्य ब्रह्मा को जानते थे, वे नर्दम्प होकर अमर हो गए। अतः यहां भी देव और ऋषियों में अपने धर्म को छोड़कर ब्रह्म के अमरत्वरूप उत्कृष्ट धर्म के ग्रहण का वर्णन होने से तद्गुण अलंकार स्पष्ट है।

१.१०. गूढार्थप्रतीतिमूलक अलंकार

१.१० १. भाविक

भाविक शब्द भाव या भावना से निष्पन्न है। जैसे योगियों में भावना=वासना होती है, जिसके बल से वे अतीत तथा अनागत वस्तु को प्रत्यक्ष के समान देखते हैं, उसी प्रकार ज्ञान्तदर्शी कवि में भी भावना होती है, जिसके बल से वह अप्रत्यक्ष पदार्थों को भी प्रत्यक्षवत् चित्ति करने में समर्थ होता है। इस प्रकार भाविक अलंकार का मूल भाव अथवा भावना है, और इस अलंकार पर योगशास्त्र का प्रभाव है। भाविक की व्युत्पत्ति करते हुए मम्मट कहते हैं—भाव कवेरभिप्राय भूतभाविनामर्षीनां प्रत्यक्षात्वेन प्रतिपादनेच्छा अस्ति अत्र इति साधितम्।^१ प्रतिहारेन्दुराज उद्भट के काव्यालंकारसारसंग्रह की अपनी लघुवृत्ति टीका में भाविक को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—भाव कवेरभिप्राय यत्र वाचके श्रोतरि वा प्रतिबिम्बित अस्ति (पृ० ७४)।

निष्कर्ष यह है कि कवि के भूत तथा भावी पदार्थों को देखने की विशेष शक्ति का ठोस परिणाम भाविक अलंकार है। कभी तो कवि अतीत की घटनाओं को स्मरण करने में आनन्द का अनुभव करता हुआ उन्हें पाठक के सामने इस रूप में प्रस्तुत करता है जैसे वे प्रत्यक्ष घटनाएँ हो, और कभी वह भविष्य-द्रष्टा योगी के समान भावी घटनाओं का दर्शन करके, उन्हें इस रूप में प्रस्तुत करता है जैसे वे भावी घटनाएँ न होकर हमारी भाखों के सामने प्रत्यक्ष सी घट रही हो। वस्तुतः भाविक अलंकार का वैशिष्ट्य इस बात में है कि कवि भूत या भविष्य को अपनी कल्पनाशक्ति से इस रूप में प्रस्तुत करे कि सहृदय को वह प्रत्यक्ष के समान दिखाई दे। भूत और भविष्य का यह प्रत्यक्षायमाण वर्णन ही इस अलंकार का प्राण है।

भाविक अलंकार के विषय में यह बात ध्यातव्य है कि इसमें न केवल भूत और भविष्य को देखने की भावना का होना आवश्यक है,

अपितु भावना के साथ उसके वर्णन की विशदता भी उतनी ही आवश्यक है। यदि भावना होने पर उसकी विशद वर्णना न हो सकी, तो भाविक का सम्पूर्ण सौन्दर्य ही घूमिल हो जाता है। इस प्रकार भाविक में वाणी का प्रसाद या निर्मलता अत्यन्त अपेक्षित है। इसमें भावना तथा वर्णना दोनों का सतुलित समन्वय होना चाहिए। अत एव भामह, तथा दण्डी ने भाविक को अलंकार की अपेक्षा काव्य गुण के रूप में ग्रहण किया है। दण्डी कहते हैं—तद् भाविकमिति प्राहुः प्रवर्णविषय गुणम्।^१ सर्वप्रथम उद्भट ने इसे अलंकार के रूप में प्रतिष्ठित किया। वामन तथा रुद्रट ने इसे स्वीकार नहीं किया है। भोज, रय्यक, विश्वनाथ, अण्णयदीक्षित आदि मूर्धन्य आलंकारिकों ने इसे अलंकार के रूप में स्वीकार किया है।

विश्वनाथ ने भाविक का लक्षण दिया है—

अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्यापि भाविष्यति ।

यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविमुदाहृतम् ॥

—सा० द० १० १३

यथा—

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।

महद्भूय वच्यमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते मयन्ति ॥

—वठ० ६ २

इस मन्त्र में समस्त जागतिक पदार्थों का प्राणस्वरूप ग्रह में प्रियावान् होने का प्रत्यक्षवत् वर्णन होने से भाविक अलंकार है।

अर्धं चैव स्वप्ने महिमानमनुभवति यद्बुद्धं बुद्धमनुपरपति । भूत भुतमेवार्धमनुभृणोति । देशविपत्तरेष्व प्रत्यनुभूतं पुन पुन प्रत्यनुभवति । बुद्ध आबुद्धं च धृत आधृत आनुभूत आननुभूत च सप्तधासञ्च सर्वं परपति । सर्वं परपति ॥

—प्रश्न० ४ ५

इस मन्त्र में कहा गया है कि आत्मा शुद्धावस्था में देगे, विना देये, मुने, विना मुने, अनुभव किए, विना अनुभव किए तथा सत् और

असत् सभी प्रकार के पदार्थों को सर्वस्व होकर देखता है। इस प्रकार आत्मा की अद्भुत शक्ति के प्रत्यक्षवत् वर्णन करने से यहाँ भाविक अलंकार है।

मोक्षयेतदक्षरमिह सर्वम् । तत्परोषव्याख्यानम् । भूत अदभविष्यदिति सर्वमोद्धार एव । यच्चान्यत्रिकालातीत तदप्योक्त एव ॥

—मा० १

यहाँ भूत, भवत्, भविष्यत् और विश्वशरीर भगवान् का शरीरी रूप से वर्णन किया गया है। इस अद्भुत का प्रत्यक्षवत् वर्णन करने से यहाँ भाविक अलंकार है।

पुंस्य एवेव सर्वं यद् भूत यच्च भविष्यम् ।

उतामृतत्वत्प्रेषणो यदन्नेनातिरोहति ॥

—श्वे० ३. १५

यहाँ भूत और भविष्यत् जिया के आधार तथा दृश्यमान प्राणि-जगत् और अदृश्य मोक्ष के स्वामी पुरुष (भगवान्) का प्रत्यक्षवत् वर्णन होने से भाविक अलंकार है।

१.१० २ उदात्त

उद् + आ + √दा से क्त प्रत्यय के योग से उदात्त शब्द निष्पन्न होता है। उदात्त का शब्दार्थ है—गृहीत या उन्नत। उदात्त यह नाम सार्यक है, क्योंकि यहाँ किसी वस्तु का प्रभूत वर्णन करके उसका उत्कर्ष या अनिश्चय स्थापित किया जाता है। इस अलंकार में कोई पदार्थ उन्नत या उत्कृष्ट किया जाता है, अतः इसे उदात्त कहते हैं। यदि महान् व्यक्तियों का चरित प्रस्तुत वस्तु का अंग हो, तब भी उदात्त अलंकार होता है। कुछ भी हो यह स्पष्ट है कि उदात्त अलंकार में किसी पदार्थ का उत्कर्ष या उच्चता अथवा उसकी श्रेष्ठता प्रदर्शित की जाती है।

उदात्त के भूत में अतिशय का विचार काम करता है। कवि, जो अपने काव्य जगत् का प्रजापति होता है, पदार्थों के अतिशय वर्णन से सहृदय को आह्लादित करता है। उदात्त में भी वह महान् पुरुषों, धन-ऐश्वर्य, पशु-पक्षियों, गुणों तथा तप आदि किसी भी उत्कृष्ट वस्तु

का अतिशय वर्णन करके उसके महत्त्व को प्रतिपादित करता है। परन्तु यह ध्यान रहे कि उत्कृष्ट वस्तु के अतिशय वर्णन में ही उदात्त अलंकार होता है, निकृष्ट वस्तु जैसे मदिरा, चूत आदि के अतिशय ख्यापन में उदात्त नहीं माना जाएगा।

उदात्त में अतिशयता के वर्णन की प्रवृत्ति होने के कारण हेमचन्द्र प्रभृति कुछ आलंकारिक इसे स्वतन्त्र अलंकार स्वीकार नहीं करते। वे इसका अन्तर्भाव अतिशयोक्ति में करते हैं। पर भामह तथा दण्डी ने भी इसे स्वीकार किया है। उद्भट ने भी इसे माना है। किन्तु वामन और रुद्रट ने इसका उल्लेख नहीं किया। संभवतः इसलिए कि वे भी इसे अतिशयोक्ति का ही रूप समझते हों। रय्यक, विश्वनाथ तथा अप्ययदीक्षित ने इसे स्वीकार किया है।

विश्वनाथ ने इसका लक्षण दिया है—

श्लोकातिशयसम्पत्तिर्वर्णनोदात्तमुच्यते ।

यद्वापि प्रस्तुतस्यांग महती चरित भवेत् ॥

—सा० ६० १०. ९४

यथा—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मान् दृताहतात् ।

अन्यत्र मृताश्च अदमाश्च यत्तत् पश्यति तद्वत् ॥

—कठ० २ १४

इस मन्त्र में सर्वातीतवस्तु का लोभातिशयपूर्ण वर्णन होने के कारण विरोधमूलक उदात्त अलंकार है।

न तत्र सुर्वो भ्राति न चन्द्रतारक नेमा विद्युतो भ्रान्ति कुतोऽयमग्निः ।

तमेव भ्रान्तमनुमानि सर्वं तस्य भ्राता सर्वमिदं विभाति ॥

—कठ० ५. १५

यहाँ अन्तिम दो पदों में सर्वप्रकाशघाम परमेश्वर की लोभोत्तर सम्पत्ति का अतिशय वर्णन होने से उदात्त अलंकार है।

यदधिपमशब्दणुभ्योऽणु च यस्मिन्लोका निहिता लोकिनश्च ।
तदेतवक्षर ब्रह्म स प्राणस्तनु वाडमन ।
तदेतस्तस्य तथगुत तदवेदव्य सोम्य विद्धि ॥

—मु० २ २ २

यहा ब्रह्म की उदात्तता का वर्णन होने से उदात्त अलकार है ।

य पृथिव्या तिरिष्ठपृथिव्या अन्तरो य पृथिवी न वेद । * ततो
होद्गालक आरणिरपरराम ॥

—बृ० ३ ७ ३-२३

इस सम्पूर्ण प्रसंग में आत्मा के लोकातीत सामर्थ्य का वर्णन
हुआ है अतः यहा उदात्त अलकार है ।

य एको ज्ञातवानीयत ईशनीमि सर्वात्सोकानीयत ईशनीमि ।

य एवंक उदममे समवे च य एतद्विदुरमुतास्ते भवन्ति ॥

—श्वे० ३ १

यहा ब्रह्म की लोकोत्तर शक्तियों का वर्णन होने से उदात्त
अलकार है ।

यो देवाना प्रमवश्चोदभवश्च विश्वापियो ह्यो मह्यि ।

हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स न बुद्ध्या शुभया सगुनवत् ॥

—श्वे० ३ ४

इस मन्त्र में भी नियमवान् भगवान की अलौकिक शक्ति का
वर्णन होने से उदात्त अलकार है ।^१

१.११. उभयालंकार

उभयालंकार वे अलंकार हैं जो शब्द पर भी आश्रित रहते हैं और अर्थ पर भी। उभयालंकार में कुछ शब्द परिवर्तित किए जा सकते हैं और कुछ शब्द परिवर्तन नहीं किए जा सकते, जैसे पुनरुक्तवदाभासादि। शब्द तथा अर्थ दोनों का अलंकार होने से पुनरुक्तवदाभास उभयालंकार है। श्लेष भी उभयालंकार है, क्योंकि इसका आश्रय शब्द भी है और अर्थ भी। जब यह शब्द पर आश्रित होता है तब शब्दालंकार तथा जब अर्थ पर आश्रित होता है तब अर्थालंकार होता है। इसके अतिरिक्त समृष्टि, सकर को भी उभयालंकार कहा जा सकता है क्योंकि इनमें जब शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का सम्मिश्रण होता है तब शब्द का भी सौन्दर्य रहता है और अर्थ का भी। दोनों का अलंकार होने से समृष्टि और सकर उभयालंकार हैं।

कौन शब्दालंकार है, कौन अर्थालंकार तथा कौन उभयालंकार, इस विषय पर साहित्यशास्त्रियों में मतभेद है। भट्टमट तथा उनके अनुयायी शब्द के अन्वय व्यतिरेक भाव को शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का भेदक मानते हैं। परन्तु तिलक तथा रघ्यक आश्रयाश्रयिभाव के आधार पर दोनों में भेद करते हैं। अन्वय व्यतिरेक ता अर्थ है—तत्सत्त्वे तत्सत्ता, तदभावे तदभाव। अतः यह अलंकार शब्द का है या अर्थ का इसका निर्णय अन्वयव्यतिरेक भाव में होता है। यदि शब्दविशेष के रहने पर अलंकार है और उस विशेष शब्द के हट जाने पर अलंकार नहीं रहता, तो वह शब्दालंकार है। इसी प्रकार यदि विशेष अर्थ के रहने पर अलंकार है और उस अर्थ के न रहने पर अलंकार नहीं रहता है तो वह अर्थालंकार है। जो अलंकार शब्द तथा अर्थ दोनों के रहने पर रहता है, वह उभयालंकार है।

परन्तु, रघ्यक के मत में जो अलंकार शब्द पर आश्रित है वह शब्दालंकार और जो अर्थ पर आश्रित है वह अर्थालंकार है। जैसे कुण्डल वर्ण पर आश्रित होने में वर्णालंकार तथा रटन हस्त पर आश्रित होने में हस्तालंकार कहलाता है, उगी न्याय में शब्द पर आश्रित अलंकार

शब्दालकार, अर्थ पर आश्रित अर्थालकार तथा दोनों पर आश्रित उभयालकार है। जैसे स्य्यक कहते हैं—

तत्र शब्दालकारा यमकादयः । अर्थालकारा उपमादयः । उभयालकारा तादानुप्रासादयः । ससृष्टिसंकरप्रकारयोरपि कयोश्चित्तरूपत्वात् । लोकवदाध्याश्रयिभावश्च तत्तदलकारनिबन्धनम् ।^१

१११. ससृष्टि

ससृष्टि का अर्थ है—सश्लेष=ससंग (जुड़ना)। दो या दो से अधिक अलकारों का परस्पर सश्लेष ही ससृष्टि है। जैसे स्वर्ण और मणि अपना अलग अलग सौन्दर्य रखते हैं परन्तु जब वे परस्पर सश्लेष होते हैं तब विलक्षण ही सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। वैसे ही शब्दालकार और अर्थालकार अपना अलग अलग सौन्दर्य तो रखते ही हैं, परन्तु उनके परस्पर सश्लेष में भी एक विचित्र सौन्दर्य मिलता है। अतः अलकारों के इस सश्लेष को आलकारिकों ने स्वतन्त्र अलकार स्वीकार किया है। ससृष्टि में क्योंकि अनेक अलकार सश्लेष होकर विचित्र सौन्दर्य की सृष्टि किया करते हैं अतः ससृष्टि को पृथक् अलकार मानना युक्तिसंगत ही है। जैसा कि सर्वस्वकार ने स्पष्ट किया है—तत्र यथा बाह्यालकाराणां सोवर्णमणिमयप्रभृतीनां पृथक् चास्त्यहेतुत्वेऽपि सघटनाकुत चारत्वात्तर जायते, तद्वत् प्रकृत्यालकाराणामपि सयोजने चास्त्यान्तरमुपलभ्यते ।^२

अलकारों का यह सश्लेष दो रूप में होता है—(१) सयोग-न्याय से और (२) समवाय न्याय से। तिल और तण्डुल का सश्लेष सयोग न्याय से है, क्योंकि तिल और तण्डुल दोनों का सश्लेष होने पर भी दोनों की स्थिति भिन्न-भिन्न रहती है। नीर तथा क्षीर का सश्लेष समवाय न्याय से है, क्योंकि नीर और क्षीर का सश्लेष होने पर दोनों पदार्थों की स्वतन्त्र स्थिति नहीं रहती। दोनों मिलकर एकाकार हो

१ अल० सव०, पृ० २१७

२ वही पृ० २४१

जाते हैं। अतः जब दो या दो से अधिक अलंकार तिलतण्डुल के समान मशिनष्ट होते हैं तब समृष्टि अलंकार और जब ये नीर-क्षीरन्याय से मशिनष्ट होते हैं तब सकर अलंकार होता है।

यह समृष्टि तीन रूपों में देखी जाती है—(१) शब्दालंकारों की समृष्टि (२) अर्थालंकारों की समृष्टि (३) शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों की समृष्टि। जैसा कि सर्वस्वकार कहते हैं—तत्र तिलतण्डुलन्यायेन भ्रमन्ती समृष्टिस्त्रिधा। शब्दालंकारगतत्वेन, अर्थालंकारगतत्वेन, उभयालंकारगतत्वेन च।^१

भामह ने भी समृष्टि को स्वीकार किया है। उनकी समृष्टि की परिभाषा इतनी विस्तृत है कि उसमें सकर अलंकार का भी समावेश हो जाता है। दण्डी की समृष्टि के दो भेद हैं, जिनमें एक भेद सकर से मिलता है और दूसरा समृष्टि से। उद्भट ने इन दोनों को एक दूसरे से भिन्न मानकर, समृष्टि और सकर रूप से इन्हें दो भिन्न भिन्न अलंकार स्वीकार किया है। बाद में मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने समृष्टि और सकर को भिन्न भिन्न ही अलंकार स्वीकार किया है।

विश्वनाथ का समृष्टि लक्षण है—

अद्येत एवालंकारा परस्परविमिश्रिताः।

तदा पृथगतकारी समृष्टि सकरस्तथा ॥

मिथोऽनपेक्षमेतेषां स्थितिः समृष्टिरुच्यते ॥

—मा० द० १०, ९८

यथा—

अत्रामेकां लोहितशुक्लवृष्णां बह्वीं प्रजा मृजमानां संस्थाः।

अग्रे ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां मृषनमोगामजोऽग्न्यः ॥

—श्वे० ४ ५

यहां समार, अलंकार की भावृत्ति होने में वृत्त्यनुप्रास तथा अज और प्रवृत्ति के दो अर्थ होने में श्लेष अलंकार है, अतः दो शब्दालंकारों की समृष्टि है।

माह मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।

यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥

—केन० २ २

इस मन्त्र की प्रथम पंक्ति में वेद वेद अश में निरर्थक और
मार्थक पदों की आवृत्ति होने के कारण यमकालंकार है । तथा द्वितीय
पंक्ति में न तद्वेद तद्वेद भाग में विरोधाभास अलंकार है । अतः यहाँ
शब्दालंकार और अर्थालंकार की समृद्धि है ।

इसी प्रकार,

यस्यामत तस्य मत मत यस्य न वेद स ।

अविज्ञात विज्ञानता विज्ञातमविज्ञानताम् ॥

—केन० २ ३

इस मन्त्र में भी अ विज्ञात विज्ञातम्, अ विज्ञानता विज्ञानताम् इत्यादि
में यमक तथा विरोधाभास अलंकारों के सम्भाव से समृद्धि अलंकार है ।

एषोऽग्निस्तपयेय सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेय वायु ।

एष पृथिवी रपिर्वैव सवसन्वामृत च यत् ॥

—प्रश्न० २ ५

इस मन्त्र के पूर्वभाग में प्राण पर अग्नि का आरोप करके उसे
तपनरूप क्रिया में परिणत किया गया है, अतः परिणामालंकार है,
तथा उत्तरभाग में एक ही देव को विषय भेद से अनेक रूपों में वर्णित
किया गया है । अतः यहाँ उल्लेख अलंकार की स्पष्ट प्रतीति होने से
परिणाम तथा उल्लेख अलंकारों की समृद्धि है ।

अणवो धनुः शरी ह्यात्मा ब्रह्म तत्सर्वमुच्यते ।

अप्रमत्तेन वेद्म्य शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

—मु० २ २ ४

इस मन्त्र में अणव इत्यादि पर धनुषादि के आरोप के कारण
सागरूपक अलंकार तथा शरवत् में इवार्थ में वत् प्रत्यय होने से आर्थी
उपमा अलंकार होने से समृद्धि अलंकार है ।

बृहच्च तद्द्विधमचिन्त्यरूप सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतर विभाति ।

दूरात्सुदूरे तदिहातिके च पश्यत्स्वहैय निहितं शुभयाम ॥

—मु० ३ १ ७

इस मन्त्र के तृतीय पाद में विरोधाभास तथा चतुर्थ पाद में रूपकातिशयोक्ति होने से ससृष्टि अलंकार है ।

नान्तं प्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् ।
अदृष्टमध्यवहार्थंमप्राह्मसंक्षणमचिन्त्यमध्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं
शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स भगवता स विज्ञेय ॥

—मा० ७

यहां मान्तं प्रज्ञम् से नाप्रज्ञम् तक के अंश में प्रतिपेक्षालंकार तथा आगे अदृष्टमध्यवहार्थम् इत्यादि में सार्थक विशेषणों के कारण परिवर्तनलंकार होने से ससृष्टि अलंकार है ।

अमात्रश्चतुर्थोऽध्यवहार्यं प्रपञ्चोपशमं शिवोद्वैतं एवमोकार आत्मं च
सविरात्यात्मनाऽऽत्मानं ॥ एव वेद ॥

—मा० १२

इस मन्त्र में परिकर तथा रूपक अलंकारों की स्थिति होने से ससृष्टि अलंकार है ।

“ यश इति पशुषु । ज्योतिरिति नक्षत्रेषु । प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे । सर्वमित्यावाप्ते । तत्प्रतिष्ठेऽपुपासीत । प्रतिष्ठावान् भवति । तन्मह इत्युपासीत । महान् भवति । तन्मन इत्युपासीत । मानवान् भवति ॥

—तै० ३ १० २

इस मन्त्र में उल्लेख तथा तद्गुण अलंकारों की ससृष्टि है ।

“ स एव पाँवतो यज्ञं पाँवत पशुः । पाँवत पुरुषः पाँवतमिदं सर्वं यदिदं किञ्च तदिदं सर्वमाप्नोति य एव वेद ॥

—श्रु० १ ४ १७

इस मन्त्र में रूपक तथा वाच्यलिङ्ग अलंकारों की ससृष्टि है ।

नीहारधूमाकानिलानिलाना खजोतविवृतस्फटिकशशीनाम् ।

एतानि रूपाणि पुर सराणि ब्रह्मभूमिभ्यस्तत्कराणि योगे ॥

—श्वे० २ ११

इस मन्त्र के प्रथम दो पादो में अनेक वस्तुओं का एकत्र वर्णन होने से समुच्चय अलंकार तथा ब्रह्म की अभिव्यक्ति में इन्हीं वस्तुओं को कारण मानने से अनुमान अलंकार की स्पष्ट प्रतीति हो रही है, अतः यहाँ समृष्टि अलंकार है ।

यथात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तं प्रपश्येत ।

अजं ध्रुवं सततस्त्वंविशुद्धं शस्त्रं देवं मुच्यते सर्वपाशं ॥

—श्वे० २ १५

यहाँ द्वितीय पाद के दीपोपमेनेह अंश में उपमालंकार तथा तृतीय पाद में सार्थक विरोधों के कारण परिकर अलंकार है । दोनों अलंकारों की स्पष्ट स्थिति होने से समृष्टि अलंकार है ।

एष ह देव प्रविशोऽनु सर्वां पूर्वां ह जात ॥ उ गर्भं भन्त ।

स एष जात स जनिष्यमाण प्रत्यङ्मनास्तिष्ठति सर्वतोमुख ॥

—श्वे० २ १६

इस मन्त्र के प्रथम दो पादों में एक ही देव की अनेक सत्ता के वर्णन से विशेषालंकार तथा तृतीय पाद में एक ही देव को जात और जनिष्यमाण मानने से विरोधाभास अलंकार की समृष्टि है ।

न सदृशो तिष्ठति क्वमस्य न वक्षुषा पश्यति कश्चनेनम् ।

हृदा हृदिस्थ मनसा य एनमेव विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

—श्वे० ४ २०

इस मन्त्र के प्रथम दो पादों में आत्मा को नेत्रादि द्वारा ग्रहण करने योग्य न मानने से प्रतिषेध अलंकार तथा अन्तिम दो पादों में अमृतत्व में आत्मज्ञान को हेतु मानने के कारण कव्यलिङ्ग अलंकार की समृष्टि है ।

अगुप्यमानो रवितुल्यरूप सक्त्याहंकारसमन्वितो यः ।

मुदेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराधमानो ह्यपरोक्षि दृष्ट ॥

—श्वे० ५ ८

यहा प्रथम दो पादो में उपमालकार है तथा अन्तिम पाद के ह्यपरोक्षि अश में अपि शब्द सम्भावना अर्थ में होने से इव अर्थ में परिणत हो गया है, अत उत्प्रेक्षा अलकार है। इस प्रकार यहा उपमा और उत्प्रेक्षा की समृष्टि है।

एको देव सर्वभूतेषु गूढ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरारमा ।

कर्माध्यक्ष सर्वभूताधिवास साक्षी चेत्ता केवसो निर्गुणश्च ॥

—श्वे० ६ ११

इस मन्त्र के प्रथम दो पादो में एक ही देव अनेकत्र विद्यमान होने के कारण विशेष अलकार तथा देव का, विषय भेद से, अनेक रूपों में वर्णन होने से उल्लेख अलकार की समृष्टि है।

न तन्न सूर्षो भ्राति न चाद्वतारक नेमा विद्युतो भ्राति कुतोऽयमग्निः ।

तमेव भ्रान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिव विभाति ॥

—श्वे० ६ १४

इस मन्त्र के प्रथम दो पादो में प्रतिषेध अलकार तथा अन्तिम दो पादा में पर्यायोक्त अलकार होने से समृष्टि अलकार है।

एको हतो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्नि सतिते सनिविष्टः ।

तमेव विद्धिवाऽतिमृत्युमेति नान्य वन्मा विद्यतेऽन्याय ॥

—श्वे० ६ १५

यहा प्रथम दो पादो में एक ही हस के क्रमश विभिन्न स्थानों में वर्णित होने से पर्याय अलकार तथा अन्तिम दो पादो में काव्यालिंग होने से दोनों की समृष्टि है।

१.११ २ सक्कर

दो या दो से अधिक अलकारों का दूध और पानी के समान सम्मिश्रण सक्कर अलकार है। इसमें अलकारों का सम्मिश्रण इस रूप में हुमा करता है कि एक अलकार के हटने पर दूसरे का भी लोप हो जाता है। सक्कर में दोनों अलकार नीर-क्षीर के समान सश्लिष्ट होकर एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते, जबकि समृष्टि में वे तिलतण्डुलन्याय से मिश्रित होते हैं तथा एक दूसरे से अलग हो सकते हैं। समृष्टि में दो

या दो से अधिक अलकार पृथक्-पृथक् रूप से स्पष्ट भासित होते हैं । परन्तु सकर में दोनों मिले हुए रहते हैं । यही सकर का सृष्टि से भेदक तत्त्व है ।

विश्वनाथ ने सकर का लक्षण दिया है—

अगागित्वेऽलकृतीना तद्वेकमर्थस्यिवी ।

सदिगत्वे च भवति सकरस्त्रिविधः पुनः ॥

—सा० २० १० ११

यहां विश्वनाथ ने सकर का लक्षण देते हुए उसके तीन भेदों का निर्देश किया है—(१) अगागिभावरूप सकर (२) एकाश्रयानुप्रवेश-रूप सकर (३) सदिगृरूप सकर । इससे पूर्व सर्वस्वकार ने सकर के तीन भेदों का निर्देश इस प्रकार किया था—क्षीरनीरन्यायेन तु सकर । मिथ-श्चम् इत्येष । अनाकटभेदश्चमुकटभेदश्च च मित्रत्वम् । तत्र मिथ्यमगागिभावेन, सशयेन, एकवाक्यानुप्रवेशेन च त्रिधा भवतु सकर विभेदमुत्थापयति ।^१

सन्देह-सकर—

पूयन्तेक्यं धनं सूर्यं प्राजापत्यं ब्रूह एषीन्समूहं तेजः ।

यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽस्त्यसौ पुष्य सोऽहमस्मि ॥

—ईश० १६

इस मन्त्र में आद्योपान्त साभिप्राय विशेषणों की स्थिति के कारण परिकर अलकार की प्रतीति हो रही है, पर साथ ही विषय-भेद के कारण एक ही ऋषि द्वारा एक ही देव (सूर्य) को अनेक रूपों में स्वीकार करने से उल्लेख अलकार की भी प्रतीति हो रही है । न तो निश्चित रूप से यहां किसी एक अलकार की प्रतीति है, न ही स्पष्ट रूप से दो अलकारों की, अतः यहां सन्देहसकर अलकार माना जा सकता है ।

२.१. गुण

वेद और उपनिषद् हमारे साहित्य के पूर्वरूप हैं। उनमें काव्य के अन्य तत्त्वों के समान गुणों की भी विद्यमानता दिखाई देती है, जो इनमें शब्दार्थघर्म के रूप में मिलते हैं। वेद और उपनिषदों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि आरम्भिक रूप में गुण तीन ही रहे होंगे— (१) विवट पदयोजना (२) कोमल पदयोजना (३) श्रुतिव्यर्थप्रतिपादक पदयोजना। इन्हें बाद में क्रमशः ओज, माधुर्य और प्रसाद नाम दे दिए गए। इन्हें भरत, दण्डो, भोज आदि परवर्ती आचार्यों ने बढ़ा कर ३ से २४ तक पहुँचा दिया।

जब ऋग्वेद का ऋषि—

सप्ततुमिव तितउना पुनतो यन्न धीरा मनसा वाचमव्रत ।

अत्रा सखाय सत्यानि जानते भद्रंवा सख्मीनिहिताधि वाचि ॥

—ऋ० १० ७१ २

यह कहता है, तब वह तितउना पुनत् से दोषपरिहार तथा भद्रंवा सख्मी निहिताधिवाचि से गुण के महत्त्व को प्रोद्घाटित करता है। इसी प्रकार उपनिषद् का ऋषि भी वन्ध में श्रुतिलय न आने, अर्थ के अनु रूप अक्षरों के समवेत उच्चारण, उत्पन्नत्व, अन्वयता आदि वाणी के सौन्दर्य के वर्धक गुणों से परिचित है। हम देखते हैं कि उसकी पदयोजना कभी सौम्य, सुन्दर, समता से विभूषित मन्दर गति में बहने वाली नदी के समान प्रवाहित होती है, तो कभी उत्कट, सज्जिष्ट, गुम्फित तथा गाढ़ होकर विवटता को छारण करती है। कभी ऋषि की वाणी में अर्थ-वैमल्य के उपपादक पदों का प्रयोग मिलता है जिससे मन्त्र पढ़ते ही तुरन्त अर्थ की प्रतीति होती है। उपनिषद् के ऋषि का यह वाक्यमोन्दर्य स्थान स्थान पर प्रकट होता है। प्रतीत होता है कि वेद तथा उपनिषद्

परवर्ती कवियों के लिए मार्ग का निर्माण करते रहे और उन्होंने इनसे प्रेरणा प्राप्त करके काव्य के गुणों का लक्षण तथा लक्ष्य ग्रन्थों में विवेचन एवं वर्णन किया।

काव्य के गुणों तथा रीतियों का अकुर तो उसी समय प्रस्फुटित हो गया होगा जब ऋग्वेद के ऋषि ने गान प्रारम्भ किया तथा उसकी ऋचाओं में अक्षरो व पदों के उच्चारण-प्रयत्न की एकता, ध्वनिसाम्य, मृदु-अल्पप्राण प्रसरो का बहुल प्रयोग आदि विशेषताएँ उभरीं।

उपनिषद् का ऋषि भी वाणी के गुण-दोष से परिचित है। वह ऋचाओं के गान को मृदु, श्लक्ष्ण, बलवद् तथा अपध्वान्त संज्ञाएँ देता है।^१ इससे स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि मुन्दरता, नीरसता, अस्पष्टता आदि उक्ति के गुण-दोषों से परिचित थे। इन्हे ही परवर्ती आचार्यों ने काव्यशास्त्र के ग्रन्थ लिखते समय गुण-दोष के रूप में प्रतिपादित किया।

महाभारत तथा रामायण में भी स्थान-स्थान पर वाणी तथा वाक्य की विशेषताओं का उल्लेख हुआ है, जिसने ऋग्वेद से प्रारब्ध परम्परा को विकसित किया। वाल्मीकि तथा व्यास अपने पात्रों के वार्तालाप द्वारा वाक्यों की आनुपूर्वी, तीक्ष्णता, मृदुता, हृदयप्राहिता आदि वाणी के गुणों का निर्देश करते हैं। कर्ण से कृष्ण ने जब वार्तालाप किया तो उनकी वाणी में उपर्युक्त गुण थे।^२ हनुमान् ने भी जब

१ विनदि साम्नी बृणे पशव्यमित्यग्नेरद्वीषोऽनिदस्त प्रजापतेर्निदस्तः
सोमस्य मृदु श्लक्ष्ण वायो श्लक्ष्ण बलवदिन्द्रस्य त्रैल्व बृहस्पतेरपध्वान्तं बरगस्य
साप्तबनिबोपसेवेत आश्विन त्वेव बर्जयेत् ॥ (छा० २ २२. १)

२. आनुपूर्व्येण वाक्यानि तीक्ष्णानि च मृद्वनि ।

प्रियाणि धर्मयुक्तानि सत्यानि च हितानि च ॥

हृदयप्रहृणोयानि राघवे बभूवुस्ततः ।

पान्यत्रवीरमेपात्मा तानि मे शृणु भारत ॥

(महाभारत, उद्योगपर्व, १४०. ४-५)

सर्व-स्वीकृत तथा पूर्णतः प्रतिष्ठित गुणों के आधार पर ही उपनिषदों में विद्यमान गुणों के सौन्दर्य को प्रोद्घाटित करने का प्रयास किया गया है।

वैदिक साहित्य की कोमल वर्ण-योजना माधुर्यगुण, विकटवर्ण-योजना श्रोजोगुण तथा पदों की तुरन्त अर्थप्रत्यायकता प्रसादगुण के रूप में अभिहित हुई है। यहाँ उन्हीं के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

२१.१. माधुर्यगुण

विरचनाय ने माधुर्य के व्यञ्जक वर्णों तथा वृत्तियों का इस प्रकार प्रतिपादन किया है—

मूर्ध्नि वर्णान्त्यवर्णैर्न युक्ताष्टठडान् विना ।

एषो सधू ष तद्व्यस्तो वर्णाः कारयता गताः ॥

अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा ।

—सा० द० न. ३

अर्थात् ट, ठ, ड, ढ से विन्ना वर्णों, अथ भाग में वर्णों के अन्तिम वर्णों—ज, म, ड, ण, न से युक्त होने पर माधुर्य के व्यञ्जक होते हैं। ए और ष भी माधुर्य के व्यञ्जक वर्ण हैं। एवम् अवृत्ति—समासरहित अथवा अल्पवृत्ति—छोटे समासों वाली मधुर रचना भी माधुर्य की व्यञ्जक होती है।

उपनिषदों में प्राप्त माधुर्य गुण के निम्न उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

तदेजति तन्नमति तददूरे तद्वनिके ।

तन्नरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत ॥

—ईश० ५

नाह मन्ये सुवेदेति नो न वेवेति वेद च ।

यो नस्तद्वेद तदेव नो न वेदेति वेद च ॥

—केन० २. २

महान्तं विमुखात्मानं यत्वा धीरो न शोचति ।

—कठ० २. २२

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक नेमा विद्युतो भागि कुतोऽयमग्निः ।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिव विभाति ॥

—कठ० ५ १५

वयमाश्रित्य दातारं शिता त्वं मातरिश्व नः ॥

—प्र० २. ११

या च मनसि सतता शिवा तां कुर्वन् मोक्षयन् ॥

—प्र० २ १२

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूप्रवर्णा ।

स्फूर्तिमिनी विद्वरुची च देवी सेलायमाना इति सप्त जिह्वा ॥

—मु० १ २ ४

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।

पर्याप्तकामस्य कृतारमनस्तु इहैव सर्वं प्रविशोयन्ति कामाः ॥

—मु० ३ २. २

यत्र सुप्तो न कचन काम कामयते न कचन स्वप्न पश्यति तत्सुषुप्तम् ।

—मा० ५

सोऽकामयतः । बहु स्यां प्रजायेयेति । तथोऽस्तप्यतः । स तपस्तप्या ।

इव सर्वमसृजतः ।

—तै० २. ६

ते वा एते रसानां रसाः । वेदा हि रसाः । तेयामेते रसाः । तानि वा

एतान्यमृतानाममृतानि । वेदा इमृताः । तेयामेतान्यमृतानि ।

—छा० ३. ५ ४

यो यं भूमा तत्सुखम् । नात्पे सुखमस्ति । भूमैव सुखम् । भूमा त्वेव

विजिज्ञासितम्य इति । भूमान भगवो विजिज्ञास इति ॥

—छा० ७ २३ १

अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता सोऽसोऽसो देवा अदेवा
वेदा अवेदाः ।

—बृ० ४ ३. २२

। नैन पाप्मा सरति । सर्वे पाप्मान सरति । नैन पाप्मा
तपति । सर्वे पाप्मान तपति । शिष्यो विरजोऽधिचिकित्सो ब्राह्मणो भवति ।

। सोऽहं भगवते विवेकान् वदामि । मा चापि सह दास्यायेति ॥

—वृ० ४ ४ २३

वेदाहमेत पुण्य महातमादित्ययणं तमस परस्तात ।

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नाय पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

—श्वे० ३ ८

नवद्वारे पुरे देही हसो सेनायते यहि ।

बशी सवस्य लोकस्य स्वाबरस्य चरस्य च ॥

—श्वे० ३ १८

तमीश्वराणा परम भहेश्वर त देवताना परम च श्वतम ।

पति पतीना परम परस्ताव विदाम देव भुयनेशमीडपम ॥^१

—श्वे० ६ ७

२१२ ओजोगुण

विश्वनाथ ने ओज के व्यञ्जक वर्णों तथा वृत्तियों का इस प्रकार
विश्लेषण किया है—

अगत्याद्यतृतीयाम्ना मुक्तौ बशी तशन्तिनी ।

उपबधौ द्वयोर्वा शरेकाष्टठडै सह ॥

शकारश्च यकारश्च तस्य व्यञ्जकता गता ।

तथा समासो बहुलो घटनौद्धत्यशानिनी ॥

—सा० द० = ५६

वग के पहिले अक्षर के साथ मिला हुआ उसी वर्ग का दूसरा अक्षर,
घीर तीसरे अक्षर के साथ मिला हुआ उसी वर्ग का चौथा अक्षर तथा

अथ दृष्टव्य —कठ० २ ३ २ २१, ४४, १ १, मु० १. १. ८,
३ २ ३, ३ २ ४ तै० १ ११ २ १, छा० २ १. ३, ३ ६ ४, ३ ११ २,
४ १ ४, ४ ४ २४ ४ १४ ३ ८ २ ११, ८ ६ ४, वृ० ४ ४ २५,
श्वे० २ १७, ३ २१

ऊपर या नीचे अथवा दोनों ओर रेफ से युक्त अक्षर एव ट, ठ, ड, ढ, श और ण ये सब ओज के व्यञ्जक होते हैं । इसी प्रकार लम्बे समास और उद्धत रचना ओज का व्यञ्जन करती है ।

उपनिषदों में ओजोगुण की दृष्टा निम्न मन्त्रों में द्रष्टव्य है—

त पर्यगाच्छुक्रमकायमवगमस्नाविर शुद्धमपापबिद्धम् ।

कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भूर्पापातप्यतोऽर्पान् व्यवधाच्छातवतीभ्यः समाभ्य ॥

—ईश० ८

ओजस्य ओज मनसो मनो यद् वाचो ह वाच स उ प्राणस्य प्राणः ।

बभ्रुपरबभ्रुरतिमुष्य धीरा ग्रंथास्मात्सोकादमृता बभन्ति ॥

—केन० १. २

यच्छेद्वाङ्मनसो प्रातस्तपश्चेज्जान आत्मनि ।

ज्ञानमात्मनि भवति नियच्छेत्तच्छेज्जान आत्मनि ॥

—कठ० ३ १३

परांषि धानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराद् परयति नागतरात्मन् ।

कश्चिद्धीर प्रापणात्मानमक्षयवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

—कठ० ४ १

त स्वाच्छरीराप्रवृहेन्मुञ्चादिविषीका धर्मैः ।

त विद्याच्छुक्रममृत त विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥

—कठ० ६ १७

ष्मिन्निरेत यदुभिरन्तरिक्ष साधमियंस्तत्त्वयो वेदयन्ते ।

तमोऽङ्गारेणवाऽप्यतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतममय पर चेति ॥

—प्रश्न० ५ ॥

यसदवेत्यमसाह्वयगोदमवर्गमवन्नुद्योत तदपाणिपादम् ।

—मु० १ १ ६

यस्याग्निरोजमहर्जामपौर्णमासमवाप्तुर्मास्ययनाप्रयणमग्निविदग्नि च ।

—मु० १. २. ३

नान्त प्रज्ञ न बहि प्रज्ञ न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञ नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहारीम-
प्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसार प्रपञ्चोपशम शान्त शिवमईत चतुर्थं
मन्यन्ते । स आत्मा । स विज्ञेयः ॥

—मा० ७

अभिस्तोक्तमधिष्ठयौतिपद्मधिपिदमधिप्रजमध्यात्मम् ।

—तै० १ ३

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत । तन्नाश्वनोच्छ्रोत्रेण श्रुहीतुम् । स यद्वैतच्छ्रोत्रेणा-
प्रहृष्यच्छासा हैवानमन्नन्त्यत् ।

—ऐत० १. ३ ६

अथ यद्वा धैर्वास्मिच्छस्य कुर्वन्ति यच्च च नार्धियमेवामितभवंति ।
अर्धिवोऽह । अहम् भापूर्णमाणयक्षम् । भापूर्णमाणयक्षान्दबुद्धदेति
मासास्तान् ।

—छा० ४ १५ ५

यदा य निस्तिष्ठत्यय अद्दधाति । नानिस्तिष्ठच्छ्रुद्वधाति ।
निस्तिष्ठन्नेव अद्दधाति । निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितध्येति । निष्ठां भगवो
विजिज्ञास इति ॥

—छा० ७ २० १

सा वा एषा देवतैतासा देवताना पाप्मानं भृत्पुमपहस्य यत्राऽऽसा
विशामन्तस्तद्गुणमर्थावकारः । तत्रासा पाप्मानो विन्धदद्यात् । तस्मान्न जगमिया-
न्नात्तमियान्तेत्पाप्मानं भृत्पुमन्ववायानीति ॥

—वृ० १ ३ १०

इय वै तन्मयु इत्यहडाचर्वणोऽरिक्क्यामुवाच । तदेतद्वि परपन्नवोचत्—

भायवर्णायारिक्कौ वधीचेऽस्य^७ शिरः प्रत्येरयत्तम् ।

॥ वा मधु प्रवोचवृत्तायन् त्वाप्यु यद्दृष्टावपि कस्य धामिति ॥

—वृ० २ ५ १७

तमेकनेमि विवृत्त घोडशान्त शताप्यारि विशतिप्रत्यराभिः ।

अष्टशं पडमिविरवरूपैकपारा विमार्गभेद द्विनिमित्तकमोहम् ॥

—श्वे० १. ४

सकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्प्राप्ताम्बुवृष्टया चात्मविवर्द्धिजम् ।

कर्मानुष्ठानानुक्रमेण देही स्थानेषु स्थाप्यमित्तप्रपद्यते ॥^१

—श्वे० ५ ११

२ १ ३ प्रसादगुण

विश्वनाथ न प्रसाद के व्यजक वर्णों तथा रचना का हम प्रकार विवेचन किया है—

स प्रसाद समस्तेषु रसेषु रचनानु च ।

शाब्दास्तदव्यञ्जका मयबोधका श्रुतिमात्रतः ॥

—मा० द० ८ ८

यह प्रसाद गुण समस्त रसा और सम्पूर्ण रचनाओं में रह सकता है। मुनत ही जिनका अर्थ प्रतीत हो जाए ऐसे सरल और सुवाच्य पद प्रसाद के व्यजक होते हैं। इसके उपनिषदा में प्राप्त कतिपय उदाहरण देखिए—

ईशावास्यमिदं सर्वं यद्विज्ञा जगत्यां भगवतः ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कल्पेस्विदधनम् ॥

—ईश० १

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यामवान्मूढ विमानन ।

तत्र को मोहो यः शोक एव त्वमनुपश्यतः ॥

—ईश० ७

यच्चक्षुषा न पश्यति येन धनूषि पश्यति ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुषामने ॥

—कन० १ ७

१ अथन दृष्टव्य — ई० ३ १८ वृ० १ १८ ४८, ४२, प्र० २ ३, मा० १०, १० १ ३ ३ ५ १ ३ ७ १०, २३ ३ ४ तै० २ ७ छा० १ ६ ५, १ १० ६ १ १ १ ३ २ ६ ६, २ १ २ २ २ २ २ १ २ २ ३ २ २ २ ३ ३, २-४ ३, २ २ ४ ७, २ २ ४ १ १, ३ १ ७ ३ १ ४ ३, ४ ६ ४ ५ १-१ २ ५ १ ८ २ ५ १ ६ २, ६ २ १, ६-१ १ १, ७ १ १ १, ७ १ ५ ३, ८ ८ ५, वृ० १ ३ २ ४, २ ० ३, ३ ७ २ ३, ३ ८ ८ ४ ३ ३ १, ६ ४ ५, श्वे० ३ ६, ३ १ ३

आत्मानं रयिं विद्धि शरीरं रयमेव तु ।

बुद्धिं तु सारं विद्धि मनं प्रग्रहमेव च ॥

—कठ० ३ ३

अग्निर्धर्मको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिरव ॥

—कठ० ५ ९

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य धनुं लिप्यते चाक्षुर्ब्राह्मदेवैः ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकेषु खेन बाह्य ॥

—कठ० ५ ११

स यथेमा नद्यं त्यज्यमाना समुद्रायणा समुद्रं प्राप्यास्त गच्छन्ति ।
मिच्छेते तासां नामरूपे । समुद्र इत्येव प्रोच्यते । एवमेवास्य परिहृष्टुरिमा षोडश
कला पुरुषायणा पुरुषं प्राप्यास्त गच्छन्ति । मिच्छेते चासां नामरूपे । पुरुष
इत्येव प्रोच्यते । स एषोऽकमोऽमृतो भवति ।

—प्रश्न० ६ ५

प्रणवी धनुं करो ह्यात्मा बह्म तत्त्वस्यमुच्यते ।

अप्रमत्तेन धेद्विष्य शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

—मु० २ २ ४

यथा नद्यं त्यज्यमाना समुद्रेऽस्त गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।

तथा विद्वान् नामरूपाद विमुक्त परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

—मु० ३ २. ८

जन्नाद् भवन्ति भूतानि आनाम्यन्तेन वधन्ते ।

अद्यतेऽपि च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते ॥

—तै० २. २

आदिशो बहुतेषां । तस्योपध्यात्पानम् । असवेवेदमप्र आसीत् ।
तत् सदासीत् । तत्समभवत् । तदाण्डं निरवर्तत । तत्सवत्सरस्य मज्जामरापत् ।
तन्निरभिद्यत । ते आण्डकषान्ते रजतं च सुवर्णं चाभवताम् ॥

—छा० ३ १९.१

सद्यद्रजत सेध पृथिवी । यत्सुवर्णं सा द्यौः । यज्जरायु तं पवंता ।
यदुल्ब (स) समेधो नीहार । या धमनयस्ता नद्य । यद्वास्तेयमुदकं स समुद्र ॥

—छा० ३.१९. २

उपर्युक्त मन्त्र में सृष्टिन्म का वर्णन अत्यन्त सरलता से
ग्राह्य शब्दों में किया गया है ।

यदा कर्मसु काम्येषु स्थिय स्वप्नेषु पश्यति ।

समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने ॥

—छा० ५. २. ८

यथेह सुधिता बाला भातर पर्युपासते ।

एव सदाणि भूताः प्यग्निहोत्रमुपासते ॥

—छा० ५. २४. ५

असतो मा सद्गमय ।

तमसो मा ज्योतिर्गमय ।

मृत्योर्माऽमृतं गमय ।

—वृ० १. ३. २८

सा होवाच मंत्रेयी—यन्तु म इय भयो सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्
इय तेनामृता स्यामिति । नेति होवाच याज्ञवल्क्य । ययंबोपकरणवतां जीवितं
तयैव ते जीवितं स्यात् । अमृतत्वस्य तु नाऽऽज्ञास्ति वित्तेनेति ॥

—वृ० २. ४. २

न वा अरे पत्यु कामाय पति प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पति
प्रियो भवति । आत्मा वा अरे द्रष्टव्यं श्रोतव्यो मतप्यो निदिध्यासितरवो
मंत्रेयि । आत्मनो वा अरे दर्शनेन अध्यजेन मत्या विज्ञानेनेद सर्वं विदितम् ॥

—वृ० २. ४. ५

यहां आत्मतत्त्व के गहन विषय का अत्यन्त सरल शब्दों से
प्रतिपादन किया गया है ।

अदृष्टस्मिन्नाज्जो ज्ञेयो वा सुषणो वा विपरिपत्य ध्यात मृत्यु
पश्यी सप्तदशैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति । यत्र मुप्तो न
इध्न काम कामयते न इध्न स्वप्न पश्यति ॥

—वृ० ४. ३. १९

इन मन्त्रों में दुर्ज्ञेय आत्मा की जागृतावस्था, स्वप्नावस्था तथा सुषुप्ति अवस्था का कितनी सरल भाषा में वर्णन किया गया है ।

तितेपु तैल दधिनीव सर्पिराष श्रोत स्वरणीषु चान्नि ।

एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योज्युपश्यति ॥

—श्वे० १ १५

यवाप्ततत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्व दीपोपमेनेह युक्तं प्रपश्येत् ।

भज भूय सर्वतत्त्वेर्विशुद्धं ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपापं ॥

—श्वे० २ १५

माया तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।

तस्यावयवभूतंस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥

—श्वे० ४. १०

एको देव सर्वभूतेषु गूढ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।

कर्माव्यक्तं सर्वभूताधिवासं साक्षी चेत्ता देवसो निर्गुणरश्मिः ॥^१

—श्वे० ६ ११

१. अथवा द्रष्टव्य —ईशा० ६, १४, १५, केन० १. ६, २. ८, १ ६, कठ० १. ३, १. ५, १. १२, १ २५, २. ७, २. १५, २. १७, २. २३, ३ ४, ३. ५-१२, ५ ५, ५ १०, ५. १२, ५ १३, ६ १४, ६ १५, प्रश्न० १. ८, २. ५, २. १३, ४ २, ४. ११, ६ ५, सु० १. २ ८, १. २. ६, २ १. १, २. १. ६, २ २. ३, २ २, ६, ३ १ ८, तै० २ ३, २. ४, ३ ६-७, ऐत० १. २. ४, छा० १. ६ १ ३. १३ ६, ३. १७ १-४, ३. १८. ३, ४ १७ ७, ७ २६ २, ८. १. ३, नृ० १ ३ २३, २. १ २०, २ ४. १२, ३. ६ १०-१७, ३. ६ २८, ४ ४ ३-४, ४. ४ १६, ४ ५. १५, श्वे० १. १६, २ ६, २. ११, ४. १६, ५ १०, ६ १३, ६ १५, ६ १६, ६ २०.

२.२. रीति

आचार्य भरत ने गुणों का तो उल्लेख किया है, परन्तु गुणों के योग से बनने वाली रीति का निर्देश नहीं किया। उन्होंने रीति के स्थान पर प्रवृत्ति का वर्णन किया है जोकि रीति में विल्कुल भिन्न है। रीति का सम्बन्ध भाषाशैली से है, तो प्रवृत्ति में भाषा के अतिरिक्त वेशभूषा एवम् सामाजिक व्यवहारों का भी सम्निवेश होता है, जो देश के विभिन्न प्रान्तों में भरत के समय में प्रचलित थे। संभवतः भरत की इन प्रवृत्तियों से प्रेरणा प्राप्त करके ही परवर्ती आचार्यों ने स्थानीय विशेषताओं के आधार पर रीतियों का नामकरण किया हो।

भरत के बाद बाणभट्ट के समय से हम देश विशेष के आधार पर प्रचलित काव्यशैलियों के रूप में रीति का प्रारम्भिक रूप देखते हैं। बाणभट्ट कहते हैं—

श्लेषप्रायमृदोच्चेषु प्रतीच्चेत्यर्थमात्रम् ।

उत्प्रेक्षा वाक्शिक्षाश्लेषे गौडेष्वक्षरदम्बर ॥^१

दण्डी के समय से हम साहित्यिक शैली की दो विधाओं से परिचित होते हैं जिन्हें उन्होंने वैदर्भ तथा गौडमार्ग के नाम से अभिहित किया है। दण्डी मार्ग के अतिरिक्त कर्त्तृ तथा पदति शब्दों का भी प्रयोग करते हैं। उनकी दृष्टि में काव्य-पदति के स्थूल दृष्टि से ये ही दो रूप हैं जिनमें हम स्पष्ट अन्तर कर सकते हैं। वैसे ही हम जितने चाहें भेद कर सकते हैं। जितने कवि हैं उतने ही उनके वर्णना के प्रकार होते हैं और उनकी गणना असंभव है—

तद्वृत्तेषास्तु न शक्यन्ते चरन् प्रति कविद्विषता ।^२

धामन ने मस्कृत-साहित्यशास्त्र में रीति की स्थापना के साथ-साथ उसके स्वरूप का निर्धारण भी किया। उन्होंने सर्वप्रथम रीति को

१. बाण, हृष्यरित, १. ७

२. दण्डी, का० १. १०१

काव्य की आत्मा कहकर उसके महत्त्व को स्थापित किया। उनके मत में विशिष्ट पदरचना रीति है। पदरचना गुणों के कारण विशिष्ट होती है। अतः गुण रीति का मुख्य आधार है। ये रीतियाँ तीन हैं— (१) वैदर्भी (२) गौडी (३) पांचाली। पहिले तो प्रवेश-विशेष के कवियों की काव्यरचना-सम्बन्धी शब्दविधा के आधार पर रीतियों का नामकरण हुआ। परन्तु बाद में विशेष प्रकार की पद्धति के आधार पर उनका विवेचन होने लगा। यह आवश्यक नहीं रह गया कि गौड़ देश के कवि ही गौडी का प्रयोग करते। अन्य देशों के कवि भी यदि उस प्रकार की विधा में काव्य रचना करते थे तो उनकी पद्धति को भी गौडी ही कहा जाता था। इस प्रकार रीतियों का प्रारम्भ में भौगोलिक स्थिति के आधार पर चाहे नामकरण हुआ हो परन्तु बाद में वे किसी देश-विशेष या क्षेत्र से सम्बद्ध नहीं रही। उनका क्षेत्र विस्तृत हो गया।

दण्डी के दो मार्गों का आगे चलकर विस्तार होना गया। वामन ने उन्हें दो से तीन और रुद्रट ने तीन से चार बना दिया। भोजराज ने उनकी मर्यादा में और वृद्धि की। पहले तो रीतियाँ भाषा की शैलीगत विशेषताओं के रूप में स्वीकार की गईं और उनका व्यक्तित्व स्वतंत्र रहा, परन्तु जब साहित्यशास्त्र में रसध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हुई तो काव्य के अलंकार, गुण आदि अन्य अंगों के समान रीति की भी पुनर्व्यवस्था हुई। रीति रस का उपकारक बन गई और उसे काव्य की आत्मा के स्थान से हटाकर काव्यशरीर में अंगसंस्थान का स्थान प्राप्त हुआ।

यहाँ यह विचारणीय है कि रीति तथा गुण में क्या अन्तर है। गुण रीति के निष्पादक है, उसके अंग है, तथा रीति अंग है। रीति में समग्रता तथा अव्यञ्जिता है और यह कवि की पूर्ण काव्यविधा की परिचायिका है। कालिदास वैदर्भी रीति के कवि है और सुबन्धु तथा बाणभट्ट गौडी रीति के। इस प्रकार रीति एक पद्धति है और वह कवि के रचना-प्रकार को व्यक्त करती है। परन्तु गुण अपने में अलग अलग इकाई है। वे मिलकर रीति बनाते हैं, जैसे फूल मिलकर माला बनाते हैं। माला फूलों के बिना नहीं बन सकती। रीति भी गुणों के बिना सम्पन्न नहीं होती। गुण व्यष्टि है और रीति समष्टि।

वैदिक ऋषियों की अभिव्यक्ति की भी अपनी एक पद्धति है, एक विधा है, जिसके माध्यम से वे अपने विचारों को प्रकट करते हैं। उपनिषदों के ऋषि भाषा के इस अभिव्यक्तिकौशल से परिचित हैं। बाद में प्रचलित वैदर्भी, गौडी आदि रीतियों के पूर्वरूप उपनिषदों में लक्षित किए जा सकते हैं। इन्हीं का परवर्ती साहित्य में विकास हुआ और लक्षणग्रन्थों में उनकी विवेचना हुई।

यहां विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित रीतियों के स्वरूप के आधार पर उपनिषदों में रीतियों का प्रदर्शन किया गया है। विश्वनाथ ने वैदर्भी, गौडी, पाचाली और लाटिका ये चार रीतियां मानी हैं।

२२१. वैदर्भी रीति

विश्वनाथ के अनुसार वैदर्भी का लक्षण है—

माधुर्यव्यञ्जकैर्बर्णै रचना लसितात्मिका ।

अवृत्तिरक्षयुत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥

—सा० द० ९ २

उपनिषदों में उपलब्ध वैदर्भी रीति के कतिपय उदाहरण नीचे उद्धृत हैं —

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्मात्मैवाप्नुव विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपरयत ॥

—ईश० ॥

॥ तत्र चक्षुर्गच्छति न चागच्छति नो मनः ।

न विद्मो न विजानीमो यद्यंतदनुशिष्यात् ॥

—वेन० १. ३

यन्मनसा न भनुते येनाहर्मनो मतम् ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

—वेन० १ ६

आत्मना विन्दते वीर्यं विद्याया विन्दतेऽमृतम् ॥

—वेन० २. ४

स्वर्गं लोके न मय विद्मन्नास्ति न तत्र त्वं न जरया विभेति ।

उभे तीर्त्वाजानायापिपासे शोकातिपो मोदते स्वर्गं लोके ॥

—कठ० १ १२

आसीनो ब्रूय सज्जति शयानो याति सबत ।

कस्त मदामद देव मदन्यो जातुमहति ॥

—कठ० २ २१

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान निबोधत ।

सुरस्य धारा निशिता दुरत्या दुर्गे धधस्तत्कवयो वदन्ति ॥

—कठ० ३ १४

एको बभौ सबभूतान्तरात्मा एक रूप बहुधा य करोति ।

तमात्मस्थ धेनुपश्यन्ति धीरास्तेषा सुख साधयत नेतरेषाम् ॥

—कठ० ५ १२

हन्त्रस्त्व प्राण तेजसा द्योऽसि परिरक्षिता ।

रथमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्व ज्योतिषा पति ॥

—प्रश्न० २ ९

अविद्यायामन्तरे यतमाना स्वय धीरा पण्डितमयमाना ।

जङ्गम्यमाना परिचन्ति नृदा जग्येर्ज्वल नीयमाना यथाया ॥

—मु० १ २ ८

न तत्र सूर्यो भाति न च द्रतारक नेमा विद्युतो भस्ति कुतोऽग्नयमग्नि ।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

—मु० २ २ ११

वैश्वानूष्याऽऽचार्योऽन्तेवातिनमनुभास्ति । तस्य षड् । धर्मं चर ।

स्वाध्यायान्ता प्रमद । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आत्मादेवो भव ।

अतिथिदेवो भव । अश्वया देवम । अश्वद्वयादेवम । ह्रिया देवम् । मिया

वैयम । सविदा देवम ।

—तै० १ ११

यतो वाचो नियतन्ते अप्राप्य मनसा सह ।

आनन्द ब्रह्मणो विद्वान न बिभेति कदाचन ॥

—तै० २ ४

न मे स्तेनो जनपदे न कव्यो न मद्यप ।

मानाहिताग्निर्नाविद्वान् स्वैरी स्वैरिणी कृत ॥

—छा० ५ ११ ५

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतर जिघ्रति, तदितर इतर पश्यति ..
तदितर इतर विजानाति । यत्र यो अस्य सर्वमात्मैवाभून् तत् केन क जिघ्रेत् तत्
केन क पश्येत् विज्ञासारमरे केन विजानीयादिति ।

वृ० २ ४. १४

किं कारणं ब्रह्म कुत स्म जाता जीवाम केन यच्च स सप्रतिष्ठा ।

अधिष्ठिता केन सुखेतरेषु वसामिहे ब्रह्मविदो व्यचक्ष्यात् ।

—श्वे० १ १

यद्येव विम्ब मृदयोपलिप्त तेजोमय आजते तत् सुधीतम् ।

तद्वाऽऽत्मतत्त्व प्रसमीक्ष्य देहो एक कृत्वा र्णो भवते बीतशोकः ॥

—श्वे० २ १४

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेशो यदूनां यो विदधाति कामान् ।

तत्कारणं साक्ष्ययोगाधिगम्य ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपापं ॥^१

—श्वे० ६ १३

०२ गौडी रीति

विश्वनाथ के अनुसार इसका लक्षण है—

ओज प्रकाशकैर्बर्णैर्दग्ध आदम्यर पुन । समासवहुला गौडी ॥

—मा० व० १ ३

कुछ एक उदाहरण देखिए—

स पर्यगाच्छृण्वन्मन्त्रमन्त्रमस्त्राविर मुष्टमपापविद्धम् ।

बहिर्मनोषी परिभू स्वयम्भूर्वापातघ्नतोऽर्षान् स्वयधाच्छाश्वतीभ्य
समाभ्य ।

—दीश० ८

१. अन्वयः द्रष्टव्य — केन० १. १, १ ३, १४ १, ७, १८, २३;
षष्ठ० २. १५, ४, ३ ४४, प्रश्न० २ ७, २. ८, ४. २, ४. ८, मू० १ २५,
१ २ ६, २ १ ६, २ १ ६, नै० मृगुवल्ली (गणपूजं), छा० ४ २ ८,
बृह० १. ४. १७, २ २ ३, २ ४ १२, - १. ८, ३. ६. १-४, ३ ७ १५-२३,
२. ६. २६, ४ १ २-७, ४३. १०, ४ ३ १३, ४. ३ १६-१८, श्वे० १. २,
१ १५, १ १६, २. १०, २. १५, २ १६, २. १७, ३. ४, ३. ७, ४ ७-८,
४ १७, ६. ४, ६. ११, ६. १४

पराचि छानि ध्यतृणत् स्वयम्भुस्तस्मात् पराई पर्याप्तान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धोर प्रत्यगात्मानमसदावृतचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

—कठ० ४ १

हस शुचिपद्मसुरन्तरिक्षसद्वोता वेदियदतिथिर्वुरोषसत् ।
नृपवृत्तद्वन्द्वर ध्योमसद्वन्ता गोजा श्रुतजा व्यदिजा श्रुत बृहत् ॥

—कठ० ५ २

श्रुमिरेत यदुमिरन्तरिक्ष सामभिर्यत्तत्त्वयो वेदयन्ते ।
तमोद्गारेणैवाऽऽयननेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमनरममृतमस्य पर वेति ॥

—प्रश्न० ५. ७

यत्तद्वेश्ममप्राह्ममगोत्रमवर्णमचक्षु श्रोत्रं तदपाणिपादम् ।
गित्य विष्णु सवंपत सुसूक्ष्म तदव्यय यद्भूतयोनि परिपापनि धीरा ॥

—मु० १. १ ६

यत्पाग्निहोत्रमवर्णमपौषं मासमचातुर्मास्यमनाप्रयणमतिथिर्बनित च ।
अहृतमवर्णपदेवमविदिता हृतमातप्तमास्तस्य लोकान् हिनति ॥

—मु० १ २. ३

नान्त प्रज्ञ न बहिःप्रज्ञ नोभयत प्रज्ञ न प्रज्ञानघन च प्रज्ञ नाप्रज्ञम् ।
अवृष्टमव्यवहार्यमप्राह्ममसलगमविम्यमव्यपदेश्यमेकस्मप्रत्यमसार प्रपचोपसामं
शान्त शिवमद्वैत अक्षुपं मय्यन्ते । स आत्मा । स विज्ञेय ॥

—मा० ७

तदेनत्सृष्ट पराहृत्यनिघासन् । तदवाचाजिघृत्सत् । तन्नाशस्तोवाचा
पहीतुम् । स यदघेनम् आचाऽपदेवदमिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्यत् ॥

—ऐत० १. ३. ३

एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान्प्रीहेर्वा यवाद्वा सर्वेषाद्वा श्यामाकाद्वा
श्यामाकृतम्बुसाद्वा । एष म आत्माऽन्तर्हृदये व्यापान्पृथिव्या व्यापानन्तरिक्षा-
ऽव्यापान्दिवो व्यापानेभ्यो लोकेभ्य ॥

—छा० ३ १४. ३

यथा सोम्य पुरुष गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत् ।
स यथा तत्र प्राङ् बोधङ् वाऽधराङ् वा प्रत्यङ् वा प्रश्मायीताभिनद्धाक्ष
आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः ॥

—छा० ६ १४. १

इदं वै तन्मधु बध्यद्वापर्वणोऽस्त्रिभ्यामुवाच । तदेतदुवि. पर्यन्तवोचत्—

तद्वा मरा सनये बध्यत्स उपमाविष्कृणोमि तन्मधुर्न वृष्टिम् ।

बध्यद् ह धन्मद्वापर्वणो वामरुवस्य घोर्णा प्र यदीमुवाचेति ॥

—बृ० २ ५. १६

स होवाच—एतद् तदक्षरं नास्ति ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्मूलमनन्वहृत्स्व-
मदीर्घमस्रोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवायवनाकाशमतममरसमगन्धमधुभुक्कमधोप्रमेवा-
गमनोऽन्तेजस्कमप्राणममुष्मगात्रमनन्तरमबाह्यम् । न तदस्मात् किञ्चन । न
तदस्मात् किञ्चन ॥

—बृ० ३ ८. ८

क्षरं प्रयागममृताक्षरं हरं क्षरात्मनावीक्षते देव एक ।

तस्याभिध्यानाद्योजनात् सत्त्वमावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥

—श्वे० १ १०

सहस्पनस्पर्शमवृष्टिमोहैर्घासान्बुबुध्दपाः क्षातमविवृद्धिजन्म ।

कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु कृपाभ्यनितप्रपद्यते ॥^१

—श्वे० ५ ११

२.२ ३. पांचाली रीति

विश्वनाथ के अनुसार पांचाली का लक्षण है—

घर्षं शैवंः पुनर्द्वयोः ।

समस्तपञ्चपदो वन्द्यः पांचालिना मता ॥

—मा० ८० ९. ४

१. धन्यत्र दृष्टव्यः— षट्० ६ १६, मु० २. २. ६, व. १. ६;
छा० १ १० ११, २. ६. ७, ४. ६. ३, बृह० १. ५ ३, श्वे० ३. ३

उपनिषदो मे प्राप्य कतिपय उदाहरण इस प्रकार दिए जा सकते हैं—

अनेजदेक मनसो जयोषो नंगदेवा आप्नुवन पूर्वमर्थत ।

तद्वायतोऽन्यागत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नथो मातरिख्या दधाति ॥

—ईश० ४

पोतोदका अग्न्यतृणा कुम्भयोहा निरिन्द्रिया ।

अनग्वा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता दधत् ॥

—कठ० १ ३

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामारघ्नादत प्रार्थयस्व ।

इमा रामा सरथा सतृया न हीदृशा सम्भनीया मनुष्ये ।

आभिर्मत्प्रलाभि परिचारयस्व त्रचिकेतो मरण माप्नुम्राक्षी ॥

—कठ० १ २५

ययोर्ननाभि वृजते गृह्णते च यथा पृथिव्याभोषधय सम्भवन्ति ।

यथा सत पुष्पात् केसलोमानि तथाऽप्रात् सम्भवतीह विश्वम् ॥

—मु० १ १ ७

इष्टापूर्तं मयमाजा वरिष्ठ मान्यश्छेद्यो वेदयते प्रमूढा ।

नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विव्रान्ति ॥

—मु० १ २ १०

भीषाऽस्मादवात पवते भीषा उदेति सूप ।

भीषाऽस्मादग्निरथेद्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम ॥

—तै० २ ८

एते नृ सन्मन्वेषामवेदह देवानां जनिमानि विश्वा ।

शत मा धुर जायस्यारिरशन्नघ रयन्तां अक्सा निरदीयम् ॥

—ऐत० २. ५

मात्मा वेवानां अनिता प्रजानां हिरण्यदट्टो भमसोऽनसूरि ।

महान्तमस्य महिमानमाहुरनक्षमानो यदन्नमति ॥

—छा० ४ ३ ७

एष आत्माऽऽहृतपाप्मा धिक्नरो विमृत्युविशोको विजिघत्सोऽपिपास
सत्यकाम सत्यसकल्प । यथा ह्येवेह प्रजा जन्वाविशन्ति ययानुशासनम् । य
यमन्तमधिकामा भवन्ति य जनपद य क्षेत्रभाग त तमेवोपजीवन्ति ॥

—छा० ८ १. ५

स ऐशत यदि वा इममभिम^१स्ये कनीयोऽन्नं करिष्य इति । स तया
वाचा तेनात्मनेद सर्वममृजत यदिद किंच—ऋचो यजूषि सामानि ऋग्वांसि
यज्ञान् प्रजा पशून् । स यज्ञदेवामृजत तत्तदन्तुमघ्नयत । सर्वं वा
भक्षीति तद्वदितेरदितित्वम् । सर्वस्यैतस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्न भवति य
एवमेतद्वदितेरदितित्वं वेद ॥

—वृ० १ २ ५

तद्यथा मृणजलायुक्ता मृणस्यान्त गत्वाऽन्यभाक्रममाकम्पाऽऽजमानमुपसह-
रति । एवमेवायमात्मनेद शरीरं निहत्याधिष्ठा गमयित्वाऽन्यभाक्रममाकम्पाऽऽजमान-
मुपसहरति ॥

—वृ० ४. ४ ३

जगादगात् सम्भवति हृदयावधिजायते ।

स त्वभगरुपायोऽस्ति दिग्धविद्धामिव मादयेमाममू मयीति ॥

—वृ० ६. ४ ९

सर्वाग्नीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन् हसो आम्पते ब्रह्मचक्रे ।

पुमगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्तत्तस्तेनामूनत्वमेति ॥

—श्वे० १ ६

त्रिदन्त स्थाप्य सम शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सनिवेशय ।

ब्रह्मोद्भवेन प्रतरेत विद्वान् क्षोताति सर्वाणि जयाधृष्टानि ॥

—श्वे० २ ८

अगुष्टमात्रं पुदयोऽन्तरात्मा सदा अनानां हृदये सनिविष्ट ।

हृवा मनोया मनसाऽमिक्तुप्तो य एतद्विबुधमुतास्ते भवन्ति ॥^१

—श्वे० ३ १३

१. अगुष्टं दृष्टव्यं—वृ० ६-६; मृ० २ १.६, ३.१.७; छा० १.७ ४,
२.२०.२, ३.१.११, ७.४.३, गृहं १.४.६, ४४ १३, श्वे० ४.१, ४.६, ४ ६

२. ३. पाक

पाक भी कभी काव्यशास्त्र के तन्त्रों में अपना विशिष्ट स्थान रखता था । यज्ञतल इस विषय में प्राचीन आचार्यों के मत प्राप्त होते हैं, पर उत्तरकालीन आचार्यों ने पाक की ओर ध्यान नहीं दिया । सर्वप्रथम वामन ने पाक का विवेचन करते हुए कहा है—

आधानोद्धरणं तावद् जायहोलायते मनः ।

पदस्य स्थापिते स्वयं हन्त सिद्धा सरस्यती ॥

यत् पदानि त्वनन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम् ।

■ शब्दाभासनिष्णाता शब्दपाक प्रवक्षते ।

—का० सू० १ ३ १५

तदनन्तर उन्होंने पाक के दो भेद किए—(१) आम्रपाक
(२) वृन्ताक-पाक ।

काव्यबन्ध में गुणों की स्फुटता तथा पूर्णता आम्रपाक है तथा काव्यरचना में केवल सुप्, तिङ् का सस्कारमात्र होना तथा वस्तुगुण अर्थात् अर्थगुण का विलुप्त होना वृन्ताक-पाक है ।

गुणस्फुटत्वसाकल्यं काव्यपाक प्रवक्षते ।

वृन्तस्य परिचामेव स जायमुपमीयते ॥

मुक्तिद्विसाकारसारं यत् विलुप्तवस्तुगुणं भवेत् ।

काव्यं वृन्ताकपाकं स्याद्भुगुण्यन्ते अनास्ततः ॥

—का० सू० ३. २. १५

राजशेखर ने भी काव्यमीमांसा में पाक का विवेचन किया है ।

सततमभ्यागवशतः सुरुचे वाक्यं पाकमायाति । कः पुनरप्य पाकः ?
इत्याचार्याः । 'परिणाम' इति भवति । 'कः पुनरप्य परिणामः' इत्याचार्याः ।
'मुपां तिङा च शब्द (प्रि ?) या व्युत्पत्तिः' इति भवति । तौ सन्धमेतत् ।
'पदनिवेशनिष्कम्पता पाक' इत्याचार्याः ।

तदाहु —

आवापोद्धरणे तावद्यावहोत्तायते मन ।

पदाना स्यापिते स्वयं हन्त सिद्धा सरस्वती ॥

‘आग्रहपरिग्रहादपि पदस्यैर्यपर्यवसायस्तस्मात् पदानां परिवृत्तिर्विमुक्त्य-
पाक’ इति वामनीय^१ । तदाहु —

यत्पदानि त्यजन्त्येष परिवृत्तिसहिष्णुताम् ।

त शब्दन्यायनिष्ठाता शब्दपाक प्रचसते ॥

‘इयमशक्तित्वं पुन पाक’ इत्यवन्तिमुदरी । यदेकस्मिन् वस्तुनि महा-
शब्दोभामनेकोऽपि पाठ परिपाकवान् भवति, तस्मात्सोचितशब्दार्थभूतिनिबन्धन
पाक । यदाहु—

गुणालंकाररीत्युचितशब्दार्थप्रयत्नक्रम ।

स्वदत्ते सुधियां येन वाक्यपाकः स मां प्रति ॥

तदुक्तम् —

सति षष्ठरि सत्यर्थे तस्ये सति रसे सति ।

अस्ति तन्न विना येन परिलभति वाङ्मयम् ॥

‘कार्यानुमेयतया यत्तच्छब्दनिबेद्य पर पाकोऽभिधाविषयस्तत्सहृदय-
प्रसिद्धिसिद्ध एव व्यवहारयोग्यसौ’ इति धायावरीय ।^१

राजशेखर के पाकविषयक उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि उनका पाकविचार कुछ अंशों तक वामन से प्रभावित है । निरन्तर अभ्यास से कवि के वाक्यों में परिपक्वता आती है । अतः, पाक कवि के निरन्तर अभ्यास का परिणाम है, यह मंगल का मत है । पाक शब्दाश्रित है या अर्थाश्रित इस विषय पर विचार करते हुए राजशेखर ने हमारे सामने दो पक्ष प्रस्तुत किए हैं । मंगल आदि आचार्यों इसे शब्द का धर्म मानते हैं । मुक्त, वा, निरन्तर, शब्दों की श्रेणी, मंगल, व्युत्पत्ति, पदों के

प्रयोग में निर्भोक्ता वा नि सन्दिग्धता तथा एक बार लिखे गये पद के पुनः परिवर्तन की आवश्यकता न होना पाक है। इस प्रकार यह पाक शब्द का सौन्दर्य है। परन्तु, अवन्तीसुन्दरी के मत में रस के अनुगुण शब्द अर्थ एवं सूक्तियों का निबन्धन पाक है। अतः, पाक केवल शब्द का धर्म नहीं है। महाकवियों के काव्यों में एक के स्थान पर अनेक पाठ मिलते हैं। वे सभी परिपक्व तथा उपयुक्त भी होते हैं। इस दृष्टि से पाक को केवल शब्द का धर्म मानना अनुचित है।

इस विवाद को शान्त करने के लिए राजशेखर ने शब्दपाक तथा वाक्यपाक स्वीकार किए। शब्दपाक में शब्द की रमणीयता तथा वाक्यपाक में अर्थ की विच्छिन्निता होती है।

राजशेखर ने स्वयं पाक के नौ भेद किए हैं— पिचुमन्द पाक, वदर पाक, मृद्वीका पाक, वार्ताक पाक, तित्तिडी पाक, सहकार पाक, ऋमुक पाक, त्रपुस पाक, नारिकेल पाक। इनमें पिचुमन्द पाक, वार्ताक पाक और ऋमुक पाक सर्वथा त्याज्य हैं। वदर, तित्तिडीक और त्रपुस मध्यम पाक हैं। मृद्वीका, सहकार और नारिकेल पाक ग्राह्य हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने कपित्थ नामक एक और पाक का भी निर्देश किया है। यह काव्यरचना में कहीं सरस, कहीं नीरस और कहीं मध्यम रूप से अव्यवस्थित रहता है—

अव्यवस्थितपाक पुनः कपित्थपाकमावदन्ति ।^१

पाक के उपर्युक्त भेदों में से कुछ के उदाहरण उपनिषदों में उपलब्ध होते हैं। आगे उनका निर्देश किया जाता है।

२.३.१. नारिकेलपाक

राजशेखर नारिकेल पाक का लक्षण करते हुए लिखते हैं—

वाद्यन्तयोः स्वादु नारिकेलपाकमिति ।

—का० मी०, पृ० ११

इसके कतिपय उदाहरण देखिए—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक नेमा विद्युतो भाति बुतोऽग्नमग्नि ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

—कठ० ५ १५

यहाँ शब्द तथा अर्थ दोनों का सौन्दर्य आदि से अन्त तक मधुर है। पद आत्रमधुर हैं तथा परिवर्तन का सहन नहीं कर सकते। अर्थ भी सुस्वादु है। अतः राजशेखर की दृष्टि में यह नारिवेलपाक का उदाहरण है।

इसी प्रकार,

१ धोत्राय धोत्र मनसो मनो यद्वाचो ह वाच स उ प्राणस्य प्राण ।
अक्षुषश्चभुरतिमुष्य धीरा श्रेत्यास्मान्तोऽहमना भवन्ति ॥

—वेन० १ २

यहाँ आत्र मनम् आदि शब्द परिवर्त्यमह हैं। इनके प्रयोग से एक विशेष शब्द-सौन्दर्य तथा अर्थ-नावण्य प्रकट होता है एवम् आदि में अन्त तक सरसता बनी हुई है।

२ यत्र हि हंतमिव भवति तदितर इतर परमिति तदितर इतर जिग्रति, तदितर इतर रसयते तदितर इतरमभिषदति, तदितर इतर शृणोति, तदितर इतर मृते तदितर इतर स्पृशति तदितर इतर विजानाति । यत्र त्वस्य सर्वमार्मवापूतत्वेन च पश्यत्त्वेन च जिघ्रेतत्वेन च रसयेतत्वेन च मभिष-
दत्त्वेन च शृणुमात्त्वेन च भवीत, तत्त्वेन च स्पृशेत्तत्वेन च विजानीयात् येनैव सर्वं विजानाति न केन विजानीयान् ।

—यू० ४ ५ १५

यहाँ पर भी शब्द तथा अर्थ में आदि में अन्त तक माधुर्य विद्यमान होने में नारिवेलपाक विद्यमान है।

२३० अक्षुषपाक

लक्षण—

आदावृत्तमन्ते माध्यम अक्षुषपाकम् ।

—गो० मो० पृ० ५१

उदाहरण—

ज्ञात्वा देव सर्वपाशाघहानि क्षीणे बलेनान्ममूत्पुप्रहानि ।

तत्पाशिध्यानात्तृतीय देहमेवे विश्वंश्चयं नेबल आप्तकाम ॥

—श्वे० १ ११

यहा ज्ञात्वा देव सर्वपाशाघहानिः से स्वादु पदयोजना का आरम्भ है, परन्तु अन्त में जाकर यह पदयोजना उतनी स्वादु नहीं रही है, अतः इस दृष्टि से यहा त्रपुसपाक है ।

इसी प्रकार,

सत्यमेव जयते नानृत सत्येन शन्या दिततो देवयानः ।

येनाक्रमस्युधयो ह्युत्तकाभा यत्र तत्सत्यस्य परम निधानम् ॥

—मु० ३ १ ६

इस मन्त्र में भी उपर्युक्त विधि से त्रपुसपाक है ।

तत्प्राणेनाजिघृक्षत् तन्नाशयन्तोत् प्राणेन ग्रहीतुम् ।

स यद्वैनाप्राणेनाग्रहैष्यत्तप्राण्य ह्वान्तमत्रप्स्यत् ॥

—ऐत० १ ३ ४

इस मन्त्र के प्रथम खण्ड में स्वादु सरल पदयोजना है, परन्तु द्वितीय खण्ड में क्लिष्ट तथा जटिल पदयोजना है, अतः त्रपुसपाक है ।

० ३ ३ तित्तिडीपाठ

लक्षण—

आद्यन्तयोर्मध्यम तित्तिडीपाठम् ।

—वा० मी० पृ० ५१

उदाहरण—

अग्रं देव रक्षणे अहिमानमनुभवति । यद् दृष्टं बृष्टमनुपश्यति । श्रुतं धृतमेवार्धमनुशुनोति । देशदिगन्तरंश्च प्रत्यनुसृत पुनः पुनः प्रत्यनुभवति । द्रष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं धातुभूतं धानुभूतं च सत्त्वात्तच्च सर्वं पश्यति । सर्वः पश्यति ॥

—प्र० ४.५

यहा आदि और अन्त में समान पदयोजना है । अतः त्रिन्तिडी-पाक है ।

२ ३.४ मृद्धीकापाक

लक्षण—

आदावस्वादु परिणामे स्वादु मृद्धीकापाकम् ।

—का० मी० पृ० ५१

उदाहरण—

यत्तद्वैश्यमघाह्यमगोत्रमवर्णमचक्षु धोत्र तदपानिपादम् ।

नित्यं विभु सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदप्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥

—मु० १.१ ६

यहा आरम्भ में क्लिष्ट वर्ण-पदयोजना है, परन्तु बाद में सरल एवं मधुर पदयोजना है, । अतः मृद्धीकापाक है ।

३.१. ध्वनिसिद्धान्त

ध्वनि सस्कृत काव्यशास्त्र का महनीय सिद्धान्त है। इसमें काव्य के शरीर से आत्मा की ओर बढ़ने का प्रयास है, जिसकी चरम परिणति रससिद्धान्त में परिलक्षित होती है। काव्य-विशेष के लिए ध्वनि के व्यपदेश का श्रीगणेश भानन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में किया तथा काव्यस्यात्मा ध्वनि' कहकर उसे काव्य का परमवत्त्व घोषित किया। ध्वनि का सौन्दर्य अर्थ की प्रतीयमानता में है। जब कि वाच्यार्थ स्थिर, स्पष्ट एवं शुष्क होता है, प्रतीयमान अर्थ उज्ज्वल नक्षत्र के समान टिमटिमाता है, मोती के समान चमकता है तथा तरंग के समान चंचल होता है। अर्थ की इस दीप्ति तथा तरंगायमानता में उसका सौन्दर्य छिपा है। कहा भी गया है—क्षणं क्षणे यन्मृतामूर्तिं तदेव रूपं रमणीयं ताय। प्रतीयमान की भी यह विशेषता है कि वह भी ललना के लावण्य के समान क्षण क्षण में रमणीय है तथा सहृदय के हृदय को अपनी छाटा से मुग्ध करता है। अत एव ध्वनि के प्राण प्रतीयमानार्थ के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए भानन्दवर्धन कहते हैं—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति बाणीषु महकधीनाम् ।

यत्तत्प्रतिधाव्यथातिरिक्तं विभाति तावन्विभागनाम् ॥^१

यह प्रतीयमान अर्थ जब काव्य में प्रधानरूप से अवस्थित होता है, तब उसे ध्वनि कहते हैं। यही काव्य का उत्तम प्रकार है। प्रतीयमान की गौणता में भी उसकी रमणीयता रहती तो है, पर उतनी नहीं जितनी उसकी प्रधानता में। अतः गौण-प्रतीयमान काव्य का

मध्यम प्रकार होता है। प्रतीयमान की नगण्यता या अविबक्षा में काव्यत्व हीनकोटि का होता है। अतः वह काव्य का अधम रूप है। इस प्रकार ध्वनिसिद्धान्त में प्रतीयमान अर्थ का इतना अधिक महत्त्व है कि ध्वनिवादी उसके प्रधान-गौण भाव से ही काव्य की कोटियों का निर्धारण करते हैं। जो बात स्पष्ट वह दी जाए, जिसमें कुछ भी छिपा कर न रखा जाए, वह अपने आकर्षण को खो देती है। अतः ध्वनिसिद्धान्त में अर्थ को गूढ़ रखा जाता है, क्योंकि गूढ़ ही चमत्कृत करता है। वेद और शास्त्र में तो अर्थ की स्पष्टता तथा यथार्थता अभीष्ट होती है, क्योंकि वहाँ अर्थ के अस्पष्ट रहने से अनर्थ हो सकता है। परन्तु विधाता की सृष्टि से विलक्षण कवि की सृष्टि में यदि लोक तथा शास्त्र के समान सब कुछ स्पष्ट अभिधेय हो जाए, तब वह काव्य ही क्या हुआ? वह तो शास्त्र बन गया। कवि की कल्पना की उद्धान में अर्थ की गूढ़ता तथा अर्थ की तरंग के समान चंचलता नितान्त अपेक्षित है। जैसे तरंग का सौन्दर्य उसकी चंचलता में है उसी प्रकार प्रतीयमान की शोभा उसकी विरचन में है।

आनन्दवर्धन प्रतीयमान के इस मर्म को समझ गए। वेद का ऋषि भी प्रतीयमान के सौन्दर्य के इस मर्म से अवगत था। जब ऋषि वाणी की गूढ़ता के विषय में कहता है—

उत एव पश्यान् ववसां वाचमुन एव शुष्यन् शृणोत्येनाम् ।

उतो त्वस्मै तन्व विसृजे जायेव पश्य उसतो शुभासा ॥

—ऋ० १० ७१ ४

तब वह प्रतीयमान की ही महिमा गाता है। वाणी के वाच्यार्थ को तो सभी समझते हैं। परन्तु उसमें गूढ़ अर्थ भी छिपा रहता है। उसमें ही सौन्दर्य है। इस सौन्दर्य का देखने वाले विरले ही होते हैं। परन्तु जिनमें उस सौन्दर्य को देखने की नालसा है, योग्यता है, उनके सामने वाणी अपने गूढ़ सौन्दर्य को ऐसे प्रकट कर देती है, जैसे जाया नावण्य के दर्शन के उत्तुंग पति के सामने अपने आवृत रूप को विवृत कर देती है। इसी प्रकार ध्वनि में भी गूढ़ अर्थ छिपा रहता है। जो उमका आम्बाद प्राप्त करने में असमर्थ है, उनसे लिए वह अर्थ सवृत ही रहता है। जो महदय होने है, वाच्यानुशीलन के अभ्यास

मे विशदहृदय होते हैं, उनके लिए ध्वनिकाव्य मे प्रतीयमान का सौन्दर्य मलमालावण्य के समान उद्भासित होता है ।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने वैदिक ऋषि के समय से वाणी को गूटता के रूप मे संकेतित प्रतीयमान अर्थ को ध्वनि के रूप मे प्रतिष्ठित किया और उसे काव्य की आत्मा कहा तथा काव्य का व्यापी तत्त्व स्थिर किया जिसमे काव्य के अन्य अंग—अलंकार, गुण, रीति, रस सभी समाविष्ट हो गए ।

ध्वनिसिद्धान्त के संस्थापक आनन्दवर्धन ने ध्वनि का लक्षण किया है—

यत्रार्थः शब्दो वा तत्पर्यमुपसर्जनोक्तत्वाधी ।

व्यक्त कव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथित ॥

—ध्वन्यालोक १. १३

जहाँ शब्द अपने वाच्यार्थ को तथा वाच्यार्थ अपने आपको गौण करने व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराते हैं, उस काव्यविशेष को ध्वनि कहते हैं ।

३. २. ध्वनिभेद

ध्वनि के दो प्रमुख भेद हैं—(१) अविवक्षितवाच्य ध्वनि जिसे लक्षणाभूलक ध्वनि भी कहते हैं। इसके भी अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य दो भेद हैं। (२) विवक्षितान्यपर-वाच्य ध्वनि। इसे अविद्याभूलक ध्वनि भी कहते हैं। इसके भी असलक्ष्यक्रमव्यग्य तथा सलक्ष्यक्रमव्यग्य दो भेद हैं। सलक्ष्यक्रमव्यग्य के शब्दशक्तिमूल, अर्थशक्तिमूल और उभयशक्तिमूल—तीन भेद हैं। इनके भी फिर वस्तु से वस्तु वस्तु से अलकार, अलकार से वस्तु तथा अलकार से अलकार आदि भेद होते हैं। इस प्रकार आचार्यों ने ध्वनि के प्रमुख ५१ भेद किए हैं।

यहा उपनिषदों में उपलब्ध ध्वनि के उदाहरणों का दिङ्मात्र निर्देश किया जाता है।

३.२ १. लक्षणाभूलक अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि

तदभ्यद्रष्टुं समभ्यवदकोऽतीत्यग्निर्वा महमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा महमस्मीति ।

—कै० ३ ५

यहा 'अग्नि' ने अपने लिए 'जातवेदा' का प्रयोग किया है, अतः मुख्यार्थबाध होने से लक्षणा है। यह पद केवल साधारण अग्नि अर्थ को प्रकट नहीं करता, अपितु 'न केवल भूमि के, अन्तरिक्ष के भी पदार्थों को जलाने की सामर्थ्य वाली अग्नि' इस अर्थ को चोखित करता हुआ अग्नि के सातिशय अभिमान को अभिव्यजित कर रहा है। इस प्रकार 'जातवेदा' पद अपने अर्थ को न छोड़ता हुआ भी 'अभिमानयुक्त अग्नि'

१ भेदी ध्वनेरपि द्वावुदीरितौ सत्यमिष्टाभूलौ ।

अविवक्षितवाच्योऽन्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्च ॥

अर्थान्तर संक्रमिते वाच्येऽत्यन्त तिरस्कृते ।

अविवक्षितवाच्योऽपि ध्वनिर्न विध्यमुद्भूतिः ॥

इस मन्त्र में 'मे' पद का 'एकमात्र मेरे (यमराज के)' इतना मात्र अर्थ न होकर 'सम्पूर्ण' ससार के प्राणियों को, चाहे वे जैसे भी हो, मोत के घाट पहुँचाने वाले, मुझ उचित दण्ड देने वाले यमराज के वश में आते हैं', इतना अर्थ अभिप्रेत है। यहाँ 'मे' पद अपना अर्थ न छोड़ता हुआ भी, यमराज के गुणों के सहित अर्थ का द्योतक है।

इसी मन्त्र में 'वालम्' पद मूर्ख के लिए प्रयुक्त है। 'वाल' का मुख्यार्थ यद्यपि बालक होता है, पर प्रवरण में बालकार्थ अन्वययुक्त न होने से अविवेकी अर्थ को द्योतित कर रहा है। उत्तरवर्ती लौकिक साहित्य में भी साहित्यिकों ने मूर्खों के लिए 'वाल' शब्द का ही प्रयोग कई एक स्थानों पर किया है, जो कि उपनिषदों का ही प्रभाव परिलक्षित होता है। गीता में भी सादृश्ययोगी पृथग् बाला प्रवदन्ति न पण्डिता' पाया जाता है। अतः यहाँ 'वाल' शब्द 'अज्ञानी' के लिए कवि द्वारा जानबूझ कर रखा गया प्रतीत होता है।

अतः यहाँ अर्थान्तरमक्रमितवाच्य ध्वनि है।

इह चेदवेदीदय सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि ।

भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यात्मास्तोकादमृता भवन्ति ॥

वेन० २ ५

यहाँ 'भूतेषु भूतेषु' पदों में एक पद का अर्थ प्राणी तथा दूसरे का अनेक है। परन्तु, अनेक अर्थ को दत्ताने वाला 'भूत' शब्द अपने अर्थ का सर्वथा त्याग न करता हुआ, कुछ एक अंशों में उसे सुरक्षित रक्के हुए है। इससे सम्पूर्ण प्राणियों का बोधरूप अर्थ व्यंग्य होने में यहाँ अर्थान्तरसममितपरवाच्य ध्वनि है।

३ २ २. लक्षणामूलक अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्मनो जनाः ॥

—ईश० ३

इस मन्त्र में 'अन्धेन' और 'आत्महन्' पदों में लक्षणा है। 'अन्धेन' का मुख्यार्थ है 'चक्षुरहित' और 'आत्महन्' का 'आत्मा का नाशक'। परन्तु 'अन्धेन' पद 'तमस्' का विशेषण है। 'तमः' चक्षुरहित नहीं हो सकता, एवम् 'आत्मा' का विनाश नहीं किया जा सकता। इस प्रकार मुख्यार्थ का बाध होने से यहाँ दोनों ही पदों ने वाक्यार्थ की सिद्धि के लिए अपने अपने अर्थों को क्रमशः 'अज्ञान' या 'अदर्शन' एवम् 'अज्ञानी' कर दिया। अपने अर्थ का सर्वथा त्याग करने से यहाँ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि है। इससे व्यम्ब है कि मनुष्यों को ज्ञानोपार्जन करना चाहिए।

न तत्र चक्षुषंश्चक्षति न आत्मच्छति मो मन ।

न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुक्षिप्यात् ॥

अन्पदेव तद्विदितावयो अविदितावधि ।

इति शुश्रुम पूर्वेषां ये तस्तद्व्याचक्षिरे ॥

—कैन० १ ३

यहाँ अविदितावधि में अधि शब्द अपने वाक्यार्थ 'मे' का परित्याग करके 'सर्वत्रेष्ठ' अर्थ को लक्षित कर रहा है। अतः यहाँ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि है। प्रयोजन प्रतिपादक होने से यहाँ इसमें ब्रह्म का अज्ञेयत्व व्यम्ब है।

३.२ ३. अभिधामूलक अर्थशक्तिमूलध्वनि

(क) वस्तु से वस्तु-व्यग्न—

अन्धन्तम प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।

ततो भूय इव ते तयो य उ विद्याया रताः ॥

—ईश० ९

यहाँ ज्ञान और कर्म को 'विद्या' और 'अविद्या' पदों द्वारा कहा गया है। दोनों को ही आत्मा की प्राप्ति में आवश्यक बताया गया है। इससे अभिव्यजित है कि आत्म-तत्त्व की प्राप्ति के लिए ज्ञान और कर्म दोनों ही अनिवार्य हैं। इस प्रकार यहाँ वस्तु से वस्तु व्यग्न है।

केनेषित पतति प्रेषित मन । केन प्राण प्रथम प्रति युक्त ।

केनेषितां वाचमिमा वदन्ति । चक्षु थोत्र क उ देवो मुनस्ति ॥

—केन० १ १

यहाँ ✓पत का सुन्दर प्रयोग किया गया है । ऋषि चाहता तो ✓गम् या ✓धाव् का प्रयोग भी कर सकता था । पर मन की एकदम पराधीनता वस्तुन के लिए ✓पत् का प्रयोग है, जैसे कि कोई व्यक्ति जान-बूझ कर नहीं गिरता, न चाहने पर भी गिर पड़ता है । तथा च, स पतति में जिस प्रकार कर्ता स है, किंच वह व्यापार वाला है, पर वह ऐसे व्यापार वाला कर्ता है जो व्यापार अदृश्य शक्ति द्वारा कराया जा रहा है । दार्शनिक भी पतन का आदिकारण गुरुत्व मानते हैं—आद्यपतना-ज्जनवापि कारणत्वं गुरुत्वम् (तत्वंसंग्रह) । इसी प्रकार यहाँ मन पतति में कर्ता मन है । पर ऋषि का कथन है कि कौन ऐसी वस्तु है जिसके कारण से मन गिर रहा है । इसके पतन में अन्य कारण अवश्य है । इस पद से मन से अतिरिक्त अन्य वस्तु की सिद्धि व्यंग्य है, जो कि आत्मा ही हो सकता है । अतः यहाँ वस्तु से वस्तु ध्वनि है ।

इसी प्रकार, इसी मन्त्र में 'इमाम्' पद भी ऋषि द्वारा विशिष्टार्थों को द्योतन करने के लिए रखा गया है । यहाँ बिना 'इमाम्' के भी 'वाच वदन्ति' इस प्रकार कहा जा सकता था । केवल छन्द पूर्ति के लिए भी इसे नहीं माना जा सकता । 'ललिता, मधुराम्' पद से भी काम चल सकता था, पर ऋषि का 'इमाम्' विशेषण से 'इस वाणी' (जिसे मैं 'स्वयं व्यक्त कर रहा हूँ' इस प्रकार की विशिष्ट वाणी) को जिस की सहायता से व्यक्त कर रहा हूँ, जिस किसी की सहायता है—वह ही आत्मा है, यह व्यंग्य है । अतः यह भी वस्तु से वस्तु व्यंग्य का उदाहरण है ।

यदि मन्यसे मुवेदेति दक्षमेवापि नून त्व वेत्य ब्रह्मणो हवम् ।
मरस्य त्वं मरस्य च देवेष्वप्य नु भीमास्त्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥

—केन० २ १

यहाँ मुवेदेति दक्षमेवापि नून त्व वेत्य—यदि तू कहता है कि मैं ब्रह्म को जानता हूँ तो निश्चय ही तू ब्रह्म को थोड़ा सा ही जानता है—इससे ब्रह्म की गहनता व्यजित की गई है । अर्थात् ब्रह्म को जानना अतिक्ठिन है । जो ब्रह्म को जानने की बात कहते हैं, वे अभी

अज्ञान कूप में तैर रहे है। ब्रह्म का ज्ञान तो बालमूकास्वादवत् है, जो बाणी का विषय नहीं है। इस प्रकार यहा वस्तु से वस्तु व्यग्य है।

तदव्यद्वत्तमव्यवदन्कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यववीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ।

—केन० ३ ४

यहा 'अव्यद्वत्' पद न केवल अपने वाच्य अर्थ का प्रतिपादन कर रहा है, अपितु यश प्राप्ति के लिए अग्नि की वचनी को भी चोतित कर रहा है। लोक में भी यश प्राप्ति के लिए शीघ्रता की जाती है। अतः यहा वस्तु से वस्तु व्यग्य है।

तस्मै तृणम् निदद्यावेतद्देहि । तदुपप्रेषाय सर्वजवेन तन्म शशाक दग्धु स क्षत एव निषवृते नैतदशक विज्ञातु यदेतच्छमिति ॥

—केन० ३ ६

यहा 'तृणम्' पद अग्नि की तुच्छता को चोतित करने के लिए प्रयुक्त किया गया है। जब अग्नि ने कहा कि मैं केवल अग्नि नहीं अपि तु जातवेदा हूँ अर्थात् अन्तरिक्ष तक के पदार्थों को भस्म कर सकता हूँ, तो यक्ष ने उसके सामने एक तिनका मात्र रखा। (यक्ष और भी किसी वस्तु का रख सकता था) यहा 'तृणम्' के न्याय पर 'काष्ठम्' पद भी रखा जा सकता था, पर यक्ष को एकमात्र उसको नीचा दिखाना अभिप्रेत था, क्योंकि वह तिनके मात्र को पूरी शक्ति से भी नहीं जला सका, यद्यपि वह उसके पास भी गया। इसलिये यहा केवल 'तृणम्' से ही नहीं 'सर्वजवेन उपप्रेषाय' तथा 'न शशाक' पदों से भी विशिष्ट व्यग्य निकलता है। जब भयकर आग जलती है, तो आम-पाम के तिनके आग की लपटों से वैसे ही (आग के उनमें पाम जावे बिना भी) भस्मीभूत हो जाते हैं। पर यहा आश्चर्य यह है कि जो अग्नि अपने को 'जातवेदा' कह रहा है उसके सामने यक्ष ने एक छोटा तिनका डाना। आग पूरे जोर से एकदम उसके पास भी गई, पर उसको जला न सकी। इस प्रकार तीनों ही पद सप्रयोजन हैं, और इनमें यहा वस्तु से वस्तु व्यग्य है।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमग्नये धर्मः ।

अन्य वर नन्विनेतो वृणोष्व मा भोपरोत्सोरति मा मृद्वेनम् ॥

—काठ० १. २१

यहाँ 'मा मोपरात्सी' में 'मा' पद की द्विरुक्ति यमराज की व्याकुलता को अभिव्यजित कर रही है। जिम प्रकार कोई धनी ऋणों को दवाना चाहता है और वह व्याकुल होकर बड़ी आकुलता से छुटकारा पाना चाहता है, इसी प्रकार यमराज नचिनेता की वरविषयक इस ऋण की वापसी से व्याकुल हो रहा है, जो कि 'मा मा' के उच्चारण से प्रतीति में आ रही है। अतः यहाँ वस्तु से वस्तु व्यंग्य है।

इमा रामा सरषा भर्ग्या न ह्रीवृक्षा लम्पनीया भर्गुष्यं ।

आभिर्वाप्तानि परिचारयन् नविकेतो भरणं नानुप्राप्ती ॥

—कठ० १ २५

यहाँ 'इमा' पद से व्यंग्य है कि किसी को एक भी अप्सरा प्राप्त नहीं होती, तुझ में इन अपनी ही परिचारिकाओं को, जोकि मेरे पास हैं, और सामने, तेरे समीप ही बंठी हैं, तुझे देता हूँ। इस तरह बहुवचन में 'इदम्' शब्द का उपस्थित वस्तु के लिए प्रयोग उपर्युक्त अर्थ का अभिव्यजक है।

इसी मन्त्र में 'भर्गुप्राप्ति' में 'भर्गु' का प्रयोग भी विगिष्ट प्रतीति का व्यजक है, जिसमें व्यंग्य है कि मुझे ही ये प्राप्त हैं, साधारणजनों द्वारा इन्हें प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह व्यंग्य वस्तु-रूप है। अतः यहाँ वस्तु में वस्तु ध्वनि है।

अजीयंताममृतानामुपेत्य जीयंन्मृत्यं श्वघ्नस्य प्रजानन् ।

अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घं जीविते को रमेत ॥

—कठ० १ २६

यहाँ 'को रमेत' पद में प्राणियों की साप्ताहिक जीवन में चिरकाल तक रहने की अनिच्छा चोखित हो रही है अर्थात् कोई भी व्यक्ति दुःख के कटाहों में पड़ने को नकार नहीं हो सकता है। यहाँ यह वस्तु व्यंग्य है कि दूषित साप्ताहिक पदार्थों को भोगने के लिए चिरकाल के जीवन की प्राप्ति अनर्थवारी ही है।

दूरमेते विपरीते विपूषी अविद्या या च विद्येति ज्ञाना ।

विद्याभीप्सिन् नचिनेतम मये न त्वा कामा बह्योऽनोमुपत ॥

—कठ० २.४

यहां 'दूरम्' पद विद्या और अविद्या की गम्भीर खाई को द्योतित कर रहा है। इसी प्रकार यही पर प्रयुक्त 'नचिकेतसम्' पद यम की तटस्थता को व्यजित कर रहा है। नचिकेता ने सामने बैठे यमराज को मध्यमपुरुषवाचक पदों से ही सम्बोधित किया, पर यमराज यहां सामने बैठे हुए नचिकेता को मध्यमपुरुषवाची सर्वनाम द्वारा संकेतित न करके अन्यपुरुषवाचक 'नचिकेतसम्' नामपद से सम्बोधित कर रहा है। इससे यह वस्तु व्यजित होती है कि यमराज के हृदय में नचिकेता साधारण बालक नहीं, अपितु असाधारण व्यक्ति है। अतः वह उसका नाम लेने में ही गौरव समझता है, यथवा उसके हृदय में उसके लिए ध्येष्ठ गुरुपों से भी अधिक स्थान विद्यमान है। अतः यहां वस्तु से वस्तु ध्वनि है।

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि युह्यं बह्यं सनातनम् ।

यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति शीतलम् ॥

—कठ० ५. ६

यहां 'हन्त' पद में यह वस्तु व्यंग्य है कि यद्यपि मैं नहीं चाहता, पर तुम्हारे बार बार के इस बुराग्रह के कारण तुम्हें इस मुख्य ज्ञान को बता देता हूँ।

यामिन् गुह्यं निरिच्छन् हस्ते विभर्ष्यस्तवे ।

शिवा निरिच्छन् सा कुर्वन् हिंसां पुरुषं जगत् ॥

—श्वे० ३. ६

यहां 'इप्सु' पद से वस्तु रूप ध्वनि है कि इप्सु (वाण) को शरीर-रहित व्यक्ति धारण नहीं कर सकता। अतः आप (भगवान्) साकार होकर वाण धारण करते रहने हैं। आप हमें उसी रूप को दिखाओ जो साकार है। किन्तु हम रौद्र रूप को नहीं देखना चाहते, अपितु शिव रूप को ही देखना चाहते हैं।

इसके साथ ही यहां 'निरिच्छ' पद से यह ध्वनि निकलती है कि दूसरों का कल्याण, रक्षा करना आपका निजी स्वभाव है।

आदि ॥ सयोजनमिच्छेत्तुः परस्त्रिधातादकस्तोऽपि दृष्टः ।

॥ विरपरूपं जयभूतमोद्ध्य देव स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥

—श्वे० ६. ५

यहा 'स्वचित्तस्थम पद व्यजक है, जिससे तात्पर्यार्थ का ज्ञान हो रहा है कि वह देव जो सम्पूर्ण विश्व के अन्दर व्याप्त है, तुम्हारे अन्दर भी व्याप्त है। अतः मसार तथा तुम में कोई भेद नहीं। एकमात्र मायावृत्त भेद में पसा हुआ जीव उसको इधर उधर देखता है। अतः सम्पूर्ण विश्व का निर्माता ब्रह्म इसी प्रकार तुम्हारे हृदय में विद्यमान है, जैसे बन्सूरिकामृग की नाभि में सुगन्ध। पर वह मृग सुगन्ध को अपने में न देखकर इधर उधर उसको ढूँढता हुआ नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार विश्वरूप उस परमात्मा का हम अपने में न ढूँढकर इधर उधर देखते हुए, अनेक योनियों में पडकर कर्मबीज से मरते हुए अनेकों कष्ट भागत है। यहा ईश्वर को अपने में ही ढूँढो, यह वस्तु व्यंग्य है।

विशेष—

केन उपनिषद् के प्रथम तथा द्वितीय खण्ड में ऋषि विषय का प्रतिपादन स्वयं करता रहा, पर तृतीय खण्ड में यक्ष को माध्यम बनाकर विषय का प्रतिपादन किया गया है। इसका प्रयोजनभूत तात्पर्यार्थ है कि किसी को भी अभिमान नहीं करना चाहिए, अभिमानों का मिर नीचा होता है। यह व्यावहारिक ज्ञान बताना ही ऋषि का अभिप्रेत है जो वाच्य न होकर मन्त्रों में यथास्थान व्यंग्यरूप में दिखाया गया है। जैसे—

तस्मिन् त्वयि कि क्षीर्यभिरपपीद सर्वं दहेय यद् इव पृथिव्याम् इति ।

—केन० ३ ५

यहा 'सर्वं दहेय यद् इदम्' पदों से लीकिक पदार्थों की तुच्छता द्वारा अग्नि अपने सामर्थ्य को व्यंग्य रूप से प्रकट कर रहा है।

॥ होवाच पितर तात कस्मै मा दास्यसीति । द्वितीय तृतीय त होवाच मृत्यवे स्वा ददामीति ।

—कठ० १ ४

यहा ऋषि ने पिता पुत्र के सम्वाद द्वारा मृत्यु के रहस्य तथा आत्म-तन्त्र की गहनता को बताया है।

पुत्र द्वारा बार बार पूछे जाने पर पिता—मृत्यवे स्वा ददामि—तुझे मृत्यु का देता हूँ, इस प्रकार कहता है। यहा स्वा ददामि पदों के पिता भी अर्थ का बोध हो सकता था, क्योंकि ✓का का प्रयोग नचिनेता पहले कर चुका था। अतः 'मृत्यवे' अर्थान् मृत्यु को दूंगा, इतना ही कहना

पर्याप्त था। पर उसके पिता ने मृत्युवे स्वा ददामि इतने पद कहे, जिनसे पिता का क्रोधातिशय व्यजित हो रहा है। अतः महा वस्तु-ध्वनि है।

(ख) अलकार से वस्तु व्यग्य—

अनेजदेक भवतो जयोयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।

तद्भवतोऽयानयेति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिस्वा वधाति ॥

—ईश० ४

आत्मा विचलित न होने वाला है, पर मन से भी तेज चलने वाला है, दौड़ते हुए को दौड़ में हरा देता है। पर जो कही जाय ही नहीं वह कैसे मन से तेज दौड़ सकता है, तथा तज दौड़ लगाने वालों को कैसे दौड़ में जीत सकता है। इस प्रकार यहाँ विरोध होने से विरोधालकार है। विरोध दिखाकर यहाँ परमात्मा की नित्यता तथा सर्वव्यापकता व्यग्य है। अर्थात् वह सर्वत्र व्याप्त होने से वही आता जाता नहीं, तथा जो गतिशील प्राणी है, उनकी अपेक्षा उस स्थान में पहले ही विद्यमान रहता है जहाँ के लिए कोई गमनानुकूल व्यापार करता है। इस प्रकार वह परमात्मा नित्य, कर्तृत्वधर्मरहित, सर्वव्यापक है। किन्तु यह अर्थ वाच्य नहीं, व्यग्य है।

॥ पर्यगाच्छुद्धमकायमवर्णमस्त्राविर शुद्धमपापयिद्धम् ।

वकिर्मनोषी वरिभू स्वयम्भूयैवातम्यतोऽर्षान् व्यदधाच्छास्वतोभ्य समाभ्य ॥

—ईश० ८

इस मन्त्र में भी परमात्मा के लिए प्रयुक्त सभी विशेषण साभिप्राय हैं। साभिप्राय विशेषण होने के कारण यहाँ परिकर अलकार है जिससे परमात्मा की निर्गुणता अभिव्यजित हो रही है।

श्रोत्रस्य श्रोत्र मनसो मनो यद्वानो ह वाच स उ प्राणस्य प्राण ।

धसृपाचक्षुरतिमुच्य धीराः श्रेत्यात्मास्त्रोकादमृता भवन्ति ॥

—कै० १. २

यहाँ आत्मा के कानों का भी कान, मन का भी मन इत्यादि रूप से वर्णित होने के कारण आपाततः विरोध होने से विरोध अलकार

है। इस विरोध अलंकार से उम परमात्मा का सर्वनियन्तृत्व वाच्य न होकर व्यंग्य है।

इसी प्रकार, इसी मन्त्र में प्रेत्यात्मात्लोकाद् अमृता भवन्ति—मर वर अमर हो जात है—इस प्रकार एक ही मरणजीतत्व तथा अमरत्व इन दो विरुद्ध धर्मों का अध्याहार होने में विराट् अलंकार है, जिसमें आत्मा की धृष्टता अभिनक्षित हो रही है कि आत्मा नित्य है, वह मरता नहीं, वह धृष्ट तत्त्व है, मुक्त होने पर वह भवन्प में स्थित हो जाता है।

तत्पर्यं आदेतो यदेतद्विद्यतो व्यद्युतदा ३ इतीन्द्रमीमिषदा ३ इत्यपि ईवतम् ॥

—वेन० ४४

यहां ब्रह्मा की मत्ता को चो नित करने के लिए बिजली की चमक तथा पलक की लपक का उपमान रूप में रखा गया है, अतः मालोपमा अलंकार है। इसमें ब्रह्म का अवर्णन व्यंग्य है। बिजली की चमक में भी आखि किसी वस्तु का नहीं दख सकती, अपितु वन्द हो जाती है, तथा पलक मारने पर भी आखें किसी बाह्य वस्तु का ग्रहण नहीं कर सकती, अतः चर्मचक्षुःश्रा म आत्मा का प्रकाश देखना कठिन है। यही तात्पर्य ऋषि का यहां अभिप्रेत है जो मालोपमालंकार से व्यजित हो रहा है।

अनुपमं यथा पूर्वं प्रतिपद्य तथाऽपरे ।

सत्यमिव मर्त्यं पश्यते तस्यमिवाज्ञापते पुनः ॥

—कठ० १६

यहां अनुपम्य मेती की तरह पकता है तथा मेती की तरह पुनः उत्पन्न होता है, इस उपमानकार में अनुपम्य की मृत्यु अवश्यम्भावी बनार्त गट है, जिसमें नचिकेता अपने पिता का शिक्षा देता है कि 'अब आप मुझ समराज के यहां भेज दोजिए।' यह व्यंग्यार्थ मर्त्य की उपमा से प्रतीत हो रहा है, अतः यहां अलंकार में वस्तुध्वनि है।

अथवात्यपि बहुमिथो न सख्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो य न विन्दुः ।

आचर्यो वचनां कुसुमोऽस्य सखाऽऽचर्यो जातां कुसुमानुशिष्ट ॥

—कठ० २ ॥

यहां विरोध अलंकार में आत्मा की दुग्धता रूप वस्तु व्यंग्य है।

न जायते क्षियते वा विपरिवर्त्तनाय वृत्तक्षिप्त्वन बभूव करिषत् ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽप्य पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

—कठ० २.१८

यहा भी न हन्यते हन्यमाने शरीरे में विरोध अलंकार है जिससे आत्मा की नित्यता ध्यम्य है । अर्थात् शरीर विनाशी होने पर भी उसमें रहने वाला आत्मा नित्य है ।

अशरीर शरीरेऽनवस्थेऽवस्थितम् ।

महान्त विप्रमत्तमस्य मत्वा धीरो न शोचति ॥

—कठ० २.२२

यहा पर शरीरों में अशरीरी तथा अनित्यों में नित्यत्व से वर्णन होने से विरोध अलंकार है जिससे ब्रह्म की कारणता ध्यम्य है ।

यस्य ब्रह्म च सत्र च उभे भवत ओदनः ।

मृत्युर्वैत्योपसेचनं क इत्या वेद यत्र स ॥

—कठ० २.२५

यहा भी ऐसा है जो यह जान सके कि वह कौन है और कहाँ है भर्षति कोई नहीं इस प्रकार अर्थापत्ति अलंकार है, जिससे आत्मा की समर्पता ध्यम्य है । यहा 'ओदन' और 'उपसेचन' पदों को विशिष्टार्थ को द्योतित करने के लिए रखा गया है । जैसे दाल के साथ भात खाने से किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता, वैसे ही उस आत्मा को ब्राह्म शक्ति और क्षात्र शक्ति को नष्ट करने में तनिक समय नहीं लगता और न कठिनता प्रतीत होती है ।

उपसेचन—

यदि भात बिना साग खाया जाए तो थोड़ी कठिनाई अनुभव हो सकती है, अतः उसके साथ साग मिलाया जाता है । ब्रह्म एवं क्षात्र शक्ति के बिना शार्थ यहाँ मृत्यु का सहारा चिया गया है, किन्तु जैसे सहायमूल

माग भी भात के साथ खा लिया जाता है उसी प्रकार मृत्यु को भी ब्रह्म द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। अतः यहाँ वस्तु से वस्तु व्यग्य भी है कि ब्रह्मप्राप्ति से मनुष्य जन्म मरण के चक्कर से रहित हो जाता है।

पचपाद पितर द्वावशाकृति दिव आहु परे अर्धे पुरोषिणम् ।

अयेमे अय उ परे विचक्षण सप्तचक्रे षडर आहुरपितमिति ॥

—प्रश्न० १११

यहाँ रूपक अलंकार शब्दों द्वारा स्पष्ट होने से वाच्य है, जिसके द्वारा ब्रह्म की सत्ता के प्रति कारणता व्यग्य है।

वात्यस्य प्राणैकश्विरस्ता विश्वस्य सत्पति ।

वयमाद्यस्य वातार पिता स्व मातरिष्व न ॥

—प्रश्न २११

यहाँ एक ही वस्तु (ईश्वर) को विषयभेद से अनेक प्रकार से वर्णित किया गया, जिससे उल्लेख अलंकार वाच्य है और उससे ध्वनित है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् एवम् उपास्य है।

मया भुवीप्तात्पाववाद्भिस्फुलिगा सहस्रश प्रभवन्ते सत्पा ।

तपास्तदाद्भिर्विद्या सोम्य भावा प्रजायन्ते तत्र शैवापिपन्ति ॥

—मु० २११

यहाँ वाच्य अर्थ है कि जिस प्रकार अग्नि में से तत्स्वरूप अनेकों चिनगारिया निकलती है, इसी प्रकार अक्षर से अनेकों भाव प्रकट होते हैं। यहाँ अग्नि से चिनगारियों के निकलने के समान ब्रह्म से जीव की उत्पत्ति दृष्टान्त अलंकार से कही गई है, जिससे सात्पर्यं निक्ला कि भाग और चिनगारिया में जिस प्रकार अभिन्नता है, ब्रह्म और जीव में भी इसी प्रकार अभिन्नता है। इस प्रकार यहाँ जीव ब्रह्म की एकता ही अलंकार से वस्तु व्यग्य है।

न तत्र सूर्यो भाति न च द्रतारक मेघा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।

तमेव आत्मनुमानि सर्वं तस्य भासा सर्वंविद्य विमानि ॥

—मु० २२११

यहा प्रतिषेध अलकार है, जिससे ब्रह्म का सर्वप्रकाशकत्व व्यग्य है। इससे उस ब्रह्म की प्रकाशरूपता स्वतः ज्ञात हो जाती है, क्योंकि, जिसमे स्वयं प्रकाश नहीं वह दूसरे को भी प्रकाशित नहीं कर सकता। अतः 'ब्रह्म स्वतः प्रकाश है', यह व्यग्य अर्थ है जो कि प्रतिषेध अलकार से द्योतित है। इस प्रकार यहा अलकार से वस्तु व्यग्य है।

इसी प्रकार मुण्डक ३.२.८ में भी प्रतिषेध अलकार से 'विशुद्ध चित्त द्वारा ही आत्म तत्त्व का साक्षात्कार हो सकता है', यह व्यग्य है।

बृहच्च तद्विव्यमचिन्त्यवष्टप सूक्ष्माञ्च तत्सुख्यतर विमाति ।

दूरात्सुदूरे तद्विहान्तिके च पर्यत्स्वहेष निहित गृह्याम् ॥

—मु० ३.१.७

'जो बड़े में बड़ा भी है तथा छोटे से छोटा भी, तथा दूर से दूर और पास में पास, वह हृदय में छिपा है।' इस प्रकार यहा एक में ही विरुद्ध धर्मों के वर्णन से विरोध अलकार है, और उससे ब्रह्म की सर्वोत्कृष्टता वस्तु व्यग्य है।

यथा नद्यः स्यन्दमाना समुद्रेऽस्त गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।

तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्त परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

—मु० ३.२.८

जिस प्रकार समुद्र में कितनी ही नदियाँ मिल जाय पर समुद्र में कोई अन्तर नहीं आता, वह ज्यो का ल्यो रहता है, इसी प्रकार उस ब्रह्म में कितने ही जीव मिल जायें उसमें कोई अन्तर नहीं आता। जिस प्रकार समुद्र और नदी एक ही हैं इसी प्रकार ब्रह्म और जीव भी एक ही है, केवल नामरूप का भेद मात्र है। यहा दृष्टान्त अलकार है, जिससे जीव ब्रह्म की एकता व्यग्य है।

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपाख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोकार एव । यस्मान्मातृ त्रिकाशतोऽतः तद्व्योकार एव ।

—मा० १

यहा ओकार का वर्तमान-सा वर्णन होने से भाविक अलकार है, जिससे ओकार की उपासना व्यग्य है।

जागरितस्थानो बहि प्रज सप्ताय एकोनविंशतिमुख स्यूतभुग्वंशयानर
प्रथम याव ।

—मा० ३

यहा आत्मा का पुरुषाकार में सागरूपक से वर्णन है, जिससे आत्मा की अद्वैतता अर्थात् उस आत्मा को हम प्रकार देखने से द्वैत की निवृत्ति हो जाती है, यह व्यंग्य है ।

न स्थितेऽप्युच्छिष्टा इति । न वा अजीविष्यमिमानावाविति होवाच ।
कामो न उदयानमिति ॥

—छा० १. १० ४

इम्य ने कहा—'क्या ये (कुत्माय) जूठे (उच्छिष्ट) नहीं हैं ?' उसने उत्तर दिया—'(नहीं क्योंकि अन्यथा) मैं जीता न रहता', इत्यादि ।

यहा न स्थितेऽप्युच्छिष्टा ?—'ये भी उच्छिष्ट नहीं', यह सीधा अर्थ है । पर काव्य वक्रोक्ति से 'क्या ये उच्छिष्ट नहीं ?' अर्थात् हैं', इस प्रकार हो जाता है । इस प्रकार यहा वक्रोक्ति चलनार है, जिससे व्यंग्य निकलता है कि आपत्ति के समय मनुष्य को उचितानुचित साधनों से प्राण वचा लेने चाहिए ।

दुष्टबालाविहङ्गुचानो गार्ग्य आस स होवाचाजातशत्रु काय ब्रह्म ते
ब्रवाणीति । स होवाचाजातशत्रु सहस्रमेतस्या वाचि इवमो जनको जनक इति वं
जना प्रावन्तीति ॥

—वृ० २११

यहा जनक जनक साभिप्राय विशेष्य होने से परिवराकुर अलवार है, जिससे जनक की अतिशयदानशीलता व्यंग्य है ।

■ यथा दुन्दुभेर्हन्त्यमानस्य न बाह्याऽऽध्यादाऽऽध्वनुयाव् अरुणाय दुन्दुभेस्तु
प्रहरेण दुन्दुभ्यापातस्य वा शब्दो गृहीत ॥

—वृ० २४७

यहा दृष्टान्त चलनार है, और दृष्टान्त में आत्मा की सर्वत्र व्यापकता व्यंग्य है ।

सर्वव्यापिनमात्मान क्षीरे संपरिवापितम् ।

मात्मविद्यातपोमूस तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥

—श्वे० १ १६

—जो, आत्मविद्या और तप का मूल है तथा जिसमें परम ध्येय आश्रित है, आत्मदर्शों उस सर्वव्यापी आत्मा को दूध ॥ विद्यमान घृत के समान देखता है ।

यहा उपमालकार है, जिससे आत्मा को सर्वत्र व्यापकता व्यंग्य है ।

एवमस्ति यत्ता ऋतवो व्रतानि मृत मग्न्य पण्य वेदा धदन्ति ।

अस्मान् मायी सृजते धिरवमेतत तस्मिन्वान्यो नायथा तन्निवृद्ध ॥

—श्वे० ४ ९

यहा अनेकों का एक साथ वर्णन होने से समुच्चमालकार है । समुच्चमालकार से ब्रह्म की सर्वव्यापकता, शक्तिमत्ता अर्थात् वह ईश्वर अणु-अणु में विद्यमान है, यह व्यंग्य है ।

अज्ञात इत्येव करिष्यद् भोर प्रपद्यते ।

इदं वत्ते दक्षिण मुख तेन मा पाहि नित्यम् ॥

—श्वे० ४. २९

यहा साभिप्राय विशेषण होने से परिंकर अलंकार है और उससे परमेश्वर ही सब का रक्षक है, यह व्यंग्य है ।

अलंकार से अलंकार व्यंग्य—

यथोक्तं शुद्धे शुद्धमातिवत् तादृगेव भवति ।

एव मुनेर्विज्ञात आत्मा भवति गौतम ॥

—कठ० ४. १५

यहा आत्मा द्वारा अपने प्रविद्यादिजन्य गुणों को छोड़कर पवित्रता, नित्यतादि गुण ग्रहण करना व्यंग्य है, जो कि उपमा अलंकार से प्रतीति में आ रहा है । जहा अपने गुणों को छोड़कर दूसरे के गुणों को ग्रहण करने का वर्णन चाच्य या व्यंग्य रूप से पाया जाय वहा तद्गुण अलंकार होता है । यहा उपमालकार से तद्गुण अलंकार व्यंग्य रूप से प्रतीति में आ रहा है । इस प्रकार यहा अलंकार से अलंकार व्यंग्य है ।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूप रूप प्रतिरूपो बभूव ।

एवस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूप रूप प्रतिरूपो बहिरव ॥

—कठ० ५ ९

यहां वाक्यार्योपमा अलंकार द्वारा उस एक ही आत्मा को अनेकों में व्यंग्य रूप से बताया जा रहा है। इस प्रकार विशेष अलंकार व्यंग्य है।

घायुर्यंको भुवन प्रविष्टो रूप रूप प्रतिरूपो बभूव ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूप रूप प्रतिरूपो बहिरव ॥

—कठ० ५. १०

तथा—

भूयो यथा सर्वलोकस्य क्षमुर्न लिप्यते चाक्षुर्वाङ्मनोऽप्यं ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकोऽप्यं लेन बाह्य ॥

—कठ० ५. ११

इन मन्त्रों में भी वाक्यार्योपमा अलंकार से विशेष अलंकार व्यंग्य है।

सोऽयमात्माध्यक्षरमोऽकारोऽधिमात्र पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ।

—मा० ८

यहां अन्योन्यालंकार से विनोक्ति अलंकार व्यंग्य है कि पाद के बिना मात्रा नहीं तथा मात्रा के बिना पाद नहीं।

इदमस्थानस्तंजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षाद् उभयस्वाङ्गोरुपति ह वै ज्ञानसन्तति समानश्च भवति । नास्यात्रह्यवित् कुले भवति य एव वेद ॥

—मा० १०

यहां जो उपासक ऐसा जानता है, वही अपनी ज्ञान-सन्तान का उत्कर्ष करता है, इस प्रकार हेतु अलंकार है। हेतु अलंकार से दृष्टान्त अलंकार व्यंग्य है कि जिस प्रकार अक्षर से उकार उत्पन्न है, उसी प्रकार विराघ तंजस उत्पन्न है, या दोनों में समानता है।

एष ग्रहण इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्चमहामूर्तानि पृथिवी...प्रज्ञान ब्रह्म ॥

—ऐत० ३. ३

यहां एष ही का प्रजापति, देवता, पञ्चमहामूर्त आदि कहा गया है, जो कि परस्पर विरुद्ध है, अतः विराघ अलंकार है। उससे ग्रहण की सर्वज्ञ

व्यापकता सिद्ध हो रही है कि वह एक ही ब्रह्म अपने चेतन स्वरूप से अथवा कारणात्मक रूप से सर्वत्र विद्यमान है। इस प्रकार एक की ही अनेकत्र विद्यमानता व्यग्य होने से विशेषालंकार अभिव्यजित हो रहा है।

नैवमूर्ध्वं न तिर्यञ्च न मध्ये परिब्रजन्तम् ।

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्वत् ॥

—श्वे० ४ १९

तथा—

न सङ्गो तिष्ठति वृषमस्य न चक्षुषा पर्यति कश्चर्जनम् ।

हृषा हृदित्य मनसा य एनमेव क्षिुरमुतास्ते भवन्ति ।

—श्वे० ४ २०

इन दोनों मन्त्रों में प्रतिषेध अलंकार है, और प्रतिषेध अलंकार से परमात्मा की अवित्तियों का वर्णन तथा उसकी महिमा का वर्णन होने से उदात्त अलंकार व्यग्य है।

न तस्य कार्यं करण च विद्यते न तत्सम्भवाभ्यधिकम्ब दुर्यते ।

परास्त्य शक्तिविविधं च भूयते, स्वाभाविकी ज्ञानवत्क्षिपा च ॥

—श्वे० ६ ३

यहां परिसंख्या अलंकार है। परिसंख्या अलंकार से अर्थापत्ति अलंकार व्यग्य है कि ये सब पदार्थ विनाशशील मनुष्य में विद्यमान रहते हैं, ब्रह्म में नहीं। वह भ्रज है।

३२४ पद-ध्वनि

अपेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानोहि जिमेतजसमिति । तयेति । तदभ्य-
द्रवत्तस्मात्तिरोदधे ॥

—केन० ३ ११

यहां ऋषि को तिरोदधे पद से एकमात्र इतने अर्थ का बोधन कराना अभिप्रेत नहीं कि यक्ष इन्द्र के सामने से छिप गया, अपितु इन्द्र का अत्यधिक अपमान व्यग्य है। अग्नि तथा वायु जब यक्ष के समीप गये तो यक्ष ने कम से कम उनसे बातचीत तो की, भले ही उनकी

परीक्षा ली और वे सफल न हुए। किन्तु यहाँ, यद्यपि इन्द्र इन दोनों देवताओं से श्रेष्ठ था, पर यक्ष ने उससे वार्तालाप करना तो दूर रहा, उससे मिलना भी उचित न समझा, जो कि उसका अत्यधिक अपमान था। लोक में भी यदि कोई बड़ा आदमी और उसके साथ दो छोटे आदमी किसी के पास जाएँ और वह व्यक्ति उन छोटों से तो मिल ले और वार्तालाप कर ले पर वडों से वार्तालाप करना भी उचित न समझे तो वह उसका अत्यधिक अपमान है। इसी प्रकार यहाँ तिरोबधे पद इन्द्र के अतिशय अपमान को अभिव्यजित कर रहा है। अतः पदगत ध्वनि है।

सा ब्रह्मेति होवाच । ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति ।

ततो ह्येव विदाचकार ब्रह्मेति ॥

—केन० ४ १

यहाँ एतद् पद से यह ब्रह्म की ही विजय है, न कि अग्नि वायु और इन्द्र की, यह अर्थ व्यंग्य होने से पदगत ध्वनि है।

तद तद्वन नाम तद्वनमित्युपासितव्यम् ।

स य एतदेव वेद भूमि ह्येन सर्वाणि भूतानि सवाध्वमिति ॥

—केन० ४ ६

यहाँ ✓वन (सम्भवती)+अच से निष्पन्न वन पद ब्रह्म की अतिशय भजनीयता द्योतित करता है, अतः पदगत ध्वनि है।

स्वर्गे लोके न भय किञ्चनानि न तत्र त्व न जरया विभेति ।

उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो भोदते स्वर्गलोके ॥

—कठ० १ १२

यहाँ नचिवेता यमराज का सम्भावित करता हुआ उमके लिए स्वम् पद का प्रयोग कर रहा है। अर्थात् वहाँ स्वर्ग में 'तू' नहा है। जिसका तात्पर्य है कि मृत्यु लोभ में मग्न अधिभय तेरा ही बना रहता है। उसमें छुटकारा पाना ही यहाँ स्वम् पद के रखने का प्रयोजन है। इस प्रकार स्वम् में चेष्टा अर्थात् उमारी के मनेन का भी भान हो रहा है कि नचिवेता ने यमराज का मनेन करते हुए यह कहा होगा। हमारे अनिरिक्त यहाँ भय या घृण्य पद का भी प्रमाण दिया

जा सकता था, पर त्वम् पद से जो सामर्थ्य है वह उनमें न होने से अपि द्वारा त्वम् का ही प्रयोग किया गया है। अतः शब्द की महिमा से पदगत वैशिष्ट्य होने से, चमत्कारपूर्ण अर्थ के स्रोतन से पदगत ध्वनि है।

एहोहीति तमाहृतय सुवचस सूर्यस्य रश्मिभिर्व्यञ्जमान बहन्ति ।

प्रियां वाचमभिबहन्त्योऽर्चयन्त्य एष व पुण्य सुकृतो ब्रह्मलोक ॥

—मु० १ २ ६

यहा एहि एहि पद की द्विरुक्ति अतिशय व्याकुलता को अभिव्यक्त कर रही है, अतः पदगत ध्वनि है।

इसी प्रकार—

अविद्याया बहुधा बलमाना वय कृतार्था इत्यभिमान्यन्ति बासा ।

परकर्मिणो न प्रवेदयन्ति रामात्मेनतुरा क्षीणसोकारब्धवन्ते ॥

—मु० १ २ ९

यहा बासा पद विशिष्टार्थ का व्यञ्जक होने से पदगत ध्वनि है। वान उसको कहते हैं जिसकी बुद्धि परिपक्व नहीं होती। प्रायः साहित्य में वाल शब्द का प्रयोग अज्ञानी के लिए हुआ है। यहा भी इसी प्रकार अभिव्यक्ति होने से पदगत ध्वनि है।

आत्मा वा इहमेक एवाय आसीत् । नान्यत् किञ्चन निष्त् । स ईक्षत—
लोकान्मु मुजा इति ।

—ऐत० १ १ १

यह भी पदगत ध्वनि का उदाहरण है। पहले यह संसार एकमात्र आत्मा ही था। यहा आसीत् पद का प्रयोग सृष्टि-उत्पत्ति से पूर्व एकमात्र चेतन आत्मा की सत्ता बताने के लिए किया गया है कि इस जगत की उत्पत्ति से पूर्व यह सब कुछ एकमात्र आत्मा (ब्रह्म) ही था, अन्य कोई तत्त्व उस समय न था। यद्यपि आत्मा नित्य होने से, इस समय भी वह सब का कारण होने से, सब में व्याप्त है, पर जैसा शुद्ध स्वरूप उसका पहले था वैसा अब नहीं, अब वह जटात्मिका माया से

मिश्रित है। अतः यहाँ अस्ति का प्रयोग न करके आसीत का प्रयोग किया गया है, जो कि इस प्रकार ब्रह्म को विजातीय, सजातीय तथा स्वगत भेद से रहित बता रहा है।

३ २ ३ वाक्य प्वनि

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मन ।

न विद्यो न विजानीमो यथेतदनुशिष्यात् ॥

—केन० १ ३

अप्येष तद्विदितादयो अविदितादयि ।

इति शुभ्रं पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचक्षिरे ॥

— केन० १ ४

यहाँ सम्पूर्ण वाक्यार्थ से ब्रह्म जीव की एकता तथा उनका अज्ञेयत्व व्यक्त है। अर्थात् ब्रह्म के जीव से पृथक् न होने से जीव की अपनी इन्द्रियो का बाह्य वस्तुओं से ही प्रेरण हो सकता है, ब्रह्म से नहीं। अतः चक्षु, वाणी, मन आदि का वहाँ गमन-निषेध बताया गया है। यहाँ पूरे वाक्य से तात्पर्यार्थभूत व्यंग्यार्थ का बोध होने से पूरे वाक्य को ही व्यङ्ग्य माना जा सकता है।

इषोभावा मर्त्यस्य यदन्तर्गतं सर्वेन्द्रियाणां जरयति तेज ।

अपि तां जीवितमल्पमेव तत्रैव बाह्यस्तव नृत्यगीते ॥

—कठ० १ २६

इस मन्त्र में तत्रैव बाह्यस्तव नृत्यगीते इस पूरे वाक्य से सात्त्विक पदार्थों को कुछ बताना नचिन्ता का तात्पर्य है, जो वाच्य न होकर व्यङ्ग्य है।

यही पर, अपि तत्रैव जीवितमल्पमेव में अपि इस भाव का व्यङ्ग्य है कि यदि जीवन चिरस्थायी होता तो मनुष्य के तेज को नष्ट करने वाले भोजन किसी प्रकार स्वीकार्य हो भी सकते थे, पर यहाँ तो अन्तर्गत सगुण न शान्ति व्याधि जैसा हान है। अतः तत्रैव बाह्यस्तव नृत्यगीते अर्थात् मुझे इनमें से कुछ भी नहीं चाहिए, इस प्रकार की अरुचि सम्पूर्ण वाक्य का तात्पर्यार्थ है।

स होवाचैतद् वै तदक्षर गाणि ब्राह्मणा जेसिर्वदन्त्यस्येतन्मनष्वमहस्वम-
दीर्घमलोहितमस्नेहमच्छाद्यमतमोऽवायवनाकाशममगमरसमगन्धमरस्युत्तमश्रोत्रमवा-
गमनोऽन्तेजस्कमप्राणममुखमगात्रमनन्तरमबाह्वम् न तदस्नाति किञ्चन । न तदरनाति
कश्चन ॥

—वृ० ३ ८ ॥

यहा सम्पूर्ण वाक्य मे ब्रह्मा को सबसे पृथक् बताया गया, जिससे
व्यग्रायं निकला कि ब्रह्म अजेय है। इस प्रकार वाक्य के वैशिष्ट्य से
यहा वस्तुध्वनि है।

सा होवाच—ब्राह्मणा अगवन्तस्तदेव बह्व मन्वेध्वं यदस्मान्मस्कारेण
मुच्येध्वम् । न वै जातु युष्माकमिमं करिष्वद् ब्रह्मोष जेतैति । ततो ह
वाचकन्युपरताम् ॥

—वृ० ३ ८ १२

यहा जो ब्राह्मण याज्ञवल्क्य को जीतना चाहते थे और जिन्होंने
याज्ञवल्क्य का तिरस्कार किया था, गाँवों उन्हें याज्ञवल्क्य से हाथ
जोड़कर छुटकारा पाने को कहती है। हाथ जाड कर छुटकारा पाने से
व्यग्य है कि तुम याज्ञवल्क्य से इस बात को क्षमा-याचना करो और
भविष्य मे किसी का तिरस्कार न करने का वचन करो। यहा सम्पूर्ण
वाक्य से याज्ञवल्क्य को अजेयता व्यग्य है।

तिलैषु संल दधनीव सर्पिराप लोतस्वरणीषु चाग्नि ।

एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽस्ती सत्येनैव तपसा योऽनुपश्यति ॥

—श्वे० १. १५

यहा सम्पूर्ण वाक्य से यह व्यग्य है कि 'वह परमात्म-तत्त्व
सब के हृदयों मे व्याप्त है, यदि कोई उसको अपने मे ही ढूँढे तो वह
प्राप्त हो सकता है' अर्थात् आत्मा को प्राप्ति हृदय मे ही है बाहर से
नहीं।

मनिर्घटाभिमध्यते वायुर्गताधिरध्यते ।

सोमो यत्रतिरिच्यते सत्र सजायते मन ॥

—श्वे० २ ६

यहां प्रत्येक वाक्य से ध्वनि निकल रही है ! जैसे—अग्नियंत्राग्नि मध्यते से व्यग्य है कि सर्वप्रथम यज्ञ इत्यादि का अनुष्ठान होता है, उसके बाद, वायुयंत्राग्निमध्यते से तात्पर्य निकलता है कि तत्पश्चात् प्राणायाम और तब समाधि होती है, एवम् तदनन्तर महावाक्य का बोध होता है । अर्थात् तत्त्वमसि महावाक्य तक पहुँचने में व्यग्य रूप से यहां क्रम बताया गया है ।

३२६ निपात-ध्वनि

केनेपित पतति प्रेपित मन केन प्राणः प्रयम. प्रीति मुक्त ।

केनेपिता वाचमिमां वदन्ति चक्षु ओन्न क उ देवो युनक्ति ॥

—केन० १. १

यहां क उ देवो युनक्ति में क के साथ उ निपात से जिज्ञासा में अत्यधिक प्रबलता द्योतित हो रही है—‘कौन ऐसा देव हो सकता है ?’ इस प्रकार उ निपात से अर्थ में चमत्कार एवम् जिज्ञासा की प्रबलता व्यग्य होने से यहां निपात की व्यञ्जकता है ।

॥ वेदवेदीवय सत्यमस्ति न वेदिहावेदीन्महती विनष्टि ।

भूतेषु भूतेषु विचित्र्य धीरा प्रेत्यास्मात्सोकादभृता भवन्ति ॥

—केन० २. ५

इस मन्त्र में चेत् निपात व्यञ्जक है जिससे प्रतीयमान अर्थ इस प्रकार परिलक्षित है कि ‘ब्रह्म को इसी जन्म में जान लेना हो सबसे बड़ा कर्तव्य है ।’ यहां दोनों चेत् निपातों से ब्रह्म का ज्ञान कठिन होते हुए भी अवश्य ग्राह्य है, यह वस्तु व्यग्य है ।

स ईक्षत—इमे नु लोकाश्च लोकपालाश्च । अन्नमेध्यं सृजा इति ।

—ऐत० १. ३. १

यहां नु निपात व्यञ्जक है जिससे अष्टा की चिन्ता व्यक्त हो रही है कि मैंने इन लोक और लोकपालों की रचना तो कर ली, अब अन्य वस्तुओं की भी स्थापना करनी चाहिए ।

गमं नु सन्नन्देषामवेदह देवानां जनिमानि विरचा ।

शत मा पुर आपसीररत्नान्य श्येनो जयता निरदोषमिति ॥

—ऐत० २. १. ५

यहा तु निपात ऋषि के सामर्थ्य को द्योतित कर रहा है । गर्भ में ही मैंने देवताओं के सम्पूर्ण जन्मों को जान लिया था । जन्म लेने के बाद किसी प्रकार की शक्ति को प्राप्त करने से तो साधारण व्यक्ति भी जान गए होंगे या जान सकते हैं, पर मैंने तो गर्भ में ही इसको जान लिया था । अन्यो की अपेक्षा यह वामदेव की विशिष्ट महिमा को द्योतित कर रहा है । अतः यह भी निपात ध्वनि का ही उदाहरण है ।

यदाऽऽभूतत्वेन तु ब्रह्मत्वात् दीपोपमेनेह पुनः प्रपश्येत् ।

अजं प्रुथं सर्वतत्त्वंविद्युद्धं सात्वा देव मुच्यते सर्वपापं ॥

—श्वे० २. १५

यहा तु निपात व्यंजक है । इससे आत्मभाव द्वारा ही परमात्मा का साक्षात्कार हो सकता है, अन्य किसी वस्तु से नहीं, यह व्यंग्यार्थ प्रतीति में आ रहा है ।

त्वभावमेके कथयो यदन्ति काल तथाज्ये परिनुह्यमाना ।

देवस्यैव महिमा तु लोके येनेदं श्राम्यते ब्रह्मचक्षुः ॥

—श्वे० ६ १

यहा देवस्यैव महिमा तु लोके में प्रयुक्त तु निपात व्यंजक है, जिससे अर्थपत्ति अलंकार द्वारा व्यक्त है कि यह ईश्वर की ही शक्ति है जो इस प्रकार ब्रह्म-चक्र चला रही है अर्थात् ईश्वर ही सम्पूर्ण विश्व का कारण है ।

३.२.७ प्रत्यय-ध्वनि

तोज्ञत्यायमात्मना पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीमते । अथास्वायनितर आत्मा हृतकृत्यो यदीयत प्रीतिः । स इतः प्रयत्नेन पुनर्जायते तदस्य तृतीय जन्म ॥

—ऐत० २ १. ४

इस मन्त्र में अयन् प्र + √इष् + शतृ का रूप है । अतृ प्रत्यय के प्रयोग के कारण जीव के एक शरीर को छोड़ने के साथ-साथ दूसरे शरीर में प्रविष्ट होने की स्थिति पर बल दिया गया है, अर्थात् एक ओर से शरीर-त्याग करते ही दूसरी ओर अपने कर्मों के अनुसार ठीक उसी

प्रकार जन्म ग्रहण करता है जैसे जोक एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाती हुई पहले दूसरे स्थान को प्राप्त कर लेती है तब पहला स्थान छोड़ती है। इस प्रकार शत्रन्त प्रयन् पद में यहा व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो रही है।

३.२८ प्लुत-ध्वनि

लौकिक साहित्य में साहित्यशास्त्रियों को जो अनेक प्रकार भी व्यञ्जकता प्राप्त होती है, प्रायः वे सभी विधाएँ उपनिषदों में प्राप्त होनी ही हैं। पर उपनिषत्साहित्य में लौकिक साहित्य की अपेक्षा अन्य की भी व्यञ्जकता प्राप्त होती है। कई एक स्थानों पर प्लुतादि द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराना उपनिषत्साहित्य की अपनी विशेषता है। कुछ एक उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

‘ स य एषजिन् । अरमात्सोकात्प्रेत्य । एतमन्ममयमात्मान-
मुपसक्तम् । एत प्राणमयमात्मानमुपसक्तम् । एत मनोमयमात्मानमुपसक्तम् ।
एत विज्ञानमयमात्मानमुपसक्तम् । एतमानन्दमयमात्मानमुपसक्तम् । इमा-
त्सोकात्कामान्नी कामरूप्यनुसचरन् । एतत्साम यापन्वाप्ते । हा ३ धु
हा ३ धु हा ३ धु ॥

—तै० ३. १०

यहा हा ३ धु में प्लुत से विस्मयातिशय व्यंग्य है।

स होवाचानातशतु एतावान् ३ इति । एतावदीति ।

नैतावता विदित भवतीति ।

स होवाच गार्ग्य उप त्वाभ्यानीति ॥

—वृ० २. १ १४

—अज्ञातशत्रु बोला, ‘क्या इतना ही है ?’ अर्थात् क्या तुम्हें इतना ही कहा विदित है या इससे कुछ अधिक ?

यहा एतावान् ३ में प्लुत से व्यंग्य है कि जो कुछ तुम जानते हो यह तुच्छ है। इस प्रकार यहा प्लुत के कारण व्यंग्य है।

तान् होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो यो ब्रह्मिष्ठ स एता गा उदजता-
मिति । ... स ह्येन पञ्च—त्वं नु यत्तु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसौ ३ इति ॥

—वृ० ३. १. २

उसने उनसे कहा—‘पूज्य ब्राह्मणगण ! जो ब्रह्मिष्ठ हो वह इन गौग्रो को ले जाय ।’ किन्तु उन ब्राह्मणों का साहस न हुआ । पर जब याज्ञवल्क्य अपने शिष्य में गौग्रो को खोलने के लिए कहता है तो ब्राह्मण कुपित होते हैं और याज्ञवल्क्य से पूछते हैं—‘याज्ञवल्क्य ! हम सब में क्या तुम ही ब्रह्मिष्ठ हो ? इस प्रकार यहा ब्रह्मिष्ठोऽसी३ में अति पद में प्लुत भर्त्सना को चोतित करता है कि ‘याज्ञवल्क्य तुम्हें धिक्कार है जो तुम इतने अहंकार के साथ इतने बड़े ऋषियों में अपने को ब्रह्मिष्ठ खुद समझ बैठे हो ।’ इस प्रकार मध्यम पुरुष अति को प्लुत में प्रयुक्त करके भर्त्सना व्यग्य है ।

४. १. रस-सिद्धान्त

रस शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है—(१) पदार्थों का रस—अम्ल, तिक्त आदि (२) आयुर्वेद का रस, (३) साहित्य का रस, (४) मोक्ष या भक्ति का रस। उपनिषदों में रस शब्द ईश्वर या ब्रह्म के लिए भी प्रयुक्त हुआ है—‘रसो वस । रस होवाय लब्ध्वाऽऽनन्वी भवति ।’ ऐसा प्रतीत होता है कि उसके समानान्तर यह शब्द काव्य में आत्मानन्द के रूप में प्रयुक्त होने लगा। जिस प्रकार ब्रह्म, सत्, चित्, आनन्द है, इन तीनों का एकीभाव है, ठीक इसी प्रकार काव्य में वही ब्रह्मानुभव रस है।

रस सिद्धान्त के आदिप्रवर्तक भरत मुनि माने जाते हैं। उनके नाट्य-शास्त्र में विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्ति^१ इस रस-विषयकसूत्र का उल्लेख मिलता है। बादमें भट्टलालभट्ट, श्रीशङ्कर, भट्टनायक और अभिनवगुप्त ये चार आचार्य भरतसूत्र के प्रसिद्ध व्याख्याकार हुए हैं। इन्होंने सूत्र में प्रयुक्त संयोग तथा निष्पत्ति शब्दों की अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार व्याख्या की है। इन चारों में आचार्य अभिनवगुप्त का मत सर्वश्रेष्ठ तथा निर्दुष्ट स्थिर हुआ। यही कारण है कि उत्तरवर्ती साहित्यशास्त्रियों ने उन्हीं के मत को स्वीकार किया। आचार्य भट्टनाट्य ने अभिनवगुप्त के मत का अनुसरण करते हुए रस की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की—

कारणायथ कार्याणि सहजातेनि यानि च ।

रस्यादे स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययो ॥

१. तै० ब्रह्मानन्दवल्ली ७

२. ना० शा० काव्यमानागुच्छर, पृ० ६३

विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।

व्यक्तं स तैर्विभावाद्यै रस्याभिभावो रसः स्मृतः ॥^१

इसी के अनुरूप आचार्य विश्वनाथ रस की परिभाषा देते हैं—

विभावेनानुभावेन व्यक्त सचारिणा तथा ।

रसनामेति रत्यादि स्यादभिभाव सचेतसाम् ॥^२

रसगगधरकार पण्डितराज जगन्नाथ ने रस के स्वरूप को विशद करते हुए रसविषयक ११ मतों का उल्लेख किया है। परन्तु उनको अस्वीकार करते हुए उन्होंने रसविषयक अपने मन्तव्य को इस प्रकार स्थिर किया—

समुचितसन्नितसन्निवेशादृशा काव्येन समर्पितं सद्बुदयतृदय प्रविष्टे-
स्तबीपसद्बुदयतामहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विधलितदुष्यन्तरमशीत्वादिभिर-
सौक्तिकविभाषानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यं शकुन्तलादिभिरात्मम्वनकारणैः,
चण्डिकादिभिर्द्वीपनकारणैः, अधुवातादिभिः कार्यैः, चिन्ताविभिः सहकारिभिरथ,
समूह्य शत्रुर्माश्रितेनासौक्तिकेन व्यापारेण तत्कालनिवर्तितानन्दसावरणमानेनात एव
प्रमुष्टपरिमितप्रनातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपा-
नन्देन सह गोचरीश्रियमाण प्राग्निनिविष्टवातनाकपो रत्यादिरेव रसः ।^३

पण्डितराज का रसविषयक यह विवेचन भी अभिनवगुप्त के मत पर प्राधृत है।

वास्तव में देखा जाए तो आचार्य अभिनवगुप्त के बाद रस की कोई नवीन व्याख्या नहीं हुई। प्रकारान्तर से सभी आचार्य उन्हीं के मत को अपने-अपने शब्दों में कहते आए। इतना अग्रयण है कि भरतमुनि से पण्डितराज जगन्नाथ तक रस क्या है, इस विषय को लेकर

१ का० प्र०, ४ २७-२८

२ सा० द०, ३ १

३. १० व०, चौखम्बा, पृ० ८०

नोकझोक अवश्य होती रही। आचार्य विश्वनाथ रस के काव्यात्मत्व के प्रबल समर्थक हैं। वे रस के अतिरिक्त यहाँ तक कि ध्वनि को भी काव्य की आत्मा स्वीकार करने को तैयार नहीं। अतः एव रसध्वनि से तो उन्हें कोई असहमति नहीं, परन्तु वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि की काव्यात्मकता पर उन्हें आपत्ति है। अतः एव उनका परिनिष्ठित काव्य-लक्षण है—

वाक्य रसात्मकं काव्यम् ।^१

४. २. रस-विरलेपण

रस के अन्तर्गत न केवल शृंगार, करुण और वीर आदि रसों का ही समावेश है, अपितु रस शब्द से भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशान्ति, भावशबलता का भी ग्रहण होता है—

रसमावी तदाभातो भावस्य प्रशमोदयो ।

सन्धिः शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद् रसाः ॥^१

रसों की संख्या के विषय में आचार्यों में मतभेद है। भरतमुनि ने आठ रस स्वीकार किए हैं—

शृङ्गारहास्यकरुणा वीरवीरभयानका ।

बीभत्साद्भुतस्तौ वेदयन्ती नन्द्ये रसाः स्मृता ॥^२

आचार्य मम्मट ने—

निर्वेदस्याग्निभावोऽस्ति शान्तोऽपि भवभो रसः ।^३

कहकर नवम शान्तरस भी स्वीकार किया है।

बाद में आचार्यों ने वात्सल्य, भक्ति आदि अन्य रस भी स्वीकार किए और उनकी संख्या में वृद्धि होती गई।

जहां एक और रस की संख्या का विस्तार होता गया, वहां कुछ आचार्यों ने उसके सकोच की ओर भी ध्यान दिया। भोजराज ने—

रसोऽग्निमानोज्झ्वारः शृङ्गार इति भीयते,

योऽर्धस्तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयमश्नुते ।

१. सा० ८०, ३. २२६

२. ना० पा०, ६. १६

३. का० प्र०, ४. ३५

विशिष्टादुष्टजन्माय जग्मिनामन्तरात्मसु ।

आत्मा सम्पन्नुषोद्भूतेरेको हेतु प्रकाशते ॥^१

यह कहकर शृंगार को ही मुख्य रस माना और अन्य रसों को उसका ही विस्तार । इसी प्रकार विश्वनाथ के पूर्वज नारायण ने 'अद्भुत' को ही प्रधान रस माना है ।^२ आचार्य अभिनव गुप्त ने मोक्ष के परम पुरुषार्थ होने के कारण शान्त रस को मुख्य रस स्वीकार किया है ।

उपनिषदों का विषय ब्रह्मज्ञान तथा मोक्ष है । अतः इनमें प्रमुख रूप से शान्त रस है । परन्तु ब्रह्म की अज्ञेयता, सर्वव्यापिता, शक्तिमत्ता, विलक्षणता, सर्वनियन्त्रित्व आदि के विचित्र रूप से प्रतिपादन के कारण उपनिषदों में अद्भुत रस भी आ गया है । अग रूप में शृंगार भी कहीं कहीं दिखाई देता है । ऋषि की अग्नि, सूर्य आदि देवताओं के प्रति रति के दर्शन से, रस के अतिरिक्त उपनिषदों में भाव भी देखने में आता है ।

४२१ शान्त रस

साहित्यशास्त्रियों ने रस की दृष्टि से उपनिषदों में शान्त रस का विश्लेषण नहीं किया जा सकता, पर मोक्ष विषयक तथा आत्म-विषयक विवेचन होने के कारण उपनिषदों में शान्त रस की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है ।

इस विषय में कुछ एक उपनिषद् दर्शनीय हैं ।

कठोपनिषद् ने ऋषि ने यम और नचिकेता के सम्वाद से ससार की अनित्यता तथा ब्रह्मज्ञान की आवश्यकता का चित्रण किया है । नचिकेता के ये वचन उद्दीपन विभाव के रूप में बितने उपयुक्त हैं—

इदो भावा मार्गस्य यदन्तर्कतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेन ।

अपि सर्वे जीविनमल्पमेव तद्वयं यातास्तथ नृत्पयोते ॥

—यठ० १ २६

१. शृङ्गारप्रकाश, वाक्यमाता, ५ १-२, पृ० ४७४

२. सा० ६०, (साहित्यम सभा०) पृ० ४६

यमराज नचिकेता को बार-बार प्रलोभन देता हुआ कहता है—

शतापुत्र पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान् ।

भूमेर्महदायतन वृक्षीष्व स्वयं च जीव शरदो यावद्विच्छसि ॥

एतत्तुल्य यदि मन्यसे वर वृणीष्व विस्र चिरजीविका च ।

महाभूपौ नचिकेतस्त्वमेधि कामना त्वा कामभाज करोषि ॥

ये दे कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामासङ्गदत्त प्रार्थयस्व ।

इमा रामा सरथाः सत्पूया नहीदृशा लम्बनीया मनुष्यं ।

आभिर्भक्षणानि परिवारयस्व . . . ॥

—कठ० १ २३-२५

परन्तु नचिकेता पर उसके इस प्रलोभन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि वह जानता है कि ये सभी पदार्थ नश्वर हैं। वह कहता है—

अजीयेताममृतानामुपेत्य जीयेन्मर्त्यं स्वयं ह्य प्रजान् ।

अभिध्यायन् वर्मरतिप्रमोदानतिदीर्घं जीविते को रयेत ॥

—कठ० १ २६

नचिकेता तो अपने तृतीय वर पर ही दृढ़ है कि उसे मृत्यु का रहस्य ज्ञात हो और शाश्वत ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो ।

इस प्रकार यहाँ सांसारिक पदार्थों की क्षणभंगुरता के ज्ञान से उत्पन्न निर्वेद भाव की परिपुष्टि होने के कारण शान्त रस है। नचिकेता की तृष्णा का क्षय हो गया है। उसमें शम का प्रादुर्भाव हो गया है। वह ब्रह्मानुभूति तथा मोक्ष का अधिकारी है। अतः यमराज उसे मृत्यु का रहस्य समझाता है। यह सम्पूर्ण प्रसंग शान्त रस का कितना उपयुक्त उदाहरण है ।

इस सन्दर्भ में रौद्र का भी बीच में उन्मेष है, जबकि नचिकेता के पिता उस पर रुष्ट होकर कहते हैं कि 'मैं तुझे यमराज को देता हूँ।' परन्तु यह श्लोक केवल उद्बुद्ध मात्र है और मुख्य रस शान्त का अंग है, उसका पोषक है। इस श्लोक का स्वतन्त्र परितोष नहीं हुआ है।

इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् में भी याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी सम्वाद में शान्त रस की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। जैसे—

न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्रा प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्रा प्रिया भवन्ति । न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्त प्रिय भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्त प्रिय भवति । न वा अरे ब्रह्मण कामाय ब्रह्म प्रिय भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रिय भवति । न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्र प्रिय भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्र प्रिय भवति । न वा अरे लोकानां कामाय लोका प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोका प्रिया भवन्ति ।

—वृ० २ ४ ५

इस मन्त्र में सासारिक पदार्थों की तुच्छता बताकर आत्मतत्त्व की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ भी वित्त, माता, पुत्र आदि सभी लौकिक पदार्थों की हेयता प्रदर्शित करके निर्वेद या तृष्णा-क्षयमूलक शान्त का ही परिपाक है।

यहाँ तो दिङ्मात्र निर्देश के लिए एक दो उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। वस्तुतः सम्पूर्ण उपनिषद्-साहित्य में शान्त रस लक्ष्-सूत्रन्याय से अनुत्प्लूत है।

४२२. अदभुत रस

केनेपित पतति प्रेपित मन,
केन प्राण प्रथम प्रेति युक्त ।
केनेपिता वाचमिमा ब्रह्मन्ति ।
असु धीम क उ देवो मुनश्चि ॥

—केन० १ १

यहाँ उपनिषदों का ऋषि आश्चर्य में पड़ा है। वह इस रहस्य को खोलना चाहता है कि यह मन इष्ट वस्तु के प्रति किससे प्रेरित होकर जाता है? मुख्य प्राण किससे जोड़ा हुआ विशेषता से चलता है? इस वाणी को किसकी प्रेरणा से लोग बोलते हैं? और, आद्य को कौन देव कार्यों में लगाता है?

यह रहस्य और अधिक गहरा हो जाता है, जब ऋषि कहता है—

न तत्र असुगच्छति न वागच्छति नो मन,
न विद्यो न विज्ञानो नो यथेतदनुतिष्ठ्यात् ॥

४. ३. भाव

रस के अतिरिक्त उपनिषत्-साहित्य में 'भाव' की भी सुन्दर निष्पत्ति दिखाई देती है। आचार्य विश्वनाथ ने प्रधानभूत सचारी, देवादिविषयक रति तथा उद्बुद्धमात्र स्थायी—इन तीनों को भाव की सजा दी है।^१

इस दृष्टि में उपनिषदों में ऋषि की देवादिविषयक रति के रूप में भाव के दर्शन होते हैं। जैसे—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव ध्युनानि बिभ्रान् ।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठा ते नम उक्ति विधेम ॥

—ईश० १८

इस मन्त्र में उपनिषद् के ऋषि की अग्निविषयक रति का वर्णन होने के कारण भाव है।

स तन्मिन्नेवाऽऽकरो म्रियमाजगाम बहुशोभमानामुषां हैमवतीम् ।

—ऐन० ३ १२

इस मन्त्र में उमा के लावण्य के वर्णन से रति का उद्बोध मात्र होने लगता है, परन्तु आगे विभावानुभावादि की योजना न होने से उमका परिपोष नहीं हुआ। इस प्रकार यहाँ केवल रति स्थायी भाव के आलम्बन उमा के वर्णन द्वारा रति का उद्बोध मात्र होने के कारण भाव है।

अथ हैन गार्गी आचक्षन्ती पप्रच्छ—आप्तवत्स्वेति होवाच । प्रविदं सर्वमप्स्वीत च प्रोत च, कस्मिन्नु छत्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति ? यापो गार्गीति । कस्मिन्नु छत्सु वापुरोताश्च प्रोताश्चेति ? अन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति । कस्मिन्नु छत्सु गन्धर्व-रिक्षलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ? गन्धर्वलोकेषु गार्गीति । कस्मिन्नु छत्सु गन्धर्व-

१ सञ्चारिण प्रधानानि देवादिविषया रति ।

उद्बुद्धमात्र स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ॥

(सा० द०, ३ २६०)

लोका ओताश्चेति ? आदित्यलोकेषु गार्गीति । कस्मिन्नु अस्वादित्यलोका
ओताश्चेति ? चन्द्रलोकेषु गार्गीति । ... कस्मिन्नु एषु प्रजापतिलोका
ओताश्चेति ? ब्रह्मलोकेषु गार्गीति । कस्मिन्नु एषु ब्रह्मलोका ओताश्चेति ?
स होवाच गार्गि ! मासतिप्राप्तीर्मा ते सूर्वा व्यपत्तदनतिप्रश्रया वै
वेद्यनामतिपृच्छति । गार्गि ! मासतिप्राप्तोरिति । ... ॥

—बृह० ३. ६. १

यहा गार्गी का वितर्क कि अन्ततोगत्वा यह सब किसमे प्रोत प्रोत
है, इन सब का अधिष्ठाता कौन है ? यह प्रधान रूप से अजित है ।
अतः यहा विनर्कभाव की सुन्दर अभिव्यक्ति हो रही है ।

इसी प्रकार,

युजते मन उत युजते धियो विप्रा विप्रस्य दृढतो विपरिचत ।

वि होत्रा दधे ऋषुनाविदेक इन्द्रो देवस्य सवितुः परिप्लुतिः ॥

—श्वे० २. ४

इस मन्त्र मे ऋषि की सवितृविषयक रति व्यक्त होने के कारण
भाव है ।

तथा,

या ते रुद्र सिवा तदूरघोरप्रापकाशिनो ।

तथा नस्तनुवा शनमया गिरिगन्ताभिजाकशीहि ॥

—श्वे० ३. ५

इस मन्त्र मे भी रुद्रविषयक रति की अभिव्यक्ति से भाव है ।

इसी प्रकार श्वे० २. १७, ३१ तथा ३. ४ मे भी देव-विषयक
रति हाने मे भाव माना जा सकता है ।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि उपनिषदों में शान्त एव
अद्भुत रस तथा भाव पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान हैं ।

५.१ श्रीचित्य का परिचय

श्रीचित्य का विचार भरतमुनि के समय से ही प्रचलित था, पर काव्यशास्त्र में सिद्धान्त के रूप से उसकी स्थापना आचार्य क्षेमेन्द्र ने की। श्रीचित्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—

उचित ग्राहुराचार्या सबश क्लियत्य यत् ।

उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥

—श्री० वि० च० ७

जो जिसके सदृश है, अनुकूल है, वह उचित है। गले में हार, कटि में मेखला, हाथ में वक्कण उचित है, क्योंकि हार का उचित स्थान गला मेखला का कटि तथा वक्कण का हाथ है। ये आभूषण उचित स्थान पर धारण किए हुए ही शोभावर्धक होते हैं। इनके धारण में व्यतिश्रम कर देने पर अनौचित्य हो जाता है। हार को कटि में, वक्कण को कर्ण में तथा मेखला को गले में धारण करने से अनौचित्य के कारण उपहास होता है। जो वस्तु जिस स्थान पर उचित है उसे उसी स्थान पर रखने से मुन्दरता आती है। स्थान-व्यतिश्रम से वह भूषा के बदले दोष बन जाती है। जैसे क्षेमेन्द्र कहते हैं—

बन्धे मेघसया नितम्बजसके तारेण हारेण वा

पाशौ नूपुरबन्धनेन चरणे रेपूरपाशेन वा ।

शौर्येण प्रणते रिपो बह्मण्या नायान्ति के हास्यताम्

श्रीचित्येन विना रश्मिं प्रतनुते नास्तृतिर्नो गुणा ॥

—श्री० वि० च० ६

जो बात बटव कुण्डनादि लौकिक अलंकारों के श्रीचित्य के सम्यग्ध में है, वही काव्य में गुण, अलंकार, रीति आदि वाक्यांगों के

५.२. औचित्य के भेद

औचित्य काव्य में सर्वत्र व्याप्त है। जिस प्रकार आनन्दवर्धन ने पद, वाक्य, प्रबन्ध, उपसर्ग, निपात आदि की व्यञ्जकता के आधार पर ध्वनि के भेद किए हैं, उसी प्रकार क्षेमेन्द्र ने भी औचित्य के अनेक भेद प्रदर्शित किए हैं। जैसे—

(१) पदौचित्य (२) वाक्यौचित्य (३) प्रबन्धौचित्य (४) कारकौचित्य (५) लिंगौचित्य (६) वचनौचित्य (७) विशेषणौचित्य इत्यादि ।

क्षेमेन्द्र से पूर्ववर्ती आचार्यों ने अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि और रस के रूप में जिस वाक्य-सौन्दर्य का विवेचन किया था, उसे इन्होंने औचित्य के विभिन्न भेदों के अन्तर्गत समाहृत कर लिया तथा औचित्य को व्यापक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया। जैसा उन्होंने कहा—

पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणैरलङ्कारै रसे ।

त्रियायां कारके सिंगे वचने च विशेषणे ॥

उपसर्गे निपाते च काले ज्ञेसे कुले व्रते ।

तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसपदे ॥

प्रतिभाषामवस्थायां विचारे नाम्न्यपामिवि ।

काव्यस्थानेषु च प्रादुरौचित्यं व्यापि जीवितम् ॥

—श्री० वि० च० ८-१०

भारतीय वाङ्मय के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि औचित्य की ओर केवल उत्तरवर्ती कवियों ने ही ध्यान दिया हो ऐसी बात नहीं, अपितु वैदिक ऋषियों तथा उपनिषद्वादी ऋषियों ने भी इस दिशा में पूर्ण ध्यान दिया। उनकी रचनाओं में स्थान स्थान पर इन नियमों का पूरा पालन किया गया ताकि वही पर अनौचित्य की गंध भी न आने पाए। इस दिशा में उपनिषदों के अध्ययन में जो देयने में आया, उससे इस सत्य की पूर्णतः पुष्टि होती है। उपनिषद्वादी ऋषियों ने

किस प्रकार औचित्य का पालन किया, इसके कतिपय उदाहरण आगे प्रस्तुत हैं ।

५.२.१ पद-औचित्य

केनेपित पतनि प्रेषित मम केन प्राण प्रथम प्रीति युक्त ।

केनेपिता वाचम् इमाम् वदन्ति वक्षु श्रोत्र क उ देवो मुनित ॥

—केन० १ १

इस मन्त्र में केनेपिता वाचम् इमाम् वदन्ति वाक्य में इमाम् वाचम् में इमाम् पद के बिना भी अर्थ ज्ञात हो सकता था कि 'किसकी प्रेरणा से हम वाणी बोलते हैं ?' किन्तु इमाम् पद ने आकर एक अन्य ही वास्तता उत्पन्न करते हुए वाणी पर चार चाद लगा दिए, और वाणी साधारण न रहकर धनेकविध गुणयुक्त हो गई, तथा पशुपक्षियों की वाणी से भी उसका पार्यंक्य हो गया । ऋषि द्वारा प्रयुक्त यह पदपूर्णरूपेण औचित्य का निर्वाह करता हुआ सहृदयों के हृदयों को आनन्दित कर रहा है ।

इसी प्रकार,

तन्मे तृण निदधाम्येतद्देहि । तदुपप्रेषाय सर्वजवेन तन्न अशाक दग्धुं स तत एव निवदते नैतदसक विज्ञातु यदेतद्यसमिति ।

—केन० ३ ६

यहां यक्ष द्वारा अग्नि की परीक्षा का वर्णन है । यक्ष के पूछे जाने पर अग्नि पहले काफी गप्प मार चुकी है कि मैं जातवेदा अर्थात् 'न केवल भूलोक के अपितु अन्तरिक्ष के भी सभी पदार्थों को जलाने में समर्थ हूँ ।' यक्ष उसकी परीक्षा लेता है, उसके सामने तृण फेंकता है । यहा तृण शब्द अने तुच्छ हो पर अग्नि को खूब मिट्टी पलीत करने में समर्थ हो रहा है, तथा अग्नि के शत्रुओं को प्रसन्न करने में भी समर्थ है । ऋषि यद्यपि काष्ठम इत्यादि का भी प्रयोग कर सकता था, पर उसे अग्नि की अनिश्चयहीनता दिखलाना इष्ट था, अतः अग्नि के सामने तिनका मात्र ही फेंका । पर अग्नि की सामर्थ्य का क्या कहना ! वह उसके पाप जाकर भी उसको नहीं जला सकी । इस प्रकार तृण पद यहा अग्नि के असामर्थ्य को प्रकट करने में अपना औचित्य प्रदर्शित कर पाठकों को भी आनन्दित कर रहा है ।

एवमेव,

स तस्मिन्नेवाऽऽकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानाम् उमां हैमवतीम्
तां होवाच किमेतच्छमिति ॥

—केन० ३. १२

यहा हिमालय की पुत्री के लिए हैमवती पद का प्रयोग सचमुच हिमालय को भी आनन्दित करने वाला है। 'पर्वतपुत्री' जैसे शब्दों का प्रयोग यहा हो सकता था, पर हैमवती पद ने हिमालय की पुत्री के साथ स्वर्णमयी का जो अर्थ प्रदान किया, वह विलक्षणता को दिखा रहा है।

और भी,

तद्व तद्वन नाम तद्वनमित्पुषासितप्यम् । स य एतदेव वेदानि ह्येन सर्वाणि
भूतानि सवाद्यन्ति ॥

—केन० ४. ६

यहा वन पद का प्रयोग ऋषि द्वारा विशिष्ट चमत्कार को पैदा करने के हेतु ही प्रयुक्त किया गया है। पाणिनि के अनुसार ✓वन् सम्बन्धी धातु से वन की निष्पत्ति है। ऋषि द्वारा यहा ✓भज् धातु का प्रयोग भी किया जा सकता था। किन्तु, भज् धातु में भक्ति-भाव का वह औचित्य विद्यमान नहीं जो वन धातु के प्रयोग में आता है।

स्वर्गे लोके न मय विचितास्ति न तत्र त्व न जरया विभेति ।

उभे तीर्त्वाशानावापिपाते शोकातिगो भोवते स्वर्गलोके ॥

—वठ० १. १२

यहा नचिन्वेता भूलोक की अपेक्षा स्वर्गलोक की विशेषता बताते-बताते स्वर्ग में जहा अनेक पदार्थों का निषेध करता है, यहा यम का भी निषेध करता है कि 'वहा तू (मृत्यु) भी नहीं'। फिर, यम का निषेध यह 'भवान्' इत्यादि पदा से भी कर सकता था। पर उसने त्वम् पद का ही प्रयोग किया जो कि यमराज की निरबुद्धता का स्पष्ट रूप से बताता हुआ सम्पूर्ण मन्त्र में चमत्कृत पंदा कर रहा है। इन प्रकार सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में भय उत्पन्न करने वाले यम को त्वम् पद से कहने पर चमत्कारपूर्ण औचित्य से नचिन्वेता अपने भाव को व्यक्त करने में सफल हो जाता है।

अविद्यायामन्तरे वर्तमाना स्वयं धीरा पण्डितमन्यमाना ।

दन्द्म्यभाषा परित्यज्यन्ति मूढा अन्येनैव नीयमाना यथान्धा ॥

—कठ० २ ५

यहाँ अज्ञानियों के विषय में ऋषि अपने विचार प्रकट करता है। अज्ञानी अपने अज्ञान को छिपाने के लिए किस प्रकार दनदनाते हैं, इसकी अभिव्यक्ति के लिए ऋषि ने दन्द्म्यन्तरे पद का प्रयोग किया। चाहे वे कितने ही दनदनाएँ, पर ऋषि द्वारा प्रयुक्त यह पद उनको मूर्खता प्रकट कर, सहृदयों के हृदय में जो चमत्कृति पैदा कर रहा है उससे कवि का यह प्रयोग सर्वथा ओचित्य का निर्वाह कर रहा है।

एकैक जाल बहुधा विकुर्वन्मस्मिन्नेवे सहस्रेष्वेव देव ।

धूपं सृष्ट्वा पतयस्तथेश सखीधिपत्य कुर्वते धृष्टथा ॥

—श्वे० ५ ३

यहाँ ऋषि ने जिस चतुराई से जाल जब्द का प्रयोग किया उससे केवल पाठक ही नहीं, अपितु अनेक टीकाकार भी अनेकविध भाष्य करने के जजाल में फँसे हुए दिखाई देते हैं। सचमुच जाल जब पानी में फँका जाता है, तो मछलियों को क्या पता कि यह हमें फँसाने के लिए है। वे तो उसमें बन्ध हुए तोहे के गोत्रों को अपना खाद्य समझती हैं और झट से उस ओर दौड़कर उसमें फँस जाती हैं। इसी प्रकार यह ससार—मायाजाल—भी सम्पूर्ण प्राणियों को जिस चतुराई के साथ फँसाता है, उसे व्यक्त करने के लिए ऋषि द्वारा प्रयुक्त यह पद सर्वथा ओचित्य का निर्वाह करता हुआ इस मन्त्र में चमत्कृति उत्पन्न कर रहा है।

५ २ २ वाक्य-ओचित्य

अविद्यायामन्तरे वर्तमाना स्वयं धीरा पण्डितमन्यमाना ।

दन्द्म्यभाषा परित्यज्यन्ति मूढा अन्येनैव नीयमाना यथान्धा ॥

—कठ० २ ५

यहाँ अविद्या में विचरण करने वाले अज्ञानियों द्वारा अपने को ज्ञानी समझ कर दूसरों को उपदेश दिए जाने की स्थिति का वर्णन करते हुए ऋषि ने दोनों के लिए बहुत उचित ढंग से अन्येनैव नीयमाना यथान्धा वाक्य का प्रयोग किया है। ओचित्य तो यही है कि कहीं चौराहे पर भीड़-

भडाके के बीच एक अन्धा यदि दूसरे अन्धे का हाथ पकड़कर पार कराने का दम्भ भरे तो क्षण भर में उन दोनों की क्या स्थिति होगी ? यह बात वही उपस्थित जनसमुदाय से छिपी न रहेगी । इसी प्रकार अज्ञानियों द्वारा अज्ञानी जनता को सही मार्ग पर ले जाने का दम्भ भरने से दोनों की स्थिति क्या होगी ? उसका सुन्दर चित्र ऋषि ने उचित रूप में यहाँ खींचा है, जो निःपूर्वत चमत्कृति पैदा करता हुआ मन्त्र को सहृदयों के हृदय का हार बना रहा है ।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

धूरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पयस्ततः कवयो वदन्ति ॥

—पठ० ३ १४

यहाँ ऋषि प्रतिपल अज्ञान में जागकर ज्ञान की ओर उन्मुख होने के माथ माथ यज्ञ प्रतिनि के मार्ग की स्थिति का भी वर्णन कर रहा है । ऋषि ने बड़ी सूक्ष्मता से उस मार्ग को छूरे की धार कहा है । वह भी निशिता अर्थात् तेज छूरे की धार । वैसे तो छूरे की माधारण धार पर चलना ही कठिन है, उस पर भी वह तेज हो तो उसका कहना ही क्या ? इसी प्रकार उस मार्ग पर जाना तो दूर रहा, सुनते ही कितने तो भयभीत हो जायेंगे । पर टरने की कोई बात नहीं । ऋषि ने बड़े ही औचित्य के साथ इसका निर्वाह किया कि तेज छूरे की धार के समान कठिन होने पर भी उस मार्ग पर गमन किया जा सकता है । पर क्या ? यदि कोई मोते-जागते उस पर चलने का अभ्यास करे । जिन्होंने अभ्यास किया है वे छूरे की पैनी धार पर भी बड़ी सरलता से चल पड़ते हैं । इस प्रकार ऋषि द्वारा प्रयुक्त वाक्य साधकों को उस कठिन मार्ग की ओर प्रेरित करता हुआ यहाँ चमत्कृति उत्पन्न कर रहा है । यही यहाँ औचित्य है, जो कि सम्पूर्ण वाक्य में प्रोत प्रोत है ।

५.२ ३. अलंकार-औचित्य

अनुपम्य यथा पूर्वं प्रतिपश्य तथाऽपरे ।

सत्यमिदं मयं पश्यते सत्यमिवाजायते पुन ॥

—पठ० १ ६

यहाँ मयं उपमेय तथा सत्य उपमान है । उपमेय-उपमानभाव से ऋषि द्वारा दोनों का साम्य जिस औचित्य के माध्यम दिया गया,

तथा उससे जो मनुष्य की विनाश खोलता का ज्ञान हुआ, वह एक विचित्रता लिए हुए है। दैनंदिन व्यवहार में आने वाले सत्य की उत्पत्ति तथा विनाश से मनुष्य की उत्पत्ति तथा विनाश को ऋषि द्वारा किस अनोखे ढंग से समझाया गया है। जंगलों में रहने वाला ऋषि इसी प्रकार के उपमान उपस्थित कर सकता था। यदि वह अन्य उपमान उपस्थित करता तो वहाँ वह औचित्य न रहता।

इसी प्रकार,

यस्य ब्रह्म च सत्त च उभे भवत ओदन ।

मृत्युर्दस्योपसेचन क इत्या वेद यत्र स ॥

—कठ० २ २५

यहाँ ऋषि, परमात्मा की शक्ति के वर्णन में जिस औचित्य से ब्रह्म और धन के साथ ओदन और मृत्यु के उपसेचन की उपमानता का वर्णन करता है, उससे स्वभावतः भ्रान्ति में चमत्कृति पैदा हो रही है। सम्पूर्ण धर्मों के आश्रय ब्राह्मण, और सारे विश्व के रक्षक क्षत्रिय, दोनों जिसके लिए ओदन अर्थात् पके हुए चावलों के समान है। इतना ही नहीं सारे समार को भयभीत कर देने वाली मृत्यु भी जिसके लिए शाकादि के समान है, ऐसा वह तत्त्व है। जिन्होंने दाल के साथ भात को खाया है वे अनायास ही समझ गए होंगे कि दाल-भात को खाने में व्यक्ति को तनिक भी कठिनाई नहीं पड़ती। वह जिस आनन्द तथा मरलता से उसे खाता है उसके आनन्द को दाल भात को खानेवाला ही जानता है। ऋषि ने अपने जीवन में ऐसा अनुभव न जाने कितनी बार किया होगा, माय ही अन्य व्यक्तियों ने भी। पर ऋषि की उस नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा द्वारा उनका उपयोग यहाँ ब्रह्म की शक्ति के प्रदर्शन में जिस विचित्रता के साथ हुआ है वह विचित्रता ऋषि के इस उपमा-औचित्य को दाद देती है।

अगुष्ठमात्र पुरुषोऽन्तरात्मा

सदा जनानां हृदये सनिविष्टः ।

त स्वाच्छरीरात्प्रवृहेर्भृंजादिवेपीनां धर्मैष

त विद्याच्छूयममृतं त विद्याच्छूनममृतमिति ॥

यहा जीव के हृदय में स्थित अगुष्ठमात्र अन्तरात्मा को हृद्देश से पृथक् करते के लिए जिम ढग में उपमालवार का सहारा लिया गया, वह एक ऋषि के लिए उचित है। मूँज से सीक को जिन्होंने पृथक् होते देखा होगा वे समझ गए होंगे कि यद्यपि मूँज सीक पर चिपकी रहती है, तथापि जब उसका प्रयत्न कर लिया जाता है तो सीक का वह शुद्ध रूप सामने आ जाता है। इसी प्रकार वह अन्तरात्मा शरीर से सम्बन्धित होता हुआ भी मरना से पृथक् किया जाता है। इस प्रकार सीक और मूँज की उपमानता का औचित्य इस मन्त्र में प्राण फूँक रहा है।

अथा इव नाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

ऋचो यजूषि सामानि यज्ञं सप्त ब्रह्म च ।

—प्रश्न० २ ६

आज के युग में भले ही यह बात अटपटी लगे कि एक बवि टम प्रकार बेलगाड़ी के अगो के उपमेय-उपमान भावों को ग्रहण करके पाठकों का कोई वस्तु समझाए। पर उस समय का ऋषि जब न मोटर थी न कार, यदि नित्यप्रति, सभी के जीवन में प्रयुक्त होने वाली बेलगाड़ी के अगो द्वारा प्राण तथा अन्य वस्तुओं के अगाधिभाव को समझाता हुआ दीव्यता है तो वह औचित्य ही है। नाभि में अरे जिस ढग में जुड़े रहते हैं, उग पर आधारित होने है, उसी प्रकार प्राणों पर अन्य वस्तुओं की आधारता का उपमा द्वारा वर्णन पूर्णतः औचित्य का निर्वाह करता हुआ अर्थ में विच्छिन्ति पैदा कर रहा है।

यथोर्णनाभि मृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोपधव सप्तमन्ति ।

यथा सप्त पुर्यात्वेऽश्लोमानि तथाऽक्षरात्सप्तवतोऽह विश्वम् ॥

—मु० १ १ ७

यद्यपि भबड़ी द्वारा जालावनाया जाना सभी के द्वारा देखा जाता है, पर अक्षर शब्द से विश्व की उत्पत्ति होने की बात को इस प्रकार समझाया जाना एक अपूर्वता है। शब्द द्वारा मृष्टि की उत्पत्ति बताने के लिए जो उपमा बूँदी गई है, यह एकदम स्वस्थ के अनुपपत्ति होने में, इसमें पूर्णतः औचित्य का निर्वाह हो रहा है। एवमात्र चेतन ग्रह मृष्टि की उत्पत्ति कैसे करता है? वेदांती इस दिशा में विवर्तवाद का नारा उगाते तो हैं, पर समझाया है ऋषि ने। जिस प्रकार जाले के

प्रति मकड़ी चैतन्य की दृष्टि से निमित्त कारण है, और निमित्त कारण होने से उसने चेतनता आदि गुण जाले में नहीं आते, और शरीर रूप से उपादान कारण होने से, शरीर के जड़ता इत्यादि गुण उसमें आ जाते हैं, इसी प्रकार ब्रह्म चैतन्य की दृष्टि से ससार के प्रति निमित्त तथा भाषा की दृष्टि से उपादान कारण है। इस प्रकार इतने गम्भीर अर्थ को केवल मकड़ी की उपमा से समझाने में ऋषि ने जिस अलंकार-औचित्य को अपनाया उससे दार्शनिकता के साथ साथ साहित्यिकता भी इस मन्त्र में अपना विशिष्ट स्थान बना गई।

अहं बृक्षस्य रेखिवा । कीर्ति पृच्छ गिरेरिव । ऊर्ध्वं पवित्रो बाजिनीव
स्वमृतमस्मि । इविण्णं सवचंसम् सुमेधा अमृतोऽस्मि ।

—सू० १ १०

यहां त्रिशकु का वेदानुबचन आत्मा की श्रृंखला तथा गरिमा को पर्वत के शिखर के उपमान से वर्णित पाठको के सामने उसका चित्र-सा खींच रहा है। प्रथम तो पर्वत ही विशाल होते हैं, उसमें भी उसके शिखर हो तो उनकी ऊंचाई और भी अधिक होगी ही। उपमालंकार का कितना सुन्दर औचित्य ऋषि की बुद्धि में कल्पित हुआ है।

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिराणं श्रोत स्वर्णेषु चाग्निः ।

एवमात्मात्मनि गूह्यतेऽसौ सत्येनैव तपसा योज्युपरयति ॥

—श्वे० १ १५

तिलों में तेल, दही में घी, स्रोतों में जल तथा काष्ठ में अग्नि की उपमा से आत्मा की आत्मा में सत्ता बताना ऋषि की अपनी सूत-बूझ है। उदाहरणों की यह समतुल्य दर्शन जैसे नीरस विषय को भी साहित्यिकता प्रदान कर सहृदयों को इस ओर उन्मुख कर रही है। अतः उपमानों का यह औचित्य कमनीय कान्ता के कलेवर पर यथास्थान पहने अलंकारों की छटा की याद दिनाता है।

त्रिरुन्नत स्थाप्य सप्त शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सनिवेश्य ।

ब्रह्मोद्भवेन प्रतरेत विद्वान् श्रोतांसि सर्वाणि ध्यायन्वाहनि ॥

—श्वे० २ ८

यहां ब्रह्म रूपी उडुप (नौका) द्वारा भयानक श्रोतों को पार करने का उपदेश सासारिक व्यक्तियों के लिए सुन्दर औचित्य का निर्वाह

कर रहा है। यहाँ स्रोतों को पार करने के लिए उडुप का सहारा लेना उचित रूप से कहा गया है। क्योंकि स्रोत का तात्पर्य है छोटी नदियाँ, और उडुप छोटी नौका होती है। अतः स्रोतों को पार कराने में उडुप समर्थ हो जाती है तो सासारिक बंधनों से विरक्ति दिलाने में आत्मज्ञान समर्थ हो जाता है।

प्राणानुप्रवोद्वेह स युक्तचेष्ट क्षीर्णे प्राणे नासिकयोच्छ्वसति ।

दुष्टारब्धयुक्तमिव बाहमेन विद्वान्मनो धारयेताप्रभक्त ॥

—श्वे० २ ९

यहाँ मन को वश में करने का उपदेश है। आहार-विहार द्वारा निरोध कर जब प्राणशक्ति क्षीण हो जाय, तब मन की वृत्तियाँ शीघ्र ही वशीभूत हो जाती हैं। उसके लिए दुष्ट अश्व का उपमान वडे औचित्य के साथ दिया गया है। विगड़े हुए घोड़े को कैसे वशीभूत किया जाता है, यह एक सारथि वडी अच्छी प्रकार से जानता है। उस को भी पहले शरीर में क्षीण करना पड़ता है। इस प्रकार दुष्ट अश्व को वश में करने के समान मन का वश में करने की बात को जिम ढंग से प्रस्तुत किया गया उससे यहाँ और भी अधिक चमत्कार झलक रहा है।

यथैव विन्ध्व मृदयोपलिप्ता तेजोमय आजते तत्सुधीतम् ।

तडात्मतत्त्व प्रसमीक्ष्य देहो एक कृताथो भवते भीतशोक ॥

—श्वे० २. १४

—मूर्तिवा से मलिन हुआ सोने या चाँदी का टुकड़ा शुद्ध करने पर जैसे अपने शुद्ध स्वरूप को धारण कर लेता है, इसी प्रकार देहधारी जीव आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करके कृतकृत्य हो जाता है।

मच्चमुच शरीर क्या है? एकमात्र मूर्तिवा। इस प्रकार शरीर के लिए मूर्तिवा तथा जीव के लिए सुवर्ण इत्यादि का प्रतीक देना ऋषि की अपनी कवित्व शक्ति का मामर्थ्य है, जिमने मामने वेदान्त के गहन तत्त्वों को समझाने के लिए इस प्रकार के उपमान उचित रूप से ग्रहण किया उपस्थित हो रहे हैं। मच बात तो यह है कि अन्य वस्तुओं पर भले ही मिट्टी का प्रभाव हो जाय पर सुवर्ण पर मिट्टी का कदापि प्रभाव नहीं होता। मिट्टी में निज सुवर्ण के टुकड़े को साफ करो तो वह एकदम अपने चमकीले स्वरूप को धारण कर लेता है। इसी प्रकार देह के

अन्दर विद्यमान होने पर भी जीव पर देह के गुणों का कोई प्रभाव नहीं। ऋषि ने इस सरल उपमेय-उपमान भाव के द्वारा जिस गहन तत्त्व को समझाने का यत्न किया उससे यहाँ अर्थ में साहित्यिकता का पुट तो आया ही है, उसके साथ-साथ यह औचित्य का भी सुन्दर उदाहरण बन गया।

धृतात्पर मण्डमिवान्तिमुक्षम ज्ञात्वा शिव सर्वभूतेषु भूदम् ।

विश्वस्यैक परिवेष्टितार ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वधारां ॥

—श्वे० ४ १६

यहाँ ऋषि द्वारा प्रयुक्त धृत और मण्ड के समान शिव का स्वरूप उपस्थित करना एक विशेषता रखता है। नित्य प्रति गृहस्थियों द्वारा दधि इत्यादि के मग्नन तथा मक्खन से घी निकालने की प्रक्रिया देखी जाती है। पर, ऋषि ने उन्हीं उपमानों से जिस गहन तत्त्व को जिस औचित्य से समझाया वह ज्ञानियों के अनुकूल होने के कारण हृदय को चमत्कृत कर देने वाली अपूर्व ही चारुता को प्रकट करता है।

५२४. विशेषण औचित्य

तस्मै तुष्य निदधावेतद्देहेति । तदुपप्रेषाय सर्वजवेन तन्व शशाक वायु ॥ तत एक निश्चूते नैतदशक विज्ञातु यदेतद्यसमिति ॥

—केन० ३. ६

जब यक्ष अग्नि के सम्मुख एक तिनका जलाने के लिए डालता है, और कहता है कि 'ले, जला इसको', अग्नि एकदम बड़े जोर के साथ उस तिनके के पास जाती है। यहाँ सर्वजवेन क्रियाविशेषण ने अग्नि की जो दुर्गति की, वास्तव में अपने मुँह से अपनी घड़ाई करने वालों की ऐसी दुर्गति का वर्णन उचित ही है। ऋषि केवल जवेन इतना मात्र भी कह सकता था, पर सर्व ने उसके साथ जुड़कर इस दिशा में औचित्य का जो निर्वाह किया और अर्थ को चमत्कारपूर्ण बनाया तथा अग्नि के सामर्थ्य को तुल्य बताया, उसका कोई अन्य उदाहरण नहीं। तिनका-मात्र जलाने के लिए जोर से ही नहीं, पूरे जोर से आग का उसके पास जाना उसके लिए लानत के सिवाय और क्या हो सकता है? ऋषि को यही बताना अभिप्रेत है। इसी में विशेषण का औचित्य पूर्ण है।

मा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीपध्वमिति ।

ततो हैव त्रिदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥

—वेन० ४. १

अग्नि, वायु तथा इन्द्र के पारस्परिक झगड़े में हैमवती देवी द्वारा मध्यस्थता करने पर उस द्वारा सुनाए गए निर्णय की मानो यह प्रति-
लिपि है। ब्रह्मणो विजय — 'ब्रह्म की विजय हुई है' इतने मात्र से ही निर्णय
दिया जा सकता था। पर ऋषि ने सोच समझ कर यहाँ एतद् पद को
विजये का विशेषण बनाकर माना अग्नि इत्यादि के मुँह पर औचित्य
की चपत मारी है कि बिना एतद् विशेषण जोड़ इनका अपमान नहीं
हो सकता। अतः एतद् विशेषण द्वारा जिस औचित्य से चमत्कारपूर्ण
अर्थ का प्रादुर्भाव हुआ, वह इस प्रकार है कि 'यह ब्रह्म की ही विजय
है। यह हमारी ही विजय है, यह हमारी ही महिमा है, यह तो तुम्हारा
मिथ्या अभिमान ही है।'।

तदेतत् प्रियं पुत्रात्प्रेमो वित्तात्प्रेयोऽयस्मान्मर्त्यस्मादन्तरतरं यदयमात्मा ।
स धोऽयमात्मानं प्रियं क्षुधाया क्षुधानं प्रियं रोत्स्यतीतीश्वरो ह तर्पय स्मादात्मान-
मेव प्रियमुपासीत । स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुक्
भवति ।

—यु० १ ४. ८

जो आत्मान्मि प्रिय की उपामना करता है, वह प्रमायुक् होता
है। यहाँ प्रमायुक् विशेषण जिस औचित्य के माध्यम से ऋषि द्वारा रचा
गया, वह एक विशेष ही अर्थ की प्रतीति करा रहा है। प्रमायुक् में अक
प्रत्यय है, जो तच्छील अर्थ में होता है। ऐसी स्थिति में पदार्थ अपने
स्वभाव का एकदम त्याग नहीं सकता, इसलिए प्रमायुक् नहीं होता।
यहाँ प्रमायुक् अर्थ में प्राणादियाँ का आत्यन्तिक भ्रमण विचक्षित नहीं,
अतः यहाँ समझना चाहिए कि वे दीर्घजीवी हो जाते हैं। इस प्रकार
यह छाटा सा विशेषण बड़ा औचित्य से विम्वृत ज्ञान का द्योतक होने से
यहाँ चमत्कृत पंदा कर रहा है।

या ते यद् मिथा तनूरघोरान्पापकाशिनो ।

तथा नस्तनुवा शान्तमया गिरिस्तत्ताम्रिचावसीहि ॥

—श्वे० ३. ५



यहां तब शिवा और शान्त विशेषण है। वे पूर्णतः इस प्रसंग में श्रीचिन्मय का निर्वाह करते हुए भक्तों के सात्त्विकता प्रदान कर रहे हैं कि ठीक है कि वह पर्वत पर रहता है, पर वहां रहते हुए भी वह कठोर नहीं हो गया, अपितु पर्वत पर रहते हुए भी जन-जन के कल्याण में रत रहता है। वह रुद्र अवश्य है, पर उसकी मूर्ति शिवा है घोर नहीं, अधोरा है। अधोरा से तात्पर्य अविद्यादि से रहित अविद्यादि से रहित होने पर काम, मोघ, द्वेष इत्यादि भावों से रहित होने से कल्याणमयी है। इसलिए निरिक्ता भी कहा गया है। इस प्रकार विश्व का कल्याण चाहने वाले ऋषि द्वारा उस रुद्र के लिए इस प्रकार के विशेषण, उसके (रुद्र के) गुणों में चमत्कृति प्रदान कर रहे हैं। अतः विशेषणश्रीचिन्मय का यह सुन्दर उदाहरण चमत्कृत्याघायक है।

५२.५ लिंग-श्रीचिन्मय

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्या जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्यस्विद धनम् ॥

—ईश० १

यहां यत् किञ्च में सामान्य में नपुंसक लिंग का प्रयोग समग्र ब्रह्माण्ड के चित्र को उपस्थित कर रहा है, जो कि पुलिंग अथवा स्त्रीलिंग के प्रयोग से सम्भव न था। इस प्रकार जिस चमत्कारपूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति यहां हुई है वह लिंग के श्रीचिन्मय का ही परिणाम है।

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽमीत्यग्निर्वो अहमस्मीत्यवधीत्यातवेदा वा महमस्मीति ।

—केन० ३. ४

यहां तद् अभ्यद्रवत् में तद् यक्ष के लिए सर्वनाम है। यक्ष पुलिंग है। पर यहां ऋषि ने पुलिंग का प्रयोग न करके नपुंसक का सामान्य में प्रयोग किया है। ज्योंही अग्नि के लिए कहा गया कि 'देखो सामने जा वस्तु खड़ी है तुम उसके पास जाओ', अग्नि उसके पास गई। निश्चय है कि अग्नि को यह ज्ञान नहीं था कि यह कोन है। यदि उसको यह ज्ञान होता कि वह इतना सामर्थ्य युक्त है तो उसके सामने डींग न मारती कि 'मैं केवल अग्नि ही नहीं अपितु जातवेदा हूँ।' ऋषि ने उसकी इस अनभिज्ञता को प्रकट करने के लिए यहां सामान्य में नपुंसक लिंग का प्रयोग किया है, जो कि आपाततः भले ही

विशिष्टार्थवाची प्रतीति न हो रहा हो, पर जब सहृदय इस पर विचार करते हैं तो निश्चय ही उनको इसमें लिंगौचित्य के कारण चमत्कृति-पूर्ण भाव की प्रतीति अनुभव होती है।

तस्मिन्स्त्वयि किं धीर्यमित्यपोद सर्वं दहेयं यद् इह पृथिव्यामिति ।

—वेन० ३ ५

यहां यक्ष द्वारा पूछे जाने पर कि 'वताग्रो वितनी शक्ति रखती हो?' अग्नि दनदनाते हुए उत्तर देती है, 'ससार में जो कुछ है सब को जला सकती हूं।' यहा माना अग्नि ने इसमें अपना अपमान समझा कि हमने (यक्ष ने) भुक्त से ऐमा प्रश्न क्या किया। अतः अपने पराक्रम को बताने के लिए यद् इहम् पद का प्रयोग अग्नि द्वारा किया गया। अर्थात् ससार में जो कुछ है मेरे लिए वह तुच्छ है, नगण्य है, मैं सभी को समान दे सकती हूं। यहा तब कि तुम (यक्ष) भी इस समय इस पृथिवी पर ही विद्यमान हो, अतः तुम्हारी भी उसी में गणना की जा सकती है, वस समझ लो कि तुम्हारे समेत सब कुछ जला सकती हूं। इस प्रकार इस नपुमक लिंग में प्रयुक्त यद् इहम् पद से जिस अर्थ-वैचित्र्य की प्रतीति हा रही है, वह श्वात अग्न्य लिंग में प्रयुक्त पद द्वारा न होती। अतः अग्नि के पहवार को व्यक्त करने में यह नपुमक में प्रयुक्त पद पूर्ण सहायता प्रदान करने अपना स्थान उचित रूप से बनाए हुए है।

५ २ ६ वचन औचित्य

वेनेदित पतति प्रेदित मन, केन प्राण प्रपद्य प्रीति युक्त ।

वेनेदितं वाचनिमां वरति चक्षु ओन्न न ज देवो युनक्ति ॥

—वेन० १ १

यहा प्राण शब्द को व्यवचन में ऋषि द्वारा बड़े औचित्य के साथ प्रयुक्त किया गया है। भले ही कवियों को प्राण शब्द में बहुवचन अपेक्षित रहता हो, पर ऋषि को यहा प्राण शब्द की बहुवचनता अनौचित्य के मार्ग पर गींच लायेगी। ऋषि उम तत्त्व की जिज्ञासा उत्पन्न कर रहा है जो शरीर के विभिन्न अंगों का प्रेरित करना है। उनमें में प्राण भी एक है। पर अन्य प्राण—अपान, व्यान, उदान, समान—तो किसी प्रकार धारण किए भी जा सकते हैं, किन्तु वह प्रधान प्राण, बिना चेतन के धारण नहीं किया जा सकता। इतिहास यहा पाचों प्राणों की स्थिति

के विषय में प्रश्न न करके एकमात्र प्रधान प्राण के विषय में प्रश्न होने से प्राण में एकवचन उचित है, जो कि बहुवचन की अपेक्षा एकवचन में ही ऋषि के भाव को अभिव्यक्त करने में समर्थ होकर चमत्कारपूर्ण अर्थ की प्रतीति करा रहा है ।

तस्मिन्सर्वत्र किं बोधयितुं पीड सर्वं श्रेयं यदिदं पृथिव्यामिति ।

—केन० ३ ५

यहां यह इदम् में निग-गत वैचित्र्य तो है ही, पर वचन-गत वैचित्र्य उसमें चार चाद लगा रहा है । नपुमकलिग में प्रयुक्त होने पर भी यदि यानि इमानि इस प्रकार बहुवचन का प्रयोग हो जाता तो मानो काव्य की आत्मा का ही हनन हो जाता । बहुवचन में वह भाव तथा वह उक्ति-वैचित्र्य कहा, जो एकवचन में निहित है । अतः वचनगत औचित्य ने कवि के उस भाव को और भी विचित्रता के साथ प्रकाशित कर दिया जिसको ऋषि यहां दिखाना चाहता था ।

इमां रामाः सरथा सतूर्वा न हीदृशा सम्मनीया मनुष्यं ।

आभिर्मत्प्रताभि परिवारयस्व नचिकेतो मरणं याजुप्राप्ती ॥

—कठ १ २५

यहां यम और नचिकेता का सम्वाद है । नचिकेता ने यम से आत्म-तत्त्व बताने के लिए कहा और सोचा कि आज ही तो मौका है जब इनका रहस्य खुलेगा कि यह आत्मा मरने के बाद कहा जाता है । पर यम इस रहस्य को न बताकर नचिकेता को इसके विभिन्नय में ससार के सभी पदार्थों को देने के लिए तैयार है । जब उसने देखा कि नचिकेता कुछ भी नहीं चाहता तो यम ने अपना एक तीर और चलाया, वह था अप्सराओं की प्राप्ति । कौन ऐसा होमा जो ससार में रह कर शृङ्गार से वंचित हो । नचिकेता भले ही बच्चा है, पर यमराज यह भली भांति समझता है कि उसने युवा भी होना है । अतः यम अपने प्रासाद में उपस्थित अप्सराओं की ओर संकेत करता हुआ नचिकेता में कहता है—
'देख ये सामने बंटी हुई हसीना हैं, तू जितनी चाहे ले ले । ये एकमात्र मेरे द्वारा ही उपभोग्य हैं, और किसी के द्वारा नहीं ।'

यहां यम ने इमा रामा में बहुवचन का प्रयोग किया है। यह यम की उदारता नहीं कि वह एक के स्थान में अनेक अप्सराएं देना चाहता है, अपितु यह उस समय का औचित्य है। यम ने उसकी इच्छा पर छोड़ दिया कि एक नहीं, दो नहीं, अपितु जितनी चाहे अप्सराएं ले जा। इसमें यम की उदारता प्रकट नहीं हो रही, अपितु आत्म-तत्त्व को न बताने की उसकी भावना प्रकट हो रही है। उसके दिल में मलिनता है। इस प्रकार यहां बहुवचन जिस चमत्कारपूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति कर रहा है, उसको एक या द्विवचन प्रकट नहीं कर सकता था।

एको हि रदो न द्वितीयाय तस्युयं इमास्लोकानोक्त इमनोमि ।

प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सञ्चुकोच्चान्तवाले ससृज्य विश्वा भुवनानि गोपा ॥

—श्वे० ३ २

यहां भुवनानि में बहुवचन ब्रह्म की उस सामर्थ्य को चमत्कारपूर्ण ढंग से पाठको के सामने उपस्थित कर रहा है, जिसे ब्रह्म की अद्वितीय शक्ति का भी बोध हो और पाठको के हृदय में चमत्कृति भी उत्पन्न हो।

५ २ ७ प्रत्यय-औचित्य

गर्भं नु सन्नन्वेपामवेदमह देवाना जनिमानि विश्वा ।

शत मा भुर आयसीररक्षन्ध श्वेनो जवता निरसीपमिति ॥

गर्भं एवंतच्छपानो वामदेव एवमुवाच ॥

—ऐत० २. १ ५

इस मन्त्र में कहा है कि गर्भ में शयन करता हुआ ही वामदेव बोला। यहां च शीङ् + शानच् का शयान रूप प्रत्यय-गत औचित्य है। प्रथम तो यह वैशिष्ट्य है कि कोई गर्भ से ही ऐसा बोले। साधारणतः तो बच्चे गर्भ में बाहर आकर बहुत समय तक नहीं बोलते। पर मान लिया कि उनमें विलक्षणता थी, इसलिए गर्भ में ही बोल पड़े। वपिल को भी वृद्ध ऐसा ही ज्ञान गर्भ में ही गया था। पर यहां तो गर्भ में भी वे 'मो-मे' रह थे। ऋषि यहां ज्ञानच् का प्रयोग करके आलोचना में बच गया। व पूरी तरह गा नहीं रह थे, अपितु मो-मे रह थे। इस प्रकार वामदेव की विनिष्टता बताने के त्रिण ऋषि द्वारा प्रयुक्त शानच् प्रत्यय निष्पन्न गन्ध यहां एक विनयान अर्थ की प्रतीति करा रहा है।

५.२.८. निपात-औचित्य

सा ग्रहोति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विनये महोपश्रवमिति । ततो ह वै विदाम्बकार ग्रहोति ॥

—केन० ४ १

यहा वा निपात एव के अर्थ में प्रयुक्त है । चाहे कुछ हो एक बार तो इस वा ने ब्रह्म का पलड़ा भारी तथा देवताओं का सिर नीचा कर ही दिया । इस मन्त्र में ऋषि द्वारा प्रयुक्त वा निपात देवताओं का पतन तथा ब्रह्म का यश दिखाता हुआ द्विगुणित अर्थ की प्रतीति करा रहा है कि ब्रह्म की ही यह विजय है, न कि तुम्हारी अर्थात् देवताओं की ।

दूतबालाहिर्हानूचानो गार्ग्य आस । ॥ होवाचाजातशत्रु कारयम—ब्रह्म ते श्रवणीति । १ होवाचाजातशत्रु—सहस्रमेतरया वाचि बराः, जनको जनक इति वै जना धावन्तीति ॥

—बृ० २ १ १

यहा पर वै निपात जनक की प्रसिद्धि को उतनी ही विचित्रता के साथ प्रकट कर रहा है जितनी प्रसिद्धि जनक शब्द की द्विरुक्ति । यह ठीक है कि जनक दानी के रूप में प्रसिद्ध हैं, पर वै ने उसमें सोने में मुग्ध बाला कार्य करके जिस चमत्कारपूर्ण ढंग में औचित्य का निर्वाह किया, सहृदयों का हृदय उससे आप्लावित हो उठता है ।

पराऽऽमातत्पेन तु ब्रह्मतरव दीपोपमेनेह युक्त प्रपश्येत् ।

अज भुव सर्वतरवविमुक्त ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपापैः ॥

—श्वे० २ १५

यहा आत्म-चत्त्व से ही परमात्मा को प्राप्त किया जा सकता है, इस भाव की अभिव्यक्ति में तु निपात ने ऋषि को सहायता की है । स्यात् ऋषि को तु रखते समय स्वयं भी इसका ध्यान न रहा होगा । तु निपात ने उनके मुँह पर भावों चपेट मारी है, जो परमात्मा को आत्मा के अतिरिक्त मन व इन्द्रिय से जानने की चेष्टा करते हैं । अतः तु निपात ने जिस चतुराई से मैदान में आत्मा के विरोधियों को दूर भगाया उससे औचित्यपूर्ण जिस अर्थ की प्रतीति यहा हो रही है, वह क्या बिना तु निपात के संभव थी ?

अज्ञात इत्येष कश्चिद्भूय प्रपद्यते ।

यद् यत्ते दक्षिण मुख तेन मां ग्राहि नित्यम् ॥

—श्वे० ४ २१

यहाँ अज्ञात के साथ इति निपात अपना पूर्ण सौहार्द दिखाता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है। यह ठीक है कि ग्रह अज्ञात है, पर इति न यहाँ उसकी सहायता की है। अज्ञात को किसी के साथ लटना नहीं पड़ा कि एकमात्र मैं ही अज्ञात हूँ, और अज्ञात हाने से नित्य हूँ। प्रपितु इति न यह सिद्ध कर दिया कि 'आत्मा ही एक मात्र नित्य है, अन्य सब कुछ अनित्य'। अतः इति जिम् ओचित्य में अपना कार्य सम्पादन कर रहा है, उससे उसकी उपस्थिति पाठकों के मन को रजित करने वाली है।

स्वमात्मके कवयो ब्रह्मन्ति काल तयाऽये परिगृह्यमाना ।

देवार्णव महिमा तु लोके येनेद आम्बते ब्रह्मचक्षुः ॥

—श्वे० ६ १

यहाँ महिमा के साथ विराजमान तु निपात उचित म्यान पर पड़ा हुआ अपि द्वारा वर्णित ब्रह्म की शक्ति का ओचित्य प्रदर्शित कर रहा है।

ठीक है इस मसार के प्रति क्या कारण हो सकता है, इसके उत्तर में सभी अपने अपने विचारों के जगत में निचरण कर सकते हैं। काल स्वभाव इत्यादि का हम मैदान में खींच कर लाया जा सकता है। पर यहाँ तु निपात इसका निणय कर देता है। यद्यपि भगवान् सामर्थ्यवान् है, पर मन्त्र यह है कि यहाँ तु न भगवान् के उस सामर्थ्य को, जिसे मैं उसी मसार के प्रति कारणता मिद्ध हो जाय, अत्यधिक सहायता प्रदान की है कि 'यह वह कुछ गान पर यह तो दन की ही महिमा है कि वह हम चक्षु का चक्षु रहा है।' इस प्रकार उचित म्यान पर प्रयुक्त यह तु निपात सभी विवरणों का दूर करके ईश्वर मात्र के लिए मैदान गाँव कर रहा है जिसमें यहाँ अर्थ में एक विच्छिन्नता की आ गई है।

५२.६ नाम-ओचित्य

अब्जंमूलोऽवाकशात् एषोऽश्वत्थः सनातनः ।

तदेव शुक तद्ब्रह्म तदेवाऽमृतमुच्यते ।

तस्मिंस्तोका भिता सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।

एतद्वै तत् ॥

—कठ० ६ १

यहाँ अश्वत्थ नाम पिप्पल के लिए तथा इसके साथ-साथ ससार के लिए दिया गया है। यह नाम ससार की अनित्यता को जितने उचित ढंग से प्रतीति करा रहा है, स्यात् ही अन्य कोई नाम करा सके। श्व तिष्ठतीति 'श्वत्थः', न श्व तिष्ठतीति 'अश्वत्थः'। कितनी सूत्रबुद्धि से यह नाम प्रपनाया गया है। ससार को यही तो अनित्यता है कि वह कल रहे या न रहे। वौद्धों ने तो उसको प्रतिपल ही बदलने वाला माना है। पर अश्वत्थ नाम ने जहाँ ससार की परिवर्तनशीलता चोखी की, वहाँ वौद्धों के हाथ से उसको बचा लिया, क्योंकि इस अश्वत्थ के मूल, शाखा इत्यादि विद्यमान हैं। अतः अश्वत्थ नाम ससार की जिम चमत्कारपूर्ण ढंग से व्याख्या कर रहा है, उसमें ऋषि की उस भावना का ज्ञान होता है कि वह ममार को किंग दृष्टि से देखना है, तथा कितनी सरलता से सासारिक जनो को उसका ज्ञान कराता है।

यामियु गिरितान्त हस्ते विषर्ष्यस्तवे ।

शिवो गिरिः तां कुर्वन्मा हिंसीः पुरुष जगत् ॥

—श्वे० ३. ६

यहाँ शिव के लिए गिरि नाम दिया गया है। गिरि आयते इति गिरिः। जो उन पहाड़ों की भी रक्षा करने वाले हैं जो कि जड़ हैं, तो फिर वे शस्त्र अपने भक्तों की रक्षा क्यों नहीं करेंगे, अपितु अवश्य करेंगे। लोक में भी जो पत्थर-हृदयो तक की सहायता करता हो, उनकी उत्पान-कामना करता हो, वह सहृदयों की भला सहायता न करेगा? इस प्रकार गिरि नाम शस्त्र के कार्य के ओचित्य को जिस ढंग में प्रस्तुत कर रहा है उससे अर्थ में एक विशिष्ट चमत्कार आ गया है।

५२१० क्रिया-भोचित्य

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुजीथा मा गृध कस्यस्त्विद् धनम् ॥

—ईश० १

ऋषि ने जिम खूबी के साथ यहा गृध् धातु को उचित स्थान पर प्रयुक्त किया है, उससे मन्त्रार्थ में महदयो के हृदय को ग्राह्यादित करने वाली चमत्कृति दिखाई देती है। यहा ✓याच इत्यादि धातु का भी प्रयोग किया जा सकता था पर अन्य धातुओं में ऋषि के अभिप्रेत अर्थ का प्रकट करने की सामर्थ्य ही कहा। ऋषि का तो अभिप्राय है कि भागना तो दूर रहा, त मागने की इच्छा भी मत कर। अर्थात् किमी दूसरे के धन की इच्छा करना भी अज्ञान है, दोष है।

यमनसा न भ्रुते वेनाहर्त्मनो मतम ।

सदेव ब्रह्म त्व विद्धि नेव यदिदमुपासते ॥

—केन० १ ६

यहा भ्रुते का मनस के साथ उचित प्रयोग अर्थ में विच्छिन्ति पैदा कर रहा है। ✓जा इत्यादि धातुओं में यहा उम अर्थ को उत्पन्न करने का वह सामर्थ्य रहा जो भ्रुते में प्रतीत हो रहा है। यद्यपि मन का काम मनन करना है, उमका वह धर्म है पर आत्मा के सामने श्रीरों की ता क्या, मन भी अपने काय को नहीं कर सकता। ज्योही वह आत्मा को जानने की चेष्टा करेगा स्वयं समाप्त हो जायेगा। क्योंकि, आत्मा सर्वोपरि है और यहा तब पहुँचने पहुँचते सब की सत्ता समाप्त हो जाती है—इसी अर्थ का प्रकट करने के लिए ऋषि द्वारा भ्रुते का प्रयोग बड़ी सूक्ष्म के साथ किया गया है।

तदभ्यद्रवसमभ्यवदत्तबोऽग्नीत्यग्निर्वा अहमस्मीयन्नमीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ।

—वेन० ३ ४

परिचय ना मभी एव दूमर वा पूछन है, पर पूछने का भी करना अपना दम होना है। जिमने लिए हृदय में पर्याप्त स्थान हो उमने निर दूमरों को प्रकार की त्रिया और जिमने लिए उपेक्षाभाव या ज्ञानभाव हो उमने लिए और ही त्रिया का प्रयोग होता है।

यहां भी जब अग्नि यक्ष के पास गई तो वह पूछती है, 'तू कौन है ?' यहां मध्यमपुरुष एकवचन की क्रिया अग्नि के निरादर के लिये प्रयुक्त की गई, जो कि ऋषि के भाव को बड़े चमत्कारपूर्ण ढंग से प्रकट कर रही है ।

इसी प्रकार, इस मन्त्र में अन्यद्भवत् क्रिया अग्नि के मन की व्याकुलता प्रकट कर रही है । ऐसा नगता है अंतो वह बड़ी तेजो से दौड़कर गई हो । वास्तव में ऋषि को यहां अग्नि के मन की व्याकुलता बताानी ही इस क्रिया से अभिप्रेत है । अन्यथा गमनार्थक अन्य धातुओं में अग्नि की व्याकुलता प्रकट करने का वह सामर्थ्य कहा ? अतः ऋषि किसी दूसरी धातु का यहां प्रयोग करके अपने को व्याकुल नहीं बनाना चाहता ।

तस्मै तृणं निदधावेतद्देहि । तदुपश्रेयस्य सर्वजनेन । तन्न शशाक
रन्ध्रम् । स तत एव निवृत्ते । नैतदशक विज्ञातु मदेतद्यशमिति ॥

—केन० ३. ६

देवारी अग्नि यक्ष द्वारा फेंके गए एक छोटे से तिनके को जलाने के लिए बड़े वेग के साथ एकदम उसके निकट भी गई और पूरा जोर लगाने पर भी तिनके को नहीं जला सकी—तन्न शशाक । अग्नि ने कितना जोर लगाया होगा, पर तिनके का कुछ न बिगाड सकी । शशाक इस अर्थ की पूर्णतः प्रतीति करा रहा है । अतः उचित स्थान पर प्रयुक्त यह क्रियापद चमत्कृतिपूर्ण अर्थ की प्रतीति करा रहा है ।

इसी प्रकार केन० ३. ८ तथा ३. ११ में भी क्रियाचित्य है ।

अथाप्यात्म मदेतद् गच्छतीष व मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभौक्षण सकल्पः ।

—केन० ४. ५

कितने आश्चर्य की बात है कि जो ऋषि अभी अभी, बार-बार पीछे कई मन्त्रों में अभि+द्भ् धातु का प्रयोग करता चला आ रहा था (द्रष्टव्य : केन० ३. ४, ३. ८, ३. ११) वही अब उसको छोड़कर गम् धातु को अपना नेता है । किन्तु यहां गम् धातु का जो औचित्य है, वह द्भ् या अन्य धातु का कहा । मन ब्रह्म की ओर दौड़कर नहीं जाता । उसकी क्या सामर्थ्य जो वह दौड़कर ब्रह्म के समीप पहुँच जाय ।

वह तो 'जाता हुआ-मा' प्रतीत हो रहा है। अभी बेचारा प्रयत्न कर रहा है। नफ़नता तो अभी बहुत दूर है। यहाँ मन के उस शनं-शनं ब्रह्म की ओर उन्मुक्त होने के व्यापार की ओरित करने के लिए ही गन् धातु का प्रयोग किया गया है जो कि इस मन्त्र में चमत्कृतिपूर्ण प्राण डाल रहा है।

इसी उपनिषद् के प्रथम मन्त्र में कवि ने मन के साथ गन् धातु का प्रयोग किया था। वहाँ मन के अतिरिक्त किसी दूसरे (आत्मा) की मत्ता दिखाना ऋषि का अभिप्राय था। अतः पत्ति क्रिया का प्रयोग किया। क्योंकि गन् धातु में जो गिरने का भाव है, उसमें किसी दूसरी वस्तु की कारणता अवश्य रहती है। भले ही वह कारण स्पष्ट ज्ञात न हो रहा हो, वहाँ प्रेरणात्मक वस्तु अवश्य रहेगी। अतः केन प्रेरित पतति मन इस प्रकार कहा गया। किन्तु यहाँ गन्धर्वीव मन में मन स्वयं जाता हुआ प्रतीत हो रहा है। मन का ब्रह्म की ओर बलात् प्रेरित नहीं किया जा रहा है। उसमें अब ऐसी स्वाभाविकता आ गई है कि बाह्य विषयों से हटकर आत्मा की ओर प्रवृत्त हो रहा है। यम का इस प्रकार स्वतः ही आत्मा की ओर प्रवृत्त होना ज्ञान-प्राप्ति में सहायक होना है। इस प्रकार गच्छति क्रियापद जिम औचित्य के साथ यहाँ रखा गया है, उसी विलक्षणता के साथ वह प्रवृत्ति अर्थ यहाँ प्रकट कर रहा है।

यस्याग्निहोत्रमहर्षमपीर्जमासमवातुर्मास्यमनाप्रयणमतिविर्जितं च ।

अदृतमर्चस्वदेवमविधिना हुनमासप्तमास्तस्य लोकान् हिनस्ति ॥

—मु० १ २ ३

वारण के होने हुए कार्य अवश्य हो जाय, यह कोई नियम नहीं। यहाँ प्रवरण में ऋषि इसी का जोरदार शब्दों में कहना चाहता है कि यदि मन्मथ प्रकार में काम किया जाय तो निश्चयरूपण उसका फल प्राप्त होता है, पर जिन लोकों की माधक प्राप्ति चाहता है उनकी प्राप्ति के अनुरूप ही काम हो। वचन अग्निहोत्रादि कर्मों द्वारा उन लोकों की प्राप्ति न होकर निश्चयन विनाश हो जाता है। अतः हिनस्ति क्रिया का प्रयोग अव्यभिचारो रूप अर्थ का प्रकट करने के लिए है, अर्थात् अवश्य ही नाश कर देना है। —मु० शांकरभाष्य

यदा यद्य पश्यते दम्भवर्णं वर्तारमोशं पुष्पं ब्रह्मणोनिम् ।

तदा विद्वान् पुष्पपापे विद्युषु निरञ्जन परम साम्यमुपैति ॥

—मु० ३ १ ३

यहा ईश्वर की प्राप्ति के बाद किस प्रकार जानी पाप और पुण्य का त्याग देता है, इसका बड़े उचित ढंग से अष्टपि वर्णन करता है। ऋषि ने यहा वि + √धृञ् + ल्यप् का प्रयोग किया है। यँसे त्यक्त्वा का भी प्रयोग हो सकता था, पर त्यक्त्वा में वह विलक्षणता कहा जो कि वि + √धृञ् + ल्यप् में है। वस्तु का धुनना किस प्रकार होता है, यह तो किसी धुनिये से पूछा कि वह किस प्रकार रुई को अन्नम-अन्नग कर देता है। अतः यह क्रियाचिन्त्य का सुन्दर उदाहरण है।

इसी प्रकार—

समम्यतपस्तस्यामितस्तस्य मुञ्च निर्मिषत ययाण्डं मुखाद्वावाचोऽग्नि
नार्तिकं • शिरनाद्रेतो रेतम आप. ।

—ऐत० १ १ ४

इस मन्त्र में निर्मिषत श्रिया ब्रह्म से मृष्टि की उत्पत्ति को याचातप्येन बता रही है। विराट् पुरुष के आदेश से, तप करने पर उसमें अण्ड के समान मुख उत्पन्न हुआ। इसका तात्पर्य हुआ कि जिस प्रकार किसी वस्तु के फटने में उसके अन्दर की वस्तु बाहर आ जाती है, उसी प्रकार ईश्वर ने अपने अन्दर रहने से ही शीत शीत समार की कारणभूत उस अण्डाकार वस्तु को प्रकट किया। यहा उस वस्तु की उत्पत्ति के लिए वारण-सामग्री का निषेध स्वतः ही क्रिया द्वारा हो गया।

सर्वाङ्गीरे सर्वसत्ये ब्रूहन्ते अस्मिन् हसो आच्यते ब्रह्मचके ।

पुत्रगाहमग्न्यं श्रितारं च भत्वा जुष्टस्तनून्नेनाऽमृतत्वमेति ॥

—श्वे० १ ६

यहा अम् छातु का कर्म में प्रयोग एतन्मात्र पाठको को भ्रम में डालने के लिए नहीं, अपितु जीव-विषयक भ्रांति को दूर करने के लिए उपयुक्त म्यान पर हुआ है। जीव स्वयं नहीं धूमता, अपितु उसको

घुमाने वाला कोई अन्य ही है । जीव का यही तो लक्षण है कि जहा ईश्वर स्वतन्त्र है, वहा जीव परतन्त्र । वह कर्म करने में तो स्वतन्त्र है, पर फल भोगने में परतन्त्र । इस ब्रह्मचक्र में नाना योनियो में उसको घुमाया जाता है । वह भला इतना सज्जन कहा कि स्वत हो शूकर-कूकर की योनियो में विचरण करे । उसका वश चले तो वह सवन्दा नन्दन वन में ही विचरण करता रहे । अत जीव की इस परवशता, तथा कर्मयोग की अनिवार्यता को द्योतित करने में अम् धातु का यह रूप यहा औचित्य का ही निर्वाह नहीं कर रहा, अपितु घमत्कार-पूर्ण अर्थ का प्रतिपादन भी कर रहा है ।

६.१. उपनिषदों का गद्य

प्रत्येक भाषा के साहित्य में गद्य और पद्य, दो प्रकार का काव्य उपलब्ध होता है । आचार्य वामन ने भी माध्यम की दृष्टि से काव्य के भेदों का विवेचन करते हुए कहा है—

काव्य गद्य पद्य च ॥^१

संस्कृत भाषा में भी प्रारम्भ में अर्थात् वैदिक साहित्य में लेकर अथावधि कवियों ने गद्य तथा पद्य दोनों माध्यमों से रचना की है । बाद में काव्य में एक और प्रकार प्रचलित हुआ, जिसे चम्पू नाम दिया गया । इस रचना में यद्यपि गद्य की ही बहुलता होती है, तथापि यत्न-तत्प पद्य भी कवि जोड़ देता है ।

उपनिषदों के अवलोकन में प्रतीत होता है कि यद्यपि उस समय के ऋषियों में पद्य लिखने की प्रवृत्ति अधिक थी जो कि वैदिक साहित्य के प्रभाव तथा मौखिक परम्परा के कारण चली आ रही थी, तथापि गद्य-रचना में भी उनकी गति कम न थी । उपनिषदों में लौकिक साहित्य में विकसित गद्य की सभी विधाओं के रूप प्राप्त होते हैं, भले ही ये स्वल्प मात्रा में हों ।

वामन ने गद्य को तीन भेदों में विभक्त किया है—

गद्य वृत्तगन्धि चूर्णमुत्कलिकाधायं च^२ ॥

१. काव्यालंकारसूत्र, १ ३. २१

२. वही, १. ३. २२

और इनके लक्षण निम्न प्रकार से दिए हैं—

पद्यभागवद् वृत्तगन्धिः ॥

अनाविद्धस्तितपद चूर्णम् ॥

विपरीतमुत्कत्तिकाप्रापम् ॥

—वाक्यालंकारमूल, १ २ २३, २४, २५

पर, आचार्य विश्वनाथ ने गद्य रचना को चार प्रकारों में विभक्त किया है। वे इस प्रकार लिखते हैं—

वृत्तगन्धोविस्तृत गद्य मुक्तक वृत्तगन्धि च ॥

अवेदुत्कत्तिकाप्राप चूर्णक च वस्तुविधम् ।

ग्राह्य समासरहित वृत्तभागयुत परम् ॥

अन्यदीर्घसमासाद्वयं सुयं चाल्पसमासकम् ॥

—साहित्यदर्पण, ६ ३३०, ३३१

अर्थात् छन्दोबन्धन में रहित रचना गद्य कहलाती है। और समास-रहित गद्य मुक्तक, तथा छन्द की गन्ध में युक्त वृत्तगन्धि कहलाता है। दीर्घसमासप्राय तथा उलट पदों से युक्त उत्कत्तिकाप्राय एवं अनाविद्ध अर्थात् दीर्घसमासहीन और ललित अर्थात् अनुत्कटपदयुक्त गद्य चूर्णक अथवा चूर्ण कहलाता है। किन्तु विश्वनाथ की इस परिभाषा के आधार पर उपनिषदों में गद्य वे इन चार प्रकारों की उपलब्धि न होकर वामन के अनुसार तीन प्रकार के गद्य का ही रूप प्राप्त होता है।

कुछ एक उपनिषदों में गद्य का प्रयोग वित्कुल नहीं हुआ, जैसे ईश और ऋग में। कुछ में नाममात्र को ही गद्य मिलता है, जैसे वेन, मुडर, माडूक्य और श्वेताश्वतर में। प्रश्न, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक में गद्य प्रचुर मात्रा में तथा विविध रूपों में मिलता है।

यद्यपि अन्य उपनिषदों में गद्य और पद्य का मिश्रण है, पर बृहदारण्यक में गद्य और पद्य, दोनों इस रूप और इतनी मात्रा में मिलने हैं कि इसे उत्तरवर्ती चण्डू काव्या का मूल माना जा सकता है।

उपनिषदो मे प्राप्त गद्य के उपर्युक्त रूपों के कुछ उदाहरण नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

६११. चूर्णक गद्य (अल्पसमास या समासरहित)

(क) मोर्जमनादादूर्ध्वमुत्क्रमते इव । तस्मिन्मुत्क्रामत्यधोतरे सर्वा एबोत्क्रामन्ते । तस्मिन्श्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रतिष्ठन्ते । तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्त सर्वा एबोत्क्रामन्ते । तस्मिन्श्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रतिष्ठन्ते । एव वाद्मनश्चक्षु ओजश्च । ते प्रीता प्राणस्तुष्यन्ति ।

—प्रश्न० २४

(ख) यत्र सुप्तो न कचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुपुप्तम् । सुपुप्तस्थान एकीभूत प्रज्ञानघन एवाऽऽनन्दमयो ह्यानन्दमुक्, चेतोमुखः प्राप्तस्तृतीय पाद ॥

—भा० ५

(ग) वेदमनुष्याऽऽचार्योऽन्तेवातिनमनुशास्ति । सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्यस्य प्रिय धनमाहुस्य प्रजातन्तुं मा 'व्यवच्छेदोऽसौः । तत्प्राप्तं प्रमदितव्यम् । धर्मान् प्रमदितव्यम् । कुरात्त्वान् प्रमदितव्यम् । भूतैर् न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्या न प्रमदितव्यम् । देवपितृकार्याभ्या न प्रमदितव्यम् । सातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । गान्धर्वदद्यान् कर्माणि । तानि सेवितव्यानि । गो इतराणि । गान्धर्वास्तु चरितानि । तानि त्वयोपास्यानि । गो इतराणि । तै के चास्मच्छ्रेयसो ब्राह्मणा । तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रवसितव्यम् । शठया देयम् । अशठयाऽदेयम् । श्रिया देयम् । हिंसा देयम् । श्रिया देयम् । सविदा देयम् ॥ अथ यदि ते कर्मविचिकित्ता वा वृत्तिविचिकित्ता वा स्यात् । ये तत्र ब्राह्मणा समश्रित । युक्ता आयुक्ता । अलूक्षा धर्मकामा स्युः । यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्तेथा । अपाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणाः संमश्रित । युक्ता आयुक्ता । अलूक्षा धर्मकामा स्युः । यथा ते तेषु वर्तेरन् । तथा तेषु वर्तेथा । एव आदेशः । एव उपदेशः । एषा देवोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु जंतुपाग्यम् ॥

—तै० १. ११

उपयुक्त गद्यभाग भुक्तक गद्य का आदर्श होने के अनतिरिक्त अनुप्राणमय, प्रवाहशील एवं प्राञ्जल गद्य का भी सुन्दर उदाहरण है। इसमें वाप के शुक्लामोदेष का मग्न तथा उपदेशात्मक प्रवृत्ति का पूर्व-रूप भी स्पष्ट नञित होता है। और भी देखिए—

(घ) बोध्यमायेति वक्ष्यमास्महे । कतरः स ज्ञात्मा ? येन वा परमनि, येन वा शृष्टोनि, येन वा गच्छात् जिग्रनि, येन वा वाच ध्याहरोनि, येन वा स्वादु चास्वादु च विज्ञानानि । यदेनद्गृह्यं मनश्चैतन् । संज्ञानमा-
ज्ञान विज्ञान इज्ञान मेधा इष्टिर्धृतिर्मनोषा कूनि- स्मृति- सत्यः क्रतुरमु-
कामो वरा इति सर्वाप्येवंतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥

एष ब्रह्मा । एष इन्द्र । एष प्रजापति । एते सर्वे देवाः । इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतीष्येनामीमानि च क्षुद्रमिषाणीव बीजानीतराणि चैतराणि चाण्डजानि च जारजानि च स्वेदजानि बीड्डिजानि चात्वा गावः पुरा हस्तिनो यत्किंचेद प्राणि-
जाम च पतङ्गि च मरुत स्यात्वरम् । सर्वं तन् प्रज्ञानेवम् । प्रज्ञाने-
प्रतिष्ठितम् । प्रज्ञानेवो लोके । प्रज्ञा प्रतिष्ठा । प्रज्ञान ब्रह्म ॥ स एनेन
प्रज्ञेनामनाम्नामोहादुन्मय्यामुन्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्स्वा-
प्नुत ममभवन् ममभवन् ॥

—ऐत० ३ १-४

उपयुक्त गद्यगण्ड में कुछ वाक्य छोटे-छोटे हैं तथा कुछ बहुत लम्बे भी। परन्तु ये वाक्य लम्बे होनेपर भी उद्बेक नहीं, अपितु मुगठित गद्य के रूप में प्रवर्तित होने हैं। यहाँ अममम्य तथा अकृत्रिम एवं अनु-
प्राणात्मक तथा रचिरर वाक्या द्वारा आध्यात्मिक विषय को भरन शैली में प्रस्तुत किया गया है। शार्ङ्गिक मन को चूर्णक गद्य द्वारा महज रीति में प्रस्तुत करने की दिशा में अहि की यह पद्धति गहन विषय को प्रतापान ही हृदयाम करा देती है। यही इस उपनिषद् के गद्य का मोष्टक है।

(ङ) तस्य बहू दूत स्यादन्तर्वाद्भ्य । अङ्गि सोम्य शुनेन तेजोमूनमन्त्रिष्य ।
तेजसा सोम्य शुनेन गन्मूनमन्त्रिष्य । मामूना सोम्येमा सर्वा प्रजा
महाजनना म-प्रतिष्ठा । यथा नु तनु सोम्येमास्मिन्त्यो देवना पुर-
प्राय विद्विज्बुदेवं वा भवति तदुच्य पुरस्तादेव भवति । अस्य सोम्य

पुरयस्य प्रयतो वाङ् मनसि सपद्यते, मन प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्या देवतायाम् ॥

—छा० ६ ८ ६

स ॥ एषोऽनिर्गन्तवात्म्यमिव सर्वम् । तत् सत्यम् । स आत्मा । तत्त्वमसि । ॥

—छा० ६ ८ ७

(च) ब्रह्म वाच विज्ञानाद् भूय । अपि ॥ शत विज्ञानब्रह्मणेको ब्रह्मब्रह्म-
कल्पयते । स यदा बली भक्त्ययोत्थाता भवति । उत्तिष्ठन् परिचरिता
भवति । परिचरन्नुपसत्ता भवति । उपसोढन् द्रष्टा भवति श्रोता भवति
मन्त्रा भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति । बलेन वै
पृथिवी तिष्ठति । बलेनान्तरिक्ष बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन देवमनुष्या
बलेन पशवश्च वयसि चतुष्वनस्पतय इवापदान्याकोटपतमपिपीतकम् ।
बलेन लोकस्तिष्ठति । ब्रह्ममुपास्तेति ॥

—छा० ७ ८ १

(छ) तो होवतुयं आत्माऽपहस्यमाया विजरो विमृत्युविशोको विजिघ्रितो-
ऽपिपात सत्यकाम सात्वतकल्प सोऽन्येष्वेव स विनिज्ञासितव्यः ।
स सर्वाश्च लोकानाप्नोति सर्वाश्च कामान् यस्तस्मात्मानमनुविष्ट
विज्ञानातीति भगवतो वचो वेदयन्ते ॥

—छा० ८ ७ ३

छान्दोग्य उपनिषद् से उद्धृत चूर्णक गद्य के उपर्युक्त भागों में अनुप्रासात्मक शैली का अवलम्बन किया गया है । इसके अतिरिक्त यहाँ माधुर्य गुण तथा वैदर्भी रीति की भी झलक मिलती है । उपनिषदों में प्रायः ऐसी व्याख्यात्मक शैली के दर्शन होते हैं जो कि यौगल्य नहीं । गद्य के ऐसे अंश परवर्ती काल में विकसित प्राजल गद्य के पुरोगामी प्रतीत होते हैं ।

(ज) अहमेवेदमत्र आसीदेक एव । सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेय ।
वित मे स्यादथ कर्म कुर्वीति । एतावान् वै काम । नेच्छात्र नातो
भूयो विन्देत् । तस्मादप्येतर्ह्येकाकी कामयते—जाया मे स्यादथ
प्रजायेयाथ वित मे स्यादथ कर्म कुर्वीति । स यावदप्येतेषामेकं न
प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तापन्नन्यते । तस्यो वृत्स्नता । यन एवास्यात्मा ।
याजाया । प्राण प्रजा । चक्षुर्वानुष वितम् । चक्षुया हि तद्विन्दते ।

श्रोत्र ईदम् । श्रोत्रेण हि तच्छृणोति । आत्मैवास्म्य कर्म । आत्मना हि कर्म करोति । ...

—वृ० १ ४. १३

- (घ) “ न वा अरे पन्थु कामाय पति प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पति प्रियो भवति । न वा अरे जायाय कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति । न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रिय भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति । आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो भक्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि । आत्मनो वा अरे दशनेन भवगेन मत्वा विज्ञानेनेद सर्वं विदितम् ॥

—वृ० २ ४ ५

- (ज) ब्रह्म त परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म वेद । शत्र त परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मन शत्र वेद । लोकान् परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो लोकान् वेद । देवान् परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो देवान् वेद । भूतानि त परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो भूतानि वेद । सर्वं त परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मन सर्वं वेद । इदं ब्रह्मोद शत्रमिमे लोक । इमे देवा इमानि भूतानीद सर्वं यवयमात्मा ॥

—वृ० २ ४ ६

ऊपर उद्धृत गद्यांश के अनुशीलन में स्पष्ट होता है कि बृहदारण्यक का गद्य सुपुर्णिष्ठित है । यद्यपि इसमें गद्यांश लम्बे हैं, पर वाक्य छोटे और हृदयावर्जक हैं । अधिकतर गद्यरचना सरल तथा सनिता है । भाषा मधुर एवं भावानुग्राहक है । इस प्रकार यह पारदर्शी गद्य है । वाक्या की याजना मशिमट और जटिल न हाकर भी परम्पर ग्रथित तथा ओजस्वी है । यहा यद्यपि पदा की पुनरुक्ति हुई है, पर इसमें अर्थ का पापण ही होता है । अत यह दाप नहीं है ।

बृहदारण्यक में मुन्दर गद्य के उदाहरण हमें २ ४ ३ में नेर २.४ १८ तथा ० ४ १ में ० ५ १५ तर भी निम्नर मिलने है ।

तीव्र साहित्य में त्रिम प्रकार पाणवस्ता में चरता हुपा गद्य शारम्भरी में जातर मुविमिन एव मुननित तथा परिनिष्ठित दिग्राई देता है, इसी प्रकार उपनिषत्कालीन गद्य बृहदारण्यक में पूर्णरूप

विकसित एवं परिनिष्ठित दिखार्द देता है। तथा च, बृहदारण्यक में गद्य के तीनो रूपो—चूर्णक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय—के दर्शन होते हैं।

६.१ २. वृत्तगन्धि गद्य (पद्यात्मक)

पद्याशो से युक्त अथवा पद्यसमान गद्य वृत्तगन्धि कहलाता है। ऐसे गद्य में वस्तुतः कोई छन्द नहीं होता, पर वृत्त अथवा छन्द की गन्ध रहती है। पाठको को आपाततः इसमें पद्य की प्रतीति होती है। गद्य के इस रूप के भी दर्शन कुछ उपनिषदों में कहीं कहीं मिलते हैं। यथा,

केनेपित वसति श्रेयित मन केन प्राण प्रथम प्रीति युक्त । केनेपिता
वाचमिमां बधन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥

—केन० १ १

प्रश्नोपनिषद् में इस प्रकार के गद्य के पर्याप्त मात्रा में दर्शन होते हैं। कतिपय उदाहरणों को यहाँ देखा जा सकता है—

अथाऽऽदिष्य उदयन् यात्राधीं विशां प्रविशति तेन शब्धान्प्राणान् रश्मिषु
सनिधत्ते । यद्वक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा विशो यासर्वं
प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु सनिधत्ते ॥

—प्रश्न० १ ६

प्रजापतिश्चरति गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे । शुभ्य प्राण प्रजास्त्विमा बन्ति
हरन्ति प प्राणं प्रतितिष्ठसि ॥

—प्रश्न० २ ७

वायूपस्थोऽपानम् । चक्षुः श्रोत्रे मुननासिकाम्यः प्राण स्वयं प्रातिष्ठते ।
मध्ये तु समानः ।

—प्रश्न० ३ ५

स यथा सोम्य वपासि वासोयुक्त सप्रतिष्ठन्ते । एव ह वै तत्सर्वं पर
आत्मनि सप्रतिष्ठते ॥

—प्रश्न० ४ ७

उपर्युक्त मन्त्रों में ऐसी लयात्मकता है जिससे यह गद्य पद्य-मा पढ़ा जा सकता है। लौकिक साहित्य में इस प्रकार के गद्य का अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब पद्य से गद्य में निखरने की प्रवृत्ति हुई होगी, तो प्रथम इस प्रकार का ही गद्य लिखा गया होगा। अतः यह गद्य, गद्य और पद्य के बीच की कड़ी को जोड़ता हुआ प्रतीत होता है।

६१३ उत्कलिकाप्राय गद्य (उत्तरटपदयुक्त)

चूण्व से विपरीत गद्य उत्कलिकाप्राय कहलाता है, जो दीर्घ-समास तथा उत्तरट पदा म युक्त होता है। उपनिषदों में दीर्घ समासों का तो प्रायः अभाव है, परन्तु राम्बी सन्धियों द्वारा क्लिष्ट पदों के कारण उत्कट तथा जटिल रचना के यत्न-रत्न दर्शन होते हैं। यथा,

- (ब) नास्तं प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नीचयत प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् ।
अदृष्टमव्यवहार्यमप्राप्तमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकान्तप्रत्ययसारं प्रपञ्चो-
पसन्नं शांतं शिवमर्हंतं चतुर्थं मन्यन्ते । स आत्मा । स विज्ञेयः ॥

—मा० ७

- (घ) तदेतत्सृष्टं पराट्पञ्चिघासत् । तद्वाचाऽग्निघृहान् । तन्नाशवनीद्वाचा
पठोतुम् । तद्वर्धनं वाचाऽग्रैर्घ्यदनिध्याहृत्य हवाम्नमन्नपस्यत् ।^१

—ऐत० १३३

- (ग) प्रजापतिर्नो ज्ञानभ्यतपत् । तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्याः संप्राप्तयत् ।
तामभ्यतपत् । तस्याः अभितप्ताया एताव्यक्षराणि संप्राप्तवन्तः क्षुभुं व
रयन्ति ॥

—छा० २२३२

- (घ) पुरा माध्यदिनस्य सधनरघोषावरणाऽऽजघनेनाऽऽग्नीध्रोऽयस्योदरमुप उप-
प्रियं स रीडं सामाभिगायति ॥

—छा० २२४. ७

१ इसी प्रकार की रचना एतरेय० १३४ ग १.३६ तथा निरन्तर मिलती है।

- (३) त होवाच—एतद्दे तदक्षरं भार्गव ब्राह्मणा अभिवक्तव्यं स्यूतमनञ्जलस्व-
मदीयं मत्तोहितमस्नेहमस्त्र्याप्यमतमोऽवाप्यमाकाशमसतमरसमगन्धमचक्षुष्क-
मध्रोऽश्मकापयतोऽतेजस्कमप्राप्तममुखमगात्रमनेनतरमवाहाम् । ...

—बृ० ३. ८ ८

- (४) यत्र वा अन्धरिव स्यात् तत्रान्योऽन्यत् तत्रपेदन्वीऽन्यत्रिजप्रेदन्वीऽन्यत्र-
तपेदन्वीऽन्यत्रवेदन्वीऽन्यत्रदृष्ट्यादन्वीऽयमन्वीताम्बोऽयत् स्तृशेदाम्बो-
ऽन्यद्विजानीयान् ॥

—बृ० ४ ३ ३१

६. २. निष्कर्ष

उपनिषदों के गद्य का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि उपनिषदों का गद्य प्रायः अल्पममाभात्मक एवं अनुप्रासमय चूर्णक गद्य की कोटि का है। इसके पद भङ्गुर तथा वाक्य छोटे और सरल हैं। दार्शनिक सिद्धान्तों के विवेचन के कारण ऋषियों की ऐसी रचनात्मक, विवरणमयी और विश्लेषणपूर्ण है। अनेक स्थलों में उपनिषदों की शैली उपदेशात्मक हो गई है, जैसे कि तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली के अनुवाक ११ में।

उपनिषदों के गद्य-भागों में अनेक स्थलों में एक पद, वाक्य अथवा वाक्यांश की आवृत्ति हुई है। उपनिषद्कारों ने यद्यपि इस प्रकार में आवृत्ति अपने भाव को स्पष्ट करने के लिए अथवा अर्थ के पोषणार्थ की होगी, पर इस कारण उन स्थलों पर गद्य ग्रहचिह्न तथा उद्वेजक प्रतीत होता है, और अपरिच्छिन्न भी। जैसे, तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली के नवम अनुवाक में १७ बार स्वाध्यायप्रवचने पद की आवृत्ति की गई है।^१ इसका दो एक बार प्रयोग करके गद्य को नीरस होने से बचाया जा सकता था। इसी उपनिषद् की शिक्षावल्ली के अष्टम अनुवाक में ते वे शतम् की १० बार श्रोत्रियस्य चाक्षामहतकस्य की १० बार, मानरा पद की ६ बार तथा मनुष्यगन्धर्वाणाम्, देवगन्धर्वाणाम्, पितॄणां विश्वोत्तानाम्, आज्ञानजानां देशानाम् आदि पदों की दो दो बार आवृत्ति हुई है जो कि परिहार्य थी। इस अनावश्यक पुनरुक्ति के कारण इस अनुवाक की रचना एकमुरापन लिए है, और अरोचक ही नहीं उवाच भी हो गई है।

१ अतः च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च । तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च । दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । ममश्च स्वाध्यायप्रवचने च । अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च । अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च । मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजानिश्च स्वाध्यायप्रवचने च ।

यही दोष तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्की के अनुवाक २ से अनुवाक ५ तक पाया जाता है। इस प्रसंग में अधीहि भगवो ब्रह्मेति । त होवाच । तपसा बह्व विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । ॥ तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा वाक्य की प्रत्येक मन्त्र में उमी क्रम से आवृत्ति हुई है। तथा, “ दशमेव छत्विमानि भुक्तानि जायन्ते, जातानि जीवन्ति, प्रयन्त्यभि-सविशन्ति और विजिज्ञासस्व की बार-बार आवृत्ति भी अखरती है। सातवे, आठवे तथा नवें अनुवाकों में भी पदों की आवृत्ति हुई है। अपने भाव को विशिष्ट भाषा में अभिव्यक्त करके ऋषि अपनी रचना को सुन्दर व आकर्षक बना सकता था।

ऐतरेयोपनिषद् के १ ३ ३-१० मन्त्रों में अजिघृक्षत्, ग्रहीतुम्, अग्रहेष्यद्, अन्नप्यत् पदों की लगभग एक दर्जन बार एक ही स्थान पर आवृत्ति से जहाँ यह गद्यभाग गरिष्ठ प्रतीत होता है, वहाँ रचना शिथिल और बोझिल भी हो गई है।^१

ऐतरेय० १ २ ४ में प्राविशत् पद की सात बार तथा १ ३ ११ में यदि पद की आठ बार निरर्थक आवृत्ति हुई है। और, जहाँ स्पष्टता के हेतु पद प्रयोग आवश्यक था वहाँ वे सर्वथा प्रयुक्त नहीं किए गए। जैसे, ऐत० १ ३ १२^२ में मातृत्तम क्रियापद की तीन बार आवृत्ति की गई है जब कि एक ही बार के प्रयोग से भाव स्पष्ट हो सकता था। और यही मस्तक, कंठ और हृदय का निर्देश करने के लिए बोलत अपम

१. तदेतत्सृष्टं परादित्यजिघासत् । तद्वाचाऽजिघृक्षत् । तन्नाशकनोद्वाधा ग्रहीतुम् । तद्धनं यद्वाचाऽग्रहेष्यदभिव्याहृत्य हेवान्ममन्नप्यत् ॥३॥

तत्प्राणेनाजिघृक्षत् । तन्नाशकनोत् प्राणेन ग्रहीतुम् । स यद्धनं प्राणेनाग्रहेष्यदभिप्राप्य हेवान्ममन्नप्यत् ॥४॥

तत्त्वक्षुपाऽजिघृक्षत् । तन्नाशकनोत्त्वक्षुपा ग्रहीतुम् । स यद्धनं त्व-क्षुपाऽग्रहेष्यद् दृष्ट्वा हेवान्ममन्नप्यत् ॥५॥ इत्यादि ।

२. तस्य सद्य आवत्तयात्त्रयं स्वप्ना अयमावमयोऽयमावतयोऽयमावसथ इति ।

सर्वनाम का ही प्रयोग किया गया है, जिससे मूलपाठ अस्पष्ट एवं सन्दिग्ध हो गया है।

इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् १ ७ वीं छ. पक्तियों में सात बार ऋच्यध्नुद साभ वी पुनरुक्ति है। इसी उपनिषद् का प्रपाठक २ तो सारे वा साग ध्वी हिकार प्रस्ताव, प्रतिहार, निघन, अपराह्ण, मध्य-दिन, जघन आदि नीरस पदा की आवृत्ति से भरा पड़ा है, अतः वही रचना अपरिष्कृत लगती है।

६.३. कथात्मक तथा नाटकीय गद्य

शास्त्रीय दृष्टि से चूर्णक, वृत्तगन्धि तथा उत्कनिकाप्राय गद्य के अतिरिक्त उपनिषदों में कथात्मक तथा नाटकीय गद्य का रूप भी उभरता दिखाई देता है।

६.३.१. कथात्मक शैली

तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्मी में ब्रह्मप्राप्ति का मुख्य माधन पञ्चकोशविवेक दिखलाने के लिए वरुण और भृगु का आख्यान दिया गया है। आत्मतत्त्व का जिज्ञासु भृगु अपने पिता वरुण के पास जाता है। पुन-पुन सन्देह होने और पुन-पुन वरुण के आदेशानुसार तप द्वारा उसने निश्चय रूप से जाना कि मानन्दो ब्रह्मेति।

कथा-शैली का जो रूप तैत्तिरीय उपनिषद् में प्रस्फुटित हुआ, वही छान्दोग्य उपनिषद् में पल्लवित होता दीखता है। इस उपनिषद् में उपासना और ज्ञान का विवेचन है। इन दोनों विषयों को सुगमता से समझाने के लिए स्थान स्थान पर कई आख्यायिकाएँ दी गई हैं। इस कथा-गद्दति में उन गहन विषयों के हृदयगम होने में सहायता-प्राप्ति के अतिरिक्त कई प्रकार की शिक्षाएँ भी मिलती हैं। प्रथम अध्याय में इष्य ग्राम में रहने वाले उपस्ति की कथा है। उपस्ति कुशल कर्मकाण्डी थे। एक बार कुरुदेश में, जहाँ वे रहने थे, ओले और पत्थरों की वर्षा के कारण ऐसा अकाल पड़ा कि उन्हें कई दिनों तक निराहार रहना पड़ा। जब प्राणमकट उपस्थित हुआ तो उन्होंने एक हाथीवान में कुछ खाने को मांगा। उसके पास कुछ उडद थे, परन्तु वे उच्छिष्ट थे। इसलिए उन्हें देने में उसे हिचक हुई। परन्तु उपस्ति ने उन्हें को माग कर अपने प्राणों की रक्षा की। जब हाथीवान उच्छिष्ट जल भी देने लगा तो उपस्ति ने 'यह उच्छिष्ट है', ऐसा कहकर निषेध कर दिया। इस पर जब हाथीवान ने शका की कि क्या जूठे उडद खाने में उच्छिष्ट-भोजन का दोष नहीं हुआ ? तो वे बोले—

॥ वा अजीविष्यमिमानवादनं ... कामो मे उवषानम् ।

इस प्रकार उच्छिष्ट जन का निषेध करके उपस्मि ने यह आदर्श उपस्थित कर दिया कि मनुष्य आचार सम्बन्धी नियमों की उपेक्षा तभी कर सकता है जब कि उसमें बिना प्राणरक्षा का कोई दूसरा उपाय ही न हो ।

किसी भी कल्याणकारी विद्या का ग्रहण करने के लिए मनुष्य का कितना त्याग, तप, मत्वा, मर्त्य, विनय आदि की आवश्यकता है— यह वान छान्दाग्य उपनिषद् में जानश्रुति की कथा, मर्त्यनामजावान की कथा अश्वपति की कथा तथा अश्वपति की कथा द्वारा प्रदर्शित की गई है ।

गद्य का यह कथात्मक रूप यद्यपि प्रौढता नहीं, तथापि रोचक, सुगम विनम्र एवं माहुर्य है । इस कथात्मक गद्य की भाषा सरल है और वाच्य छोट छोट हैं । अनावश्यक विस्तार या पुनर्वक्ति भी नहीं है । शैली भी जटिल न होकर अद्वितीय है ।

६.३. माटकीय अथवा सबादात्मक शैली

उपनिषदा के ऋषिया न ग्रहणतत्त्व, ज्ञान, उपनिषदा आदि का उपदेश जिज्ञासु शिष्या का प्रश्नात्तर रूप में दिया था । इस कारण इन रचनाओं में संवाद का हाना स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य भी था ।

प्रश्नापनिषद् में ऋषि, भागव, कौमत्य, गार्ग्य, मर्त्यनाम और मुकुता के प्रश्नात्तरात्मक संवाद, तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवर्गी में भृगु-वार्त्ता संवाद, छान्दाग्य उपनिषद् १८ में शिवक, दान्म्य और प्रवाह्य का उद्गीथविषयक संवाद, छान्दाग्य ७४ में मर्त्यनाम जवान तथा हारिद्रुमन गौतम का वार्त्ताप, बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य-गार्गी, याज्ञवल्क्य-मैत्रयी, तथा जनक-याज्ञवल्क्य संवाद इस शैली के प्रमुख उदाहरण हैं । छान्दाग्य और बृहदारण्यक उपनिषदा का धार्मिक भाग संवादों में ही है । छान्दाग्य उपनिषद् में जानश्रुति रत्न, अश्वपति औपमन्यव, अश्वपति-मर्त्ययज्ञ, अश्वपति इन्द्रद्युम्न, अश्वपति जन, अश्वपति-बृद्धि, अश्वपति उद्दान आदि के संवाद तथा बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य-आनभाग, याज्ञवल्क्य भृगु, याज्ञवल्क्य उपस्मि, याज्ञवल्क्य-कहान, याज्ञवल्क्य गार्गी, याज्ञवल्क्य शाकल्य आदि के संवाद द्रष्टव्य हैं ।

मनुष्यों के परस्पर मवाद के अतिरिक्त छान्दोग्य उपनिषद् ५ १ में अपनी अपनी श्रष्टता स्थापित करते हुए बाणी, चक्षु, श्रोत्र आदि का, तथा इसी प्रकार बृहदारण्यक ६ १ में अपनी श्रष्टता के लिए विवाद करते हुए बागादि प्राणा का भी, ब्रह्मा के पाम जाकर पारम्परिक सवाद मिलता है ।

उपनिषदा में प्राप्त उपयुक्त नाटकीय अथवा मवादात्मक शैली के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं —

१ मंत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य — उद्यास्पन् ॥ अरे महमस्मात् स्थानारमि । हन्त तेजसा कात्यायन्यान्त करवाणीति ।

सा होवाच मंत्रेयी — यन्मु म इय भगो सर्वा पृथिवी बित्तेन पूर्णा स्यात् कथ तेनामृता स्यामिति ।

नेति होवाच याज्ञवल्क्य । मर्यदोपकरणवना जीवित तथैव ते जीवित स्यात् । अमृतत्वस्य तु नाऽऽशाऽस्ति बित्तेनेति ।

सा होवाच मंत्रेयी — येनाह् नामृता स्या किमह तेन कुर्याम् । परेष भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहीति ।

त होवाच याज्ञवल्क्य — प्रिय वनारे न सती प्रिय भावते । एह्यास्त्व । व्याख्यास्यामि ते । व्यावसायस्य तु मे निदिश्यास्तस्वेति ।

—यू० २ ४ १ ४

२ ते हेमे प्राणा अहो ध्येयते विवदमाना बह्व जम्मु । तदोचु — को नो धत्तिष्ठ इति । तदोवाच — यस्मिन्व उत्पान्त इहो मरौर पापीयो मन्यते स वो धत्तिष्ठ इति ॥

वायोच्चक्राम । सा सवस्मर प्रोप्यागत्योवाच — वयपसकत मदुते धीवितुमिति । ते होचु — यथाऽऽस्ता अबदन्तो वाचा प्राणन्त प्राणेन पश्यन्त श्वभुपा मृष्यन्त श्रोत्रेण विद्वांसो मनसा प्रज्वायमाना रेतसंबमजीवित्वेति । प्रविशेता ह वाक् ॥

क्षुहोर्ज्वरश्चाम । तत्सवत्सरं प्रोष्यागत्थोवाच—अथमशक्तं मदुते जीवितुमिति । ते होचु—यथाऽन्या अपश्यन्तश्चक्षुषा प्राणन्त प्राणेन वदन्तो घावा शृण्वन्त श्रोत्रेण विद्वांसो मनसा प्रजायमाना रेतसंवमजीविष्येति । प्रविवेश ॥ च३ ॥

भोत्र होच्चत्राम । तत्सवत्सर प्रोप्यागत्योवाच—कयमशक्त मद्दे
जीविनुमिति । ते होवु —यथा बधिरा भृश्वन्त थोत्रेण प्राणन्त प्राणेन वदन्तो
वाचा पश्यन्तरक्षुष्या विद्वांसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्येति । प्रविशेत्
॥ थोत्रम् ॥

मनो होच्चत्रामः । तत्सर्वमर प्रोप्यागत्योवाच—कयमशकत मदुते जीविनुमिति । ते होचु—यथा मुग्धा भविद्वामो मनसा प्राणस्त प्राणेन वदन्तो याचा परपत्तश्चक्षुषा शृण्वन्त धोत्रेण प्रजयमाना रेतसैवमजीवित्येति । प्रविशेश ह मनः ॥

रेतो होच्चश्रामः । तत्सकलस्य प्रोद्धापरयोवाच—इयमराकतं मद्भूते
जीविनुमिति । ते होचुः—यथा क्लीबा अप्रापमाना रेतसा प्राणन्त प्राणेन
वदतो याचा पर्यगतरक्षधुषा भृष्वन्त ध्रोत्रेण विद्वासी मनसंबमजीविन्मेति ।
प्रतिवेश ह रेतः ॥

अथ ह प्राण उत्पत्तिमध्यम यथा महासुहृत् सन्धव पद्बीशशकून् सवृहेवेव
 हृद्येमान प्राणान सवर्धन् । ते होचु — मा भयव उत्पत्ती । त यं शक्यामस्त्वद्वृत्ते
 जीविषुमिति । तस्यो मे रतिं कुरुतेति । तथेति ॥

मा ॥ यागुयाच—यद्वा अह वसिष्ठोऽस्मि त्व तद्वसिष्ठोऽस्येति । यद्वा अह
प्रतिष्ठाऽस्मि त्व तत्प्रतिष्ठोऽस्येति चणु । यद्वा अह सपदस्मि ॥ तत्सपदस्येति
भावम् । यद्वा अह्मायननमस्मि त्व तदायननमस्येति मनो यद्वा अह प्रमानिरस्मि
त्व तत्प्रमानिरस्येति रेत । तस्यो मे किमन्न किं वास इति । पश्चिद्विच्चा
स्वभ्य आ कृमिष्य आ चोदपतगेभ्यस्तत् तेऽन्नम् । आपो वाग इति ।
न ॥ वा अयानन जग्य भवति, नानन्नं प्रतिगृह्येत, य एवमेतदनस्यान्न
वेद । तद्विद्वान् धोत्र्या अग्न्यन्न आचामन्त्यसिवाऽऽचामन्ति एतमेव तदनमन्नं
कृतो भवन्ते ॥

ग्रौपनिषदिक गद्य की उस नाटकीय शैली से स्पष्ट होता है कि उपनिषद्-कालीन यह शैली सहिताकालीन सवादात्मक शैली तथा लौकिक सस्कृत में लिखित नाटकीय शैली के बीच की वह कड़ी है, जो दोनों को जोड़ती है। लौकिक सस्कृत के नाटको का सम्बन्ध एकदम सहिताकालीन कथात्मक या नाटकीय सवादात्मक शैली से न होकर उपनिषद्कालीन उस नाटकीय शैली से रहा होगा। इस प्रकार सहिता-काल में अकुरित नाटकीय विद्या उपनिषद्काल में पल्लवित हुई, और लौकिक सस्कृत में विशालवृक्ष के रूप में पनपी। अतः लौकिक नाटकीय शैली का जो सीधा सम्बन्ध वेद में प्राप्त 'यम यमो सवाद' इत्यादि से जोड़ते हैं, वे उपनिषद्कालीन इस शैली को भूलें हुए हैं।

उपर्युक्त विवेचन से गद्य-रचना की प्रत्येक शैली का उत्तरवर्ती साहित्य पर पूरा प्रभाव परिलक्षित होता है।



उपसंहार

इस अध्ययन में सिद्ध होना है कि उपनिषद् साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है तथा इनका काव्यात्मक अध्ययन इनमें निहित गहन दर्शन को समझने में सहायक हो सकता है। तथा च, प्रतीत होता है कि परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य के सभी तत्त्वों के बीज इनमें विद्यमान हैं।

उपनिषदों के ऋषि वास्तविक कवि थे। वे लक्षणग्रन्थों के अभाव में भी, ब्रह्मज्ञान की मस्ती में, सुन्दर काव्य-रचना कर गए। प्लेटो ने भी कहा है कि "सभी धार्मिक तथा आध्यात्मिक काव्यों का मूल 'उन्मादक दैवी उत्प्रेरणा' है। इन महान् काव्यों के रचयिताओं ने काव्यरचना में उत्कर्ष किसी कला के नियमों का पालन करके प्राप्त नहीं किया था, अपितु आनन्दमय ईश्वरीय ज्ञान की मस्ती में मधुर गीत गाए थे।"^१

अतः इस बचन में अनिश्चयवक्ति न होगी कि,

वेदोऽस्तिस काव्यमूलम् ।

१ "The authors of those great poems do not attain to excellence through the rules of any art but they utter beautiful melodies of verse in a state of inspiration, and, as it were, possessed by a spirit not their own"

(Plato in his *Ion* quoted by R D Ranade in *A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy*, Oriental Book Agency, page 9, Poona, 1926)

परिशिष्ट

(क) उपनिषदों के उपमान

किमी भी अभिव्यक्ति को सुन्दर रूप देने तथा उसे बोधगम्य बनाने के लिए उपमानों का अत्यधिक महत्व है। ऋग्वेद से लेकर आज तक सभी कवि अपनी उक्ति को उचित उपमानों से अलंकृत करते आए हैं। कालिदास के उपमान तो प्रसिद्ध हैं ही, परन्तु उपनिषदों के ऋषि भी उपयुक्त उपमानों की योजना में किसी में कम नहीं हैं। ऋग्वेद के समय से उन्हें उपमान-योजना की सुव्यवस्थित परम्परा धरोहर के रूप में मिली थीर वही परम्परा कालिदास आदि परवर्ती कवियों को प्राप्त हुई। जिस प्रकार ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के उपमान सार्वजनिक जीवन के विविध क्षेत्रों से चयन किए गए हैं, उसी प्रकार उपनिषद् के ऋषि ने भी अपने आध्यात्मिक चिन्तन तथा गहन दर्शन को बोधगम्य तथा सुन्दर बनाने के लिए अपने समय के वातावरण से ही उपयुक्त उपमानों को ग्रहण किया है। ये उपमान बहुधा ऐसे पदार्थ हैं जो ऋषि के जीवन में प्रतिदिन व्यवहार में आते थे, जैसे यज्ञ, अग्नि, हवि, चरु आदि अथवा जो उस समय के वातावरण में जन-साधारण के दर्शन तथा अनुभव का विषय थे, जैसे कि आकाश-मण्डल में उदीयमान सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र तथा भूमण्डल में प्रवहमान नदियाँ, उन्नत पर्वत, वृक्ष, पशु, पक्षी, याता-यात के साधन अश्व, रथ आदि तथा व्यवहार में आने वाले अन्य पदार्थ जैसे क्षुर, पाश, मुज, इषीका आदि। इन उपमानों को हन स्थूल रूप में पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) दिव्य, (२) वनस्पति, (३) जीवजन्तु, (४) दैनिक व्यवहार में आने वाले पदार्थ तथा (५) अन्य।

१. दिव्य

सूर्य

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुः ।

—कठ० ५. ११

वज्र

महद्भयं वज्रमुद्यतम् ।

—कठ० ६. २

मरीचि

यथा गार्ग्यं मरीचयोऽङ्गस्यास्तं गच्छन् ।

—प्रश्न० ४. २

रश्मि

एवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोको गच्छन्तीम चामु च ।

—छा० ८ ६ २

द्यौ

यथा द्यौरिन्द्रण गभिणी ।

—बृ० ६ ४ २२

विद्युत्

यथा मवृद्धिद्युत्तम् ।

—बृ० २ ३ ६

२. वनस्पति तथा अन्य प्राकृतिक पदार्थ

अश्वत्थ

ऊर्वमूलोऽश्वत्थाम्ब एषोऽश्वत्थ सनातन ।

—कठ० ६ १

भुज इषोका

भुजादिवेपीका धैर्येण ।

—कठ० ६ १ १७

वश

अमी वा आदित्यो देवमधु । तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवश ।

—छा० ३ १ १

ग्रीहि यव, सयंव, श्यामाक तण्डुल

एष म आरमान्तर्हृदयऽणीयाऽग्रीहेर्वा यवाद्वा सयंपाद् वा श्यामा-
वाद्वा श्यामावतण्डुलाद् वा ।

—छा० ३ १४ ३

सस्य

सम्यमित्र मर्त्यं पच्यते ।

—कठ० १ ६

पुण्डरीक

तस्य ह्रितस्य पुरुषस्य रूप यथा पुण्डरीकम् ।

—बृ० २ ३ ६

पृक्ष, पर्णं, रवश्च, रत्न शकल, कीनाट, दाह

यथा वृक्षो वनस्पतिस्तर्धेव पुरुषाऽमृषा ।

तस्य सामानि पर्णानि त्वगस्थोत्पाटित्वा वहि ॥

त्वच एवास्थ रुधिर प्रस्पन्दि त्वच उत्पट ।
तस्मात्तदातृष्णात् प्रैति रसो वृक्षादिवाहतात् ॥
मासान्यस्य शकराणि किनाट स्नाव तत्स्थिरम् ।
अस्योन्यन्तरतो दारुणि मज्जा मज्जोपमा कृता ॥

—बृ० ३ ९ २८

वृक्ष

वृक्ष इव स्तब्धो दिरि तिष्ठत्योस्तेनेद पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ।

—श्वे० ३ ९

घ्रात्र, उदुम्बर, पिप्पल

तद्यथा घ्रात्र उदुम्बर वा पिप्पल वा वन्द्यतात् प्रमुच्यते ।

—बृ० ४ ३ ३६

घोषधि

यथा पृथिव्यामोषधय सम्भवन्ति ।

—मु० १ १ ७

घण्डूप (मधुकोश, तु० शाकर)

तस्य घोरेव तिरस्नीनवशोऽन्तरिक्षमपूप ।

—द्या० ३ १ १

उदक

ग्रथोदक दुर्गे वृष्टम् ।

—कठ० ४ १४

अग्नि

अग्निर्यथैको भुवन प्रविष्ट ।

—कठ० ५ ९

वायु

वायुर्यथैको भुवन प्रविष्ट ।

—कठ० ५, १०

ज्योति

अगुष्ठमात्रं पुरुषो ज्योतिरिवाधूमक ।

—कठ० ४ १३

नदी, समुद्र

नद्य स्यन्दमाना समुद्रायणा. समुद्रं प्राप्यास्त गच्छन्ति ।

—प्रश्न० ६ ५

ऊर्मि, घ्राचतं (भवर), घोष

पचस्रोतोन्बु पचयोन्मुग्रवक्त्रा पचप्राणोमि पचबुद्ध्यादिभूलाम् ।

पचावर्ता पचदुःखौघवेगा पचाशद्भेदा पचपर्वामघीम ॥

—श्वे० १ ५

गिरि

कीर्त्ति पृष्ठ गिरेरिव ।

—तै० १ १०

छाया, आतप

छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ।

—कठ० ६ ५

तमस (अन्धकार)

मृत्युर्व तम ।

—बृ० १ ३ २८

३. जीवजन्तु

मक्षिका, मधुकर

तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तम् ।

—प्रश्न० २ ४

वयासि

स यथा सोम्य वयासि वासोवृक्ष सप्रतिष्ठन्ते ।

—प्रश्न० ४ ३

पादोदर (सर्प)

यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते ।

—प्रश्न० ५ ५

ऊर्णनाभि

यथोर्णनाभि मृजते गृह्णते च ।

—मु० १ १ ७

तन्तुनाभ

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभि प्रधानजं स्वभावतो देव एव स्वमावृणोति ।

—श्वे० ६. १०

सुपर्णा (पक्षी)

इह सुपर्णा समुद्रा सखाया ।

—मु० ३ १ १

श्वेन (बाज)

श्वेनो जवसा निरदीयम् ।

—ऐत० २ ५

प्रवि (भेड़), इन्द्रगोप

यथा पाण्ड्वाविकम्, यशेन्द्रगोप ।

—बृ० २ ३ ६

तृणजलायुक्ता

तद्यथा तृणजलायुक्ता तृणस्यान्त गत्वा ।

—बृ० ४ ४ ३

धेनु

वाच धेनुमुपासीत ।

—बृ० ५ ८ १

ह्य (घोड़ा)

इन्द्रियाणि ह्यानाहु ।

—कठ० ३ ४

ऋषभ

तस्या प्राण ऋषभो मनो वत्स ।

—बृ० ५ ८ १

महामत्स्य

तद्यथा महामत्स्य उभे कूले अनुसचरति पूर्वं चापरं चैवनेवाप
पुरुष एतावुभावन्तावनुसचरति ॥

—बृ० ४. ३ १८

हस

प्राणेन रक्षन्नुवर कुलाय वहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा ।

स ईयतेऽमृतो यत्र काम हिरण्मय पुरुष एकहस ॥

—बृ० ४ ३ १२

४. दैनिक व्यवहार में आने वाले पदार्थ

सृका

सृका चेमामनेवरूपा गृहाण ।

—कठ० १ १६

पाश

स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य ।

—कठ० १ १८

उडुप

ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् सोतासि सर्वाणि भयावहानि ।

—श्वे० २ ८

प्लवा

प्लवा ह्यते अदृढा यज्ञरूपा ।

—मु० १ २ ७

भन (शकट)

तद्ययाञ्ज सुसमाहितम् ।

—वृ० ४ ३ ३५

रय

आत्मान रयिन विद्धि शरीर रयमव तु ।

—कठ० ३ ३

प्रग्रह

भन प्रग्रहमेव च ।

—पठ० ३ ३

क्षुर

क्षरस्य धारा निशिता दुरत्यया ।

—कठ० ३ १४

आदर्श

यथाऽऽदर्शो तथाऽऽत्मनि ।

—कठ० ६ ५

घनु क्षर

घनुगहीत्वौपनिषद महास्त्र क्षरम् ।

—मु० २ २ ३

अऽमा

यथाऽऽमानमायणमृत्वा विध्वंसते ।

—छा० १ २० ८

अधदृगल (द्विदल धम्म का एक दल तु० क्षर)

तम्मादिदमधदृगलमिव स्य इति ह स्माह याज्ञवल्क्य ।

—वृ० १ ४ ३

माहारजन वास (कुमुभे स रमा वस्त्र)

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूप यथा माहारजन वास । —वृ० २ ३ ६

मै-घवलिष्य (नमक का टुकड़ा)

म यथा मैन्धवग्निय उदर प्राप्त ।

—नृ० २ ४ १२

घात्रेष्वा

यथाद्वैधारग्नेरभ्याहितात् ।

—बृ० २ ४ १०

अरणी

हिरण्मयी अरणी याम्या निर्मन्थतामश्विनी । —बृ० ६ ४. २२

समिद्ध (यज्ञ)

मम समिद्धेऽहोपी प्राणापानी त आददे । —बृ० ६ ४ १२

पद्बोशशकु (गाव वाघने का खूटा)

यथा सुह्य पद्बोशशकून् । —छा० ५ १ १२

दधि

तिलेषु तैल दधनीव सर्पि । —श्वे० १ १५

सर्पि, क्षीर

सर्वन्यापिनमात्मान क्षीरे सर्पिर्वापितम् । —श्वे० १. १६

दीप

यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्व दीपोपमेनेह युक्त प्रपश्येत् ।
—श्वे० २ १५

श्रोत्र

यस्य ब्रह्म च क्षत्र च उभे भवत श्रोत्र ।
मृत्युर्यस्योपसेचन क इत्या वेद यन्न स ॥ —कठ० २ २५

मण्ड (मांड)

धृतात्पर मण्डगिवात्मसूदम ज्ञात्वा शिव सर्वभूतेषु गूढम् ।
—श्वे० ४ १६

चक्र

देवर्त्यप महिमा तु लोके येनेद भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् । —श्वे० ६ १

घर्म

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवा । —श्वे० ६ २०

अर

अरा इव रथनाभौ सहता यत्त नाड्य ।

—मु० २० २ ६

समिद्

तस्यादित्य एव समिद्द्रव्यम् ।

—बृ० ६० २० ९

५. विविध

अन्ध

अन्धैर्नैव नीयमाना यथाब्धा ।

—कठ० २० ५

गर्भ, गर्भिणी

गर्भं इव सुभूतो गर्भिणीभि ।

—कठ० ४ ८

द्वार, पुर

नवद्वारे धुरे देही हसो लेलायते वहि ।

—श्वे० ३ १८

माता, पुत्र

मातेव पुत्रान् रक्षस्व ।

—प्रश्न० २० १३

राजा, सेनापति, सैन्य

तद्यथा राजान प्रयियामन्तमुग्राः प्रत्येनम मृतग्रामप्योऽभि-
ममायन्ति ।

—बृ० ४ ३० ३८

पेशस्कारी (स्वर्णकार)

तद्यथा पेशस्कारी पेशसो भाल्लामपादाय ।

—बृ० ४४४

सेतु

अभूतम्य पर सेतु दग्धेन्धनमिवानलम् ।

—श्वे० ६० १९

आराध

वुद्धेर्गुणेनाऽऽत्मगुर्णेन चैव आराधमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्ट ।

—श्वे० ५ ८

मास, अहर्जंरम् (संवत्सर, तु० शंकर)

यथाप प्रवता यन्ति यथा मासा अहर्जंरम् ।

—तै० १. ४

अण्ड

तस्याभितप्तस्य मुख निरभिद्यत यथाण्डम् । —ऐत० १ १. ४

शरीर के अंग (शिर, पुच्छ, सक्थी, पार्श्व, पृष्ठ, उदर, उर)

स द्वेधाऽऽत्मान व्यकुरुत । आदित्य तृतीय, वामु तृतीयम् । स एष प्राणस्वेधा विहित । तस्य प्राची दिक् शिरोऽसौ चासी चेमाँ । अथास्य प्रतीची दिक् पुच्छमसौ चासौ च सक्थ्यो । दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे । द्यौ पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुर ।

—बृ० १ २ ३

स्तन

य एष स्तन इवालम्बते ।

—तै० १. ६

केश

ता वा भस्म्यंता हिता नाम नाह्यो यथा केश सहस्रधा भिन्न-
स्तावता अणिम्ना तिष्ठन्ति ।

—बृ० ४ ३. २०

(ख) छन्द

काव्य का यद्यपि व्यापक अर्थ में प्रयोग बहुत प्राचीन समय से होता आया है किन्तु आग चलकर इसका अर्थ समुचित होकर एक मात्र छन्दावद्ध रचना के लिए ही होने लगा, जिससे आज व्यवहार में इस शब्द का प्रयोग पद्यवद्ध कविता के अर्थ में ही विशेष रूप से होता है। काव्य के लिए जो मुख्य तत्त्व गिनाए गए हैं, उनमें छन्द का भी अपना एक विशिष्ट स्थान है।

छन्द का अर्थ है छन्दयति आह्वयति इति छन्द अर्थात् जो पाठका का प्रसन्न करता या आनन्द दता है, वह छन्द है।

नित्यप्रति व्यावहारिक जीवन में देखा जाता है कि लय तथा ताल के साथ की जाने वाली रचना न केवल मनुष्य को ही, अपितु पशु पक्षियों तक का मुग्ध करने वाली होती है। यही कारण है कि जब आनन्दविभार हाकर ऋषिया ने सर्वप्रथम अपने हृदय के उद्गारों को अभिव्यक्त किया, तो वे उद्गार छन्दावद्ध ही थे।^१ सम्पूर्ण ऋग्वेद, जो कि विश्व के साहित्य में सर्वश्रेष्ठ और आदिम ग्रन्थ माना जाता है, उसकी रचना छन्दोवद्ध ही है। आदिकवि वारमीनि ने भी ऋचमिधुन में से एक का व्याध द्वारा भारे जाने पर, दूसरे का करुण श्रन्दन सुनकर उससे करुणाद्रचित हाकर, व्याध का जो शाप दिया वह छन्दावद्ध ही था।^२

छन्द का वद क पङ्क्ति में स्थान दिया गया है और उससे वेद का पैर माना गया है।^३ काव्यशास्त्र के आदिम आचार्य भरत मुनि के मत

१ अग्निमीले पुरोहित यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।

होतार रत्नघातमम् ॥ (गायत्रीछन्द)

२ मा निषाद प्रतिष्ठां स्वमगम शापयतो सया ।

यत ऋचमिधुनादेवमवधी काममोहितम् ॥ (वा० रा०)

३ छन्द वाचो मु वेदस्य ।

से तो सम्पूर्ण वाङ्मय छन्द ही है।^१ काव्य के विषय में तो कहना ही क्या है। उपनिषद्, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, कथा-साहित्य, इतिहास, पुराण, ज्योतिष, ग्राम्यवेद, अयंशास्त्र आदि विषयों को भी सर्वप्रथम छन्दोबद्ध ही रचा गया है। इसने छन्द को व्यापक माहात्म्य तो तिरु होता ही है, साथ ही भारतीय जीवन के विभिन्न अंगों के नियमित और व्यवस्थित रूप की ओर भी स्पष्ट संकेत मिल जाता है। यही कारण है कि क्या लौकिक क्या वैदिक, दोनों प्रकार के ही कवियों ने बड़े आदर के साथ छन्दों का प्रपनाया। छान्दोग्य उपनिषद् में एक प्रसंग आया है, जिसमें छन्द के अर्थ, प्रयोजन, सामर्थ्य तथा माहात्म्य पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।^२

१. छन्दों के भेद

छन्द दो प्रकार के पाये जाते हैं—वैदिक तथा लौकिक। वैदिक छन्दों की सत्या सीमित रही है। वैदिक छन्दों में यक्षों के आधार पर उनकी गणना की जाती है। गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती इत्यादि छन्द प्रकारभेद से ही भिन्न-भिन्न हैं।

लौकिक छन्द वर्णिक तथा मात्रिक भेद से दो प्रकार के माने जाते हैं। केवल मात्राओं के आधार पर माने जाने वाले मात्रिक तथा मात्रा और वर्णों की समानावृत्ति पर माने जाने वाले वर्णिक छन्द कहलाते हैं। आर्या इत्यादि मात्रिक और इन्द्रवज्रा इत्यादि वर्णिक छन्द हैं।

२. उपनिषदों में छन्दोयोजना

छन्दों की दृष्टि से जब उपनिषदों का अध्ययन किया जाता है तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैदिक तथा लौकिक साहित्य के बीच

१. छन्द होनो न शब्दोक्ति, न छन्दः शब्दवर्जितम् ।

(नारदशास्त्रम्)

२. देवा धे मृत्योश्चिन्ततस्त्रयो विद्या प्राविशान् । ते छन्दोभिरवधादयन् ।

यदेभिरवधादयन्तच्छन्दतां छन्दस्तन्म् ।

(ऽ३० १.४.२)

छन्द इत्यादि की बड़ी जोड़ने वाले उपनिषद् ही हैं। वैदिक छन्दों को छोड़कर एकदम लौकिक छन्दों की रचना नहीं हुई, अपितु वैदिक से धीरे-धीरे लौकिक छन्दों की ओर प्रवृत्ति हुई। यही कारण है कि उपनिषदों में कई-एक ऐसे छन्द मिलते हैं जो लौकिक तथा वैदिक छन्द का मिश्रित रूप ही हैं। कुछ एक उपनिषदों में तो लौकिक छन्द वैदिक से एकदम पृथक् हो गए हैं। पर केन इत्यादि उपनिषदों में न वैदिक छन्दों का ही शुद्ध रूप प्राप्त होता है, न लौकिक का। यथा—

श्रोत्रस्य श्रोत्र मनसो मनो यद वाचो ह वाच स उ प्राणस्य प्राण ।

बभूवद्वचक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्मात्लोकादमृता भवन्ति ।

—केन० १ २

यहां श्रोत्रस्य श्रोत्र मनसो मनो यद इस पाद में इन्द्रवज्रा छन्द है। किन्तु, अगले पाद वाचो ह वाच स उ प्राणस्य प्राण में एक वर्ण बढ जाने से इन्द्रवज्रा समाप्त हो गया है।

इसी प्रकार—

■ तस्मिन्नेवाऽऽकारो स्त्रियमाजगाम यदुगोममानामुमा हैमवतीम् । तां होवाच किमेतद्व्यक्षमिति ॥

—वेन० ३ ९

इसमें आपाततः वैदिक छन्द की प्रतीति भले ही हो, पर उसके लक्षण नहीं पड़ते। वही-वही केवल उच्चारण के भेद से छन्द की स्थिति ठीक बैठ जाती है। जैसे—

काल त्वमावो नियतियदुच्छा भूतानि योनि पुष्टय इति विन्त्यम् ।

सयोग एषा न त्वात्मभावाद् आत्माऽप्यनीश मुषदु षटेतो ॥

—श्वे० १ २

यहां केवल द्वितीय पाद में पुष्ट्येति इस प्रकार छन्द की दृष्टि से हाना चाहिए, तथा तृतीय पाद में न तु आत्मभावाद् इस प्रकार पढ़ने पर इन्द्रवज्रा छन्द ठीक बैठ जाता है।

बठ, श्वेताश्वतर, मुण्डन इत्यादि उपनिषदों में कई एक छन्द मर्यादा लौकिक ही प्राप्त होने हैं। उपनिषद्-साहित्य का प्रारम्भ

भी लौकिक साहित्य के समान अनुष्टुप् छन्द से ही होता है । ईश उपनिषद् को यदि उपनिषदों में सर्वप्रथम माना जाय, तो निश्चय ही,

ईशा वात्समिद सर्वं यद्विद्वज्जगत्पा जगत् ।

तेन त्वक्तेन भुजीष्य मा एष कस्यस्त्रिबन्धनम् ॥

—ईश० १

यह मन्त्र छन्दोबद्ध ही है ।

धीरे-धीरे ऋषियों की प्रवृत्ति गद्य की ओर हुई और फलतः पद्य के साथ गद्य में भी रचना होने लगी । इसका परिणाम यह निकला कि पद्य और गद्य के बीच की रचना न पद्य ही रह सकी न गद्य । वह रचना पद्यात्मक गद्य के रूप में सामने आई, जो भागे चलकर गीति-साहित्य का आधार बनी ।

उपनिषदों में उपलब्ध लौकिक छन्दों के कतिपय उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं ।

अनुष्टुप्

श्लोके षष्ठं गुह्यं सर्वत्र सप्त पञ्चमम् ।

द्विचतुष्पादयोर्द्वैत्य सप्तमं त्रीर्धन्ययो ॥

उदाहरण—

अनुर्पा नाम ते लोका अग्रेण तमसाऽऽवृता ॥

तास्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महन्ते जना ॥

—ईश० ३

इन्द्रवज्रा

इन्द्रवज्रा का लक्षण करते हुए लिखा गया है कि—

स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ न ।

इन्द्रवज्रा में दो तगण, जगण और दो गुरु होते हैं । जैसे—

आरभ्य कर्मणि पुणान्वितानि,

भावास्तत्र सर्वान् विनियोजयेत् ।

तेषामभावे कृतकर्म नाश,

कर्म क्षये याति स तत्त्वतोऽन्य ॥

—श्वे० ६ ४

यहा यद्यपि प्रथम पाद के अन्त में गुरु होना चाहिए था, पर पादान्तस्थो विकल्पेन के सिद्धान्तानुसार छन्द में आवश्यकतानुसार पादान्त वर्ण ह्रस्व भी गुरु एव गुरु भी ह्रस्व मानने की मान्यता से यहा कोई दोष नहीं ।

उपजाति

इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा का मिश्रित रूप ही उपजाति छन्द कहलाता है । कठोपनिषद् तथा ज्वेताश्चतर में इसके अनेकों उदाहरण प्राप्त हैं । यथा—

स वृक्षकालावृत्तिभिः परोऽन्वो
यस्मात् प्रपञ्च परिवर्तनेऽयम् ।
धर्मावह पापनुद मयेश,
ज्ञात्वाऽऽत्मस्यममृत विरवधाम् ॥

—श्वे० ६०६

यहा पहले पाद में उपेन्द्रवज्रा तथा दूसरे पाद में इन्द्रवज्रा होने में उपजाति छन्द है ।

इसी प्रकार,

काली कराली च मनोजवा च
सुलोहिता या च सुधूपवर्णा ।
स्फुलिगिनी विश्वेश्वरी च देवी
सेतायमाना इति सप्त जिह्वा ॥

—मु० १२४

तथा,

स्वप्नान्त उच्चायत्तमीयमानो
रूपाणि देव गुरुने बहूनि ।
उत्तेष स्त्रीभि सह भोदमानो
जगदुने पाणि भवानि पापन् ॥

—यू० ४३१३

इन मन्त्रों में भी उपजाति छन्द है ।

वशस्य

वशस्य का लक्षण इस प्रकार है—

जतो तु वशस्यमुदीरितं करो ।

उदाहरण—

समे शुबो शर्करावह्निवास्तुका
विर्वाजिते शब्दजलम्भयादिभिः ।
मनोनुकूले न तु चक्षुषीदने,
गृहानिवाजाभ्यर्चने प्रयोजयेत् ॥

—श्वे० २. १०

जैसे पहले लिखा जा चुका है एक वर्ण के अथवा ह्रस्व, दीर्घ मात्रा के परिवर्तन में उपनिषदों में कई एक ध्वनों की योजना ढंढी जा सकती है जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है यहाँ केवल 'शर्करा' के 'रा' में मात्रा के ह्रस्व होने से ध्वन् पूर्ण हो जाता है ।

(ग) सूक्तियां

| | |
|--|---------------|
| अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते । | —ईश० ११ |
| हिरण्मयेन पात्रेण सत्यम्यापिहितं मुखम् । | —ईश० १५ |
| आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् । | —केन० २. ४ |
| सस्यमिव मर्त्यं पच्यते मस्यमिवाऽऽजायते पुनः । | —कठ० १. ६ |
| शोनातिगो मोदते स्वर्गं नोके । | —कठ० १. १२ |
| अपि सर्वं जीवितमल्पमेव । | —कठ० १. २६ |
| न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः । | —कठ० १. २७ |
| जीर्यन् मर्त्यं वयस्यस्य प्रजानन् । | |
| अतिदीर्घं जीविते का रमेत ॥ | —कठ० १. २८ |
| न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवः तत् । | —कठ० २. १० |
| महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति । | —कठ० २. २२ |
| नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः । | —कठ० २. २३ |
| उत्तिष्ठन् जाग्रत प्राप्य वरान् निरोधत । | —कठ० ३. १४ |
| तपसा चीयते ब्रह्म । | —मु० १. १. ८ |
| अन्धर्नैव नीयमाना ययान्धा । | —मु० १. २. ८ |
| मर्त्यमेव जयन्ति नानृतम् । | —मु० ३. १. ६ |
| नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः । | —मु० ३. २. ४ |
| अन्नेन वाच मर्त्ये प्राणा महीयन्ते । | —तै० १. ५ |
| परोक्षप्रिया इव हि देवाः । | —ऐत० १. ३. १४ |
| यो वै भूमा तत्पुण्यम् । | —छा० ७. २३. १ |

| | |
|---------------------------------|-------------|
| ग्राह्यारणुद्धौ सत्त्वशुद्धि । | —छा० ७ २६ २ |
| असतो मा सद् गमय । | —बृ० १ ३ २८ |
| तमसो मा ज्योतिर्गमय । | —बृ० १ ३ २८ |
| मृतपोर्माऽमृत गमय । | —बृ० १ ३ २८ |
| अमृतत्वस्य तु नाऽऽशास्ति विलन । | —बृ० २ ४ २ |
| पापकारी पापो भवति । | —बृ० ४ ४. ४ |
| नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय । | —श्वे० ३ ८ |

अनुशीलित ग्रन्थ-सूची

BIBLIOGRAPHY

१. प्राचीन साहित्य

१.१ वेद और उपनिषद्

अथर्ववेदसंहिता, वैदिक धर्मालय, मजबोर, मवत् २००१

ऋग्वेदसंहिता, " " सवत् १९९८

यजुर्वेदसंहिता, " " मवत् १९९९

सामवेदसंहिता, " " सवत् २००४

ईशाविंशोत्तरसतोपनिषद्, बम्बई, १९४८

ईशोपनिषद्, श्रीमच्छंकरानार्यकृत भाष्यसहित, बीता-प्रेस, गोरखपुर, सवत् १९९४

एकादशोपनिषत्संग्रह, स्वामी सत्यानन्द, लाहौर, सवत् १९९५

ऐतरेयब्राह्मण, पूना, १९३०

ऐतरेयोपनिषद्, श्रीमच्छंकरानार्यकृत भाष्यसहित, बीता-प्रेस, गोरखपुर, १९९४

कठोपनिषद्, " " " "

केनोपनिषद्, " " " "

छान्दोग्योपनिषद्, " " " "

तैत्तिरीयोपनिषद्, " " " "

प्रश्नोपनिषद्, " " " "

शृङ्गारण्यकोपनिषद्, " " " "

माण्डूक्योपनिषद्, " " " "

मुण्डकोपनिषद्, " " " "

श्वेताश्वतरोपनिषद्, " " " "

१२ काव्यशास्त्र

अग्निपुराण, सपा० मनसुखराय मोर, बलवत्ता, १९१७

अभिनव भारती, भरत नाट्यशास्त्र पर अभिनवगुप्तकृत टीका, सपा० आचार्य
बिदेदेवर, दिल्ली १९६०

अलङ्कारकोस्तुम, ब्रह्मवर्णपुरकृत, सपा० शिवप्रसाद भट्टाचार्य, राजदाही (बंगाल),
१९२६

अलङ्कारसंस्थ, रघुवङ्कत, अपरगुप्त ब्रह्मपिपी टीका सहित, (१) सपा०
गिरिजाप्रसाद द्विवेदी, बम्बई, १९३९, (२) सपा० रामचन्द्र द्विवेदी,
(डा०), दिल्ली, १९६५, (३) विद्या चक्रवर्ती कृत सजीवनी टीका सहित,
सपा० बी० रामचन्द्र, (डा०), दिल्ली, १९६५

एकवर्ती, विद्याधरकृत, सपा० के० पी० त्रिवेदी, बम्बई, १९०३

ओषिन्ध्रविचारचर्चा, श्रीमद्भक्त, (१) सपा० आचार्य श्री ब्रजमोहन भा,
बाराणसी—१, १९६५, (२) सपा० पण्डित दुर्गाप्रसाद, काव्यभाला-
गुच्छक, बम्बई, १९२९

काव्यप्रकाश, मम्मटकृत, (१) सपा० आग्रनाथार्य भन्वरीकर, पुना, १९६५ ;
(२) सपा० मन्मथ गद्गद, १, २, ३ तथा १० उल्लाम, बम्बई-७
१९३९ ;

(३) सपा० मुक्तावर १, २, ३ तथा १० उल्लाम, बम्बई, १९४१ ;

(४) सपा० रामचन्द्र द्विवेदी (डा०), दिल्ली, १९७०

काव्यमीमांसा, राजशेखरकृत, (१) सपा० केशरनाथ शर्मा सारस्वत, पटना,
१९५५, (२) सपा० सी० डी० दत्तान तथा प० भार० ए० पाटनी,
बनौरा, १९३४

काव्यादर्श, दण्डीकृत, (१) सपा० २० रेड्डी सारस्वती, पुना, १९३८ ; (२) सपा०
ठाकुर तथा नर, दरभंगा, १९५७

काव्यानुशासन, शम्भुधरकृत, सपा० पारीश तथा कुन्दर्ग, बम्बई, १९६५

काव्यालङ्कार, भासकृत, (१) सपा० नागनाथ पाटनी, तबोर, १९२७,
(२) सपा० देवेन्द्रनाथ शर्मा, पटना, १९६२

काव्यान्तिकार, चन्द्रकृत, नमितावुरचिन टीकासहित, सपा० म० म० पण्डित
दुर्गाप्रसाद तथा वामुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर, बम्बई, १९०९

काव्यान्तिकार सारमण्डल चन्द्रकृत, प्रतिहारचन्द्रावरचिन लघुवृत्तिटीकासहित,
सपा० आर० टी० बणहट्टी, पूना, १९२५

काव्यान्तिकारमूत्र (बुलि) वामनकृत, गोपेन्द्रनिरुमुशासकृत कामपेनुटीका-
सहित (१) सपा० जीवनन्द विद्याभासर, कसकता, १९०२,
(२) सपा० वेचन भा, वाराणसी

कृष्णलयात्मक, अप्पयदीक्षित कृत, सपा० वामुदेव नर्मा पणशीकर, बम्बई,
१९३७

कव्यालोक, आनन्दवर्धनकृत, अभिनवपुष्पकृत लोचनटीकासहित, (१) सपा०
पट्टाभिराम शम्भूजी बनारस, १९४०, (२) उद्योग १, सपा०
कुम्भस्वामी शम्भूजी, मद्रास, १९४४

नाट्यशास्त्र, भरतकृत, अभिनवमाशुटी टीका सहित, (१) सपा० एम० रामकृष्ण
कवि, बहीरा, (२) सपा० पण्डित केशरनाथ, काव्यमालागुच्छक,
बम्बई, १९४३

प्रतापश्रीम, विद्यानाथकृत, कुमारस्वामीरचिन रत्नापणटीकासहित, सपा० बी०
रायबन, (डॉ०), मद्रास, १९७०

रसगगाधर, जयन्माधकृत, नागेशभट्टकृत टीकासहित, (१) सपा० दुर्गाप्रसाद
तथा परब, काव्यमालागुच्छक १२, बम्बई, १९३९,

(२) सपा० बदरीनाथ भा तथा मदनमोहन भा, बनारस, १९४५

सक्रियजीवित, कुन्तलकृत, सपा० सु० कु० डे०, कलकत्ता, १९६१

स्यक्तिविशेष, महिमभट्टकृत, सपा० टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्,
१९०९

शृङ्गारप्रकाश, भोजगजकृत, मरस्वनीकम्भाभरण, काव्यमालागुच्छक, बम्बई,
१९३४

साहित्यदर्पण विन्वनाष्टकृत (१) १ से ६ परिच्छेद तक, सपा० कविरत्न
श्री सिवदत्त बम्बई सवन १९७३, (२) नरा० पी० वी० वाणे, १,२
तथा १० परिच्छेद देहली, १९६५, (३) सपा० जीवनानन्द विद्यासागर
नट्टाचान बलकत्ता, १९६५

२. नवीन साहित्य

२.१ हिन्दी ग्रन्थ

गणशम्भुम्बरक देगराण्डे भारतीय साहित्यशास्त्र (हिन्दी लेखण), बम्बई,
१९६०

जगन्नाथ त्रिपाठी आचार्य इप्पी एव सस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहासदर्शन,
इलाहाबाद १९६८

बनदेव उपाध्याय भारतीय साहित्यशास्त्र दो भाग, पटना

बनदेव उपाध्याय सस्कृत आलोचना प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग, उत्तर-
प्रदेश १९७०

मानदत्त त्रिवेदी अथर्ववेद—एक साहित्यिक अध्ययन, विश्वेश्वरानन्द वैदिक
शोध-मस्थान, होशियारपुर १९७३

रामत्री उपाध्याय प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका,
इलाहाबाद, १९६६

रामत्री उपाध्याय भारतस्य सांस्कृतिकविविधि

गणपति त्रिपाठीनार संमेलन की ओर—यदुप्रति पटना १९६०

2.2 English Works

Bhattacharya Sudhisankar *Imagery in the Mahabharata*,
Calcutta, 1971

Bhattacharya, S *Studies in Indian Poetics*, Calcutta, 1964.

Bloomfield *The Religion of Veda*

- De S K *History of Sanskrit Poetics*, Calcutta 1960
 „ *Problems of Sanskrit Poetics*, Calcutta, 1959
 „ *Aspects of Sanskrit Literature*, Calcutta, 1959
- Dwivedi, R C *Principles of Literary Criticism in Sanskrit*
 (*Papers of a Seminar at Udaipur, December, 1968*),
 Delhi 1969
- Gerow Edwin *A Glossary of Indian Figures of Speech*, the
 Hague, 1971
- Gnoli, R *The Aesthetic Experience According to Abhinava*
Gupta, Varanasi, 1968
- Gonda J. *Stylistic Repetition in the Veda*, Amsterdam 1959
 „ *Epithets in the Rgveda*, The Hague, 1959.
 „ *Remarks on the Similes in Sanskrit Literature*,
 Leiden 1949
- Hiriyanda, M *Art Experience*, Mysore, 1951
- Hume, R E *The Thirteen Principal Upanishads*, Oxford,
 1954
- Kane, P V *History of Sanskrit Poetics*, Delhi, 1961.
- Krishna Chaitanya *Sanskrit Poetics*, Asia Publishing House,
 1965
- Kurpuswami Shastri, S *Highways and Byways of Literary*
Criticism in Sanskrit, Madras, 1945
- Lahiri, P C *Concepts of Riti and Gunas in Sanskrit Poetics*,
 Dacca, 1937
- Limaye, V P and Vadekar R D *Eighteen Principal Upanishads*, vol. I, Poona, 1958
- Mainkar, T G *Some Poetical Aspects of the Rgvedic Repetitions*, Poona, 1966
- Masson and Patvardhan *Santa Rasa and Abhinava Gupta's*
Philosophy of Aesthetics, Poona, 1969

- Masson and Patvardhan *Aesthetic Rapture*, Vol I and II, Poona, 1970
- Mukherji Rama Ranjan *Imagery in Poetry: An Indian Approach*, Calcutta, 1972
- Nobel J, *The Foundations of Indian Poetry and their Historical Development*, Calcutta, 1925.
- Pandey K C *Comparative Aesthetics*, Vol I, Varanasi, 1962
- Radhakrishnan, S *The Principal Upanishads*, London, 1953
- Rachvan, V - *Bhoja s Śrngāra Prakāśa*, Madras, 1963.
- " *The Number of Rasas*, Madras, 1967.
- " *Some Concepts of Alamkāra Śāstra* Madras, 1942
- Raja Kurnhan, C *Poet Philosophers of the Rgveda*, Madras, 1963
- Rajwade V K *Words in the Rgveda*, Bombay, 1932.
- Ranade, R D *A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy*, Poona, 1926
- Sankaran S *Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit or The Theories of Rasa and Dhvani*, Madras, 1929
- Sharma R K *Elements of Poetry in the Mahābhārata*, University of California, 1964
- Sherde N J *Āvā and Āvya in the Atharvaveda*, Poona, 1967
- Varma, Mahendra Kumar *Glimpses into the Poetic Beauty of the Rgveda* Astward Damoh, 1963

3 Articles

- Ancient Indian Poetry and Drama*—Kalice P Datta, *Prabudha Bharata*, June 1940
- Emotional Similes in the Rgveda and the Concept of Bhaṭi*, *Bharatiya Vidya*, Vol XXV, Nos 3-4, Bombay, 1955 66



Figures of Speech in the R̥gveda—P. S. Sastri, *Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute (ABORI)* XXVIII, Poona, 1947

Literary Strata in the R̥gveda—S.K. Belvalkar, *Proceedings and Transactions of the Second Oriental Conference*, Calcutta, 1922

R̥gvedic Philosophy of the Beautiful—P. S. Sastri, *ABORI*, Poona, 1951

R̥gvedic Theory of Poetry—P. S. Sastri, *All India Oriental Conference (AIOC) Summary*, Banaras, 1943-44

Similes of Atris (R̥v Mandala V)—H. D. Velankar, *ibid.*, Vol. 16, 1940.

Similes of the Atharvaveda—H. D. Velankar, *Journal of Asiatic Society Bengal, (New Series)*, Vol. XXVIII, 1953-64

Similes of Vamadevas (R̥v Mandala IV)—H. D. Velankar, *Journal of Bombay Branch of the Royal Asiatic Society (New Series)*, Vol. 14, 1938.

Some Observations on the figures of speech in the R̥gveda—A. Venkatasubbiah, *ABORI*, 17, Poona, 1935-36.

Some Similes in the R̥gveda, Brahma Vidya, Vol. XXVIII, Pts. 3-4, Adyar, 1964

Studies in the Imagery of the R̥am̐yana—K. A. S. Iyer, *JOR* Vols. 1-5, Madras, 1927

Syntax of Vedic Comparisons—Abel Bergaigne, *ABORI* Vol. XVI, 1934-35.

The Development of figures of Speech in the R̥gveda—D. R. Bhandarkar, *Kare Commemoration Volume*, Poona, 1941.

The Imagery of Rigveda—P. S. Sastri, *ABORI* XXIX, Poona, 1948.

The Poetic Approach to the Divine in the Vedas—A. C. Bose, *Prabuddha Bharata*, Calcutta, Dec., 1941

Upanisadic Metre—P. G. Gopalkrishna Iyer, *JOR* Madras, April, 1927

Upanisadic Prosody—P. G. Gopalkrishna Iyer, *Proceedings and Transactions of the Fourth Oriental Conference*, Vol. II, Allahabad, 1926

Vedic Symbolism—V. S. Agrawal, *Bharati*, Vol. VI, Pt. I, Varanasi, 1962-63

विशिष्ट शब्द-सूची (SUBJECT INDEX)

अ

भक्षणासोपनिषद्, २
भक्तगिष्ठावयव सूत्र, १९१
भक्ति, १६०
भक्तिरा, १३७, १६०
भक्ति, २७०, ३०५
भक्तिपुराण, २६ टि०, २७ टि०
भक्तिपुराणकार, ७७
भजा, ५
भज, ३११
भक्तिशायीक्ति अलंकार, १४, २१,
५३, ११९-२०, १६५, १८२
भक्तिशायीक्तिमूलक गुणोत्प्रेक्षा, ११७
भक्तिशायीक्तिमूलक रूपक, १०७ ८
भक्त्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वनि, २२२,
२२५
भक्ति, १०१
अथर्ववेद, ५२-६०, ७७, ३०३
अथर्व (श्रुति), १६०
अद्भुत रस, २५२, २५४-५, २५७
अध्ययताप, ११९
अन, ३०८

अनुप्रास, १८, ५२, ६४-५
अनुप्रासात्मक शैली, २८७
अनुप्रासोपमा २२
अनुमाद ३७
अनुमान अलंकार, १६५, १७३-४,
१८९
अनुष्टुप् छन्द, ३१५
अनेकवाच्यता निदर्शना १३१
अन्त्यानुप्रास, ६८
अन्ध, ३१०
अन्नमय कोश, १००
अन्वय अलंकार, १४९-५१ २३८
अन्वय व्यतिरेक, १८४
अपराविता, ३
अपह्नुति, ७६, ९६
अपान, २७२
अपुप, ३०५
अप्ययवीक्षित, २२, ८५, १२६ टि०,
१३५, १३९, १८०, १८२
अप्रसन्नप्रविका परित्यक्त्या, १६२
अप्रस्तुत योजना, ५
अप्रकारणिक अर्थ, १६४

अभिज्ञानशाकुन्तल, ४७

अभिधा, ४३

अभिधामूलक अर्थशक्तिमूलध्वनि, २२५

अभिधामूलक ध्वनि, २२२

अभिनवगुप्त, ३७-४०, ४२,

२४८-९, २५२

अभेदप्रधान उत्प्रेक्षा, ११९

अभेदबुद्धिजन्य तत्त्व, ११०

अभेदारीष, ९७

अमरकोश, १५९

अमरसिंह, २१

अर, ३१०

अरणी, ३०९

अर्थगुण, २५

अर्थशक्तिमूल(ध्याव्यवृत्ति), २२२

अर्थशास्त्र, ३१३

अर्थसिद्ध ध्यावृत्ति, १६३

अर्थान्तरन्यास अलङ्कार १४०, १४१

अर्थान्तरसन्नमितवाच्य (ध्वनि),

२२२-२४

अर्थार्पण अलङ्कार, १६४-१६६,

२३३, २३९, २४५

अर्थालङ्कार १८, २५, ६३, ७५, १८५

अर्थवृत्त, ३०८

अलङ्कार, ७ १४, १६, १८, २१,

२२१-२, २५८-६०

अलङ्कार-ओचित्य, ४९, ६१, २६७

अलङ्कारध्वनि, ४३-४, २५०

अलङ्कारशेखर, ७७

अलङ्कारसर्वत्व, १७, १११,

१३८-९ टि०, १५१ टि०,

१५४, १५७ टि०, १५८,

१५९-६१ टि०, १७५ टि०, १७७

टि०, १८५-६ टि०, १९१ टि०

अलङ्कार-सिद्धांत, २९

अलङ्कार से अलङ्कार ध्याय, २३७

अलङ्कार से वस्तु ध्याय (ध्वनि),

२३१-२, २३४-५

अलम्, २१

अल्पसमासता, १९४

अवन्तीसुन्दरी, २१५

अवि, ३०७

अविद्या, १३०, १४१, १७०, २६३

अविवक्षितवाच्य ध्वनि, २२२

अशुभाष्टक, १०३

अश्मा, ३०८

अश्लिष्टपरस्परितरुपक, १०७

अश्वत्थ, ५, ३०४

अश्वपति इन्द्रगुप्त, २९६

अश्वपति-उद्दालक, २९६

अश्वपति-ओषधन्यव, २९६

अश्वपति की कथा, २९६

अश्वपति-जन, २९६

अश्वपति बुद्धि, २९६

अश्वपति-सत्यपति, २९६

अर्त्तविग्रहा, १९४

असन्ध्यफलयस्य स्थिति, ४४, २२२
असम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिबन्धना, १३१
असुर-सम्बन्धी लोक, १६५
अहर्नरम्, ३११

आ

आश्लेष, १६
आत्मान, ६
आतप, ३०६
आत्मतत्त्व १३०, २९५
आत्मा, ४
आदर्श, ३०८
आनन्द, २४८
आनन्दमय लीला, १००
आनन्दवर्धन, २०, २६-७, ३६, ४१-४३,
४५-६, ४८, २१९-२१, २६०
आपस्तम्ब, १ दि०
आभिजात्य (काव्य-गुण), २५
आध्यन्तर (काव्यगुण), २५
आज, ३०५
आश्रयाक, २१३
आशुर्वेद, २४८, ३१३
आराध, ३१०
आर्षो उपमा अलंकार, १८७
आर्द्रा, ३०९
आर्षा दण्ड, ३१३
आलम्बन भाव, २५६

आवर्त, ३०६
आथम्ययस्या, ३
आथयाथयिभाव, १८४
आस्तिक, १६५

इ

इतिहास, ३१३
इन्द्र, २७०
इन्द्रपोष, ३०७
इन्द्रव्या सन्ध, ३१३-३१६
इन्द्रसूक्त, ६०-१
इषीका, ३०४

ई

ईगोपनिषद्, ३, ३ दि०, ५, ७,
६५-६६, ६७ दि०, ६९, १०६,
१२०, १३३, १४३, १४६,
१५२, १६५, १७०, १९१,
१९५, १९८, २००, २०३ दि०,
२०६, २०८, २११, २३४-५,
२३९, २५६, २७१, २७८,
२८५, ३१५, ३१८

उ

उक्ति-वैचित्र्य, २७३
उद्गुप, ३०८
उत्कलिफाप्राम गद्य, २८४, २८९-
९०, २९५
उत्तर अलंकार, १७५-१७७

उत्प्रेक्षा अलङ्कार, ५५, ७६,

११५ ६ १२६, १९-

उदक, ३०५

उदर, ३११

उदास अलङ्कार, १८१ १८३, २३९

उदास विचार, ६

उदान २७२

उदारता, १९४

उदुम्बर, ३०५

उदगीय-उपासना, १३७

उदगीयविषयक सबाध, २९६

उद्दीपन विभाव २५२

उद्विग्न, १८, २०, २२, ७३, ७७,

८५ ९६ ११९ १२३, १२७

१३१-२ १५२, १५४,

१६९-७० १७५, १७७,

१७९, १८०, १८२, १८६

उपजाति द्वन्द्व ३१६

उपनिषन्धन, १५४

उपनिषदों की सहाय, २

उपनिषदों के उपमान ३०३

उपनिषद पद १

उपमा अलङ्कार, ७ ११, १४ १८

२१ २७, ५१ २, ५५ ६३,

७५ ६ ७८ १२६ १३०,

१८९-९०, २३२, २३७,

२६६ ७

उपमा-औचित्य २६५

उपमान, ७, १२, १०८, ११०, ११६,

२६७-८, ३०३

उपमान-योजना, ३०३

उपमान-विधान, ५

उपमानोपमेयभाव, १३०

उपमेय, ७, १०८, ११०, ११६

उपमेय-उपमान, २६९

उपमेयोपमा, ९५-६, १५०

उपसर्ग, २६०

उपादानकारण, ११९, २६७

उपेन्द्रवत्या द्वन्द्व, ३१६

उभयशक्तिमूल(ध्यायध्वनि), २२२

उभयालङ्कार, ६३, १८४-५

उर, ३११

उल्लेख अलङ्कार, ११२-११५,

१५३, १८७-८, १९०-१, २३४

उयः सूक्त, ५१

उपस्ति-कथा, ९

ऊ

ऊर्णनामि, ३०६

ऊर्मि, ३०६

आ

आवेष्ट, ५, ८, ९, २३, ५०,

५२-६१, ६३-४, ७७-८, १००,

१९२-३, २२०, ३०३, ३१२

आयम, ३०७

आयि, ४

ए

एकदेशविवर्तितपक्ष, १०७

एकवाच्यता निदर्शना, १३१

एकवृत्तगत-कलहव्यास, ७३-४
एकाग्रयानुप्रवेशरूप सकर, १९१

औपनिषदिक गद्य, २१९
औपम्यमूलक सप्तकार, १२७

ऐ

ऐतरेय-आरण्यक, १
ऐतरेयोपनिषद्, २, ७०, ७२,
८२, १०४, १०५ टि०, ११२,
१२१, १३६, १५२, १६८,
१९९, २०० टि०, २०३ टि०,
२०९, २११, २१७, २३८,
२४१, २४४-५, २७४, २८१,
२८४, २८६, २९०, २९३,
३०७, ३११, ३१८

ओ

ओष, ३०६
ओज शुभ, १८, २६-२८, ३१,
५६, १९२, १९४-५, १९७, १९८
ओवन, ३०९
ओषधि, ३०५

औ

औचित्य, ७, १४, १६, ४५-४८,
२५९, २६१, २६३, २६६-
२७१, २७४, २७७, २८२
औचित्य के लेश, ४८, २६०
औचित्यविचारचर्चा, ४७, ४७ टि०,
४९, २५८-२६०
औदायं, १८

क

कस्त, ११२
कठोपनिषद्, २, ८-११, ६३ टि०,
६२-६, ६७ टि०, ६८-७०, ७५,
७९, ८२-८७, ८९, ९२,
९३ टि०, ९८, १०३, १०५ टि०,
१११ टि०, ११३, ११५ टि०,
१२०, १२३ टि०, १२४, १३१,
१३३, १३४ टि०, १४०,
१४३-४, १४६ टि०, १५०,
१५७-८, १६१-२, १६४ टि०,
१६५-६, १७०-१, १७३ टि०,
१७५, १७८, १८०, १८२,
१९५-६, १९७, टि०, १९८,
२०० टि०, २०१, २०३ टि०,
२०६-७, २०८ टि०, २०९,
२१० टि०, २११, २१२ टि०,
२१६, २२३, २२७-३०,
२३२-३, २३७-८, २४०,
२४२, २४२-३, २६२, २६५,
२७३, २८४, ३०३-३१०, ३१४,
३१६, ३१८

कथा-शंती, २९४
कथा-साहित्य, ३१३
कवित्व-पाक, २१५
कवित्, २७४
कवन्धी, २९६
कवणरस, ४०, २५१

कर्ण १९३
 कर्मयोग, २८२
 कर्मवाद, ३
 कला, ६
 कश्यप, १०१
 कस्तूरिकाष्टक, २३०
 काकु बभ्रोक्ति, ७२, २३६
 काव्यध्वरी, ३१, २०४ टि०, २८८
 कारक, १२४
 कारकीचित्य, २६०
 कारणमाला अलंकार, १५४ १५७
 कार्यकारण, १६९
 कार्यकारण प्रश्न, १५४
 कार्यकारणभाव, १७०
 कानिष्ठान, ६, ३३ ५०-५२,
 ६४ टि०, १९४, २०५, ३०३
 काव्य की आत्मा, २८, २७१
 काव्यतत्त्व, १६, ५०
 काव्याद्यायमूलक अलंकार, १५९
 काव्यपाक, ३४
 काव्यप्रकाश, १७ टि०, २३ टि०,
 ४४ टि०, १२३ टि०, १६०-१,
 १६९ टि०, १७९ टि०,
 २४९ टि०, २५१ टि०
 काव्यमाना, ३७ टि०
 काव्यमानागुच्छक, २६८ टि०
 काव्यमीमांसा, २१३, २१४ टि०,
 २१५-२१८

काव्य सग अलंकार, १६४, १६९-
 १७३, १८८-१९०
 काव्यशास्त्र, १६, ३१-२, १२७
 काव्यहेतु, १६९
 काव्यादर्श, १७ टि०, २४ टि०,
 २७ टि०, ७३, ९२, ११९,
 १८० टि०, २०४
 काव्यानुशासन, १५५ टि०, १९ टि०,
 ७१
 काव्याभिमत शिष्ट, १६९
 काव्यालंकार, १६-७ टि०, १९ टि०,
 २१ टि०, २४ टि०, ३५ टि०
 काव्यालंकारसारसंग्रह, १७९
 काव्यालंकारसूत्र, ११ टि०, २७ टि०
 २९-३० टि०, २१३, २८३ टि०,
 २८४
 काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति, २४ टि०,
 २९ टि०, ३३-४ टि०
 कीनाट ३०४
 कुन्तक, १८-२०, २५, ३५-६,
 ४६, ७१
 कुप्पुस्वामी शास्त्री ४९
 कुमारसम्भव, १५९
 कुशलपानन्द, १२६ टि०, १३५
 कृष्ण, ११२, १९३
 केनोपनिषद्, २, ८, ९, ६५-६७,
 ७०, ७४, ८८, १११, ११६,
 १३५, १४३, १५०, १६७,
 १८७, १९५, १९८, २००,

२०३ टि०, २०६, २०८ टि०,
२१६, २२२-२२७, २३०-२३२,
२३९-४०, २४२, २४४, २४४-६,
२६१, २६२, २६९-७३, २७३,
२७८ १, २८४, २८९ ३१४,
३१८

केश, ३११

कंसल्य, १५६

कौमिल यद्यपोजना, १९२

कौपीतकी, २

कौस्तुभ, २९६

कमुक पाक, २१४

किया-ओचित्य, २७८

किद्योपेक्षा क्षलकार, ११८

किद्योचित्य, २७९, २८१

कोष, १७

कीच-मिमुन, ३१२

किङ्कपु प्रत्यय, २

कीर, ३०९

क्षुर, ३०८

क्षेत्रे, ४४, ४७-४९, २२८-२६०

ख

खलकपोतनाम, १६६-७

॥

गण, ११२

गणोत्ती, ५१

गद्य, २८४

गद्य काव्य, २८३

गम्य औपम्यमूलक क्षलकार, १३०

गम्य, ३१०

गमिणी, ३१०

गायत्रीछन्द, ३१२ टि०, ३१३

गार्गी, २४३, २४७

गार्ग्य, २९६

गिरवार, १९४

गिरि, ३०६

गोता, २२४

गोति-साहित्य, ३१३

गुण, ७, १४, १६, १८, २३, २४,
१९३, २०५, २२१, २४८-२६०

गुचीचित्य, ४९

गृह, ५

गुदायंप्रतीतिमूलक क्षलकार, १७९

गोत्रमार्ग, २०४

गोत्री, ३०-१, ४८, २०५-६

गोतम, १०१

घ

घञ् प्रत्यय, २१

च

चक्र, ३०९

चन्द्रमोह, २२ टि०, १७७ टि०

चण्डूकाव्य, २८३, २८३

धर्म, ३०९

चार धीनिर्मा, १०२

चित्, २४८

चित्रमोमांसा, ८५

छूर्णरुगण, २८४-२८७, २८९-२९१,

२९५

छ

छन्द, ६, ३१२-३

छान्दोग्योपनिषद्, २, ९, १२-३,

३९ टि०, ६६ टि०, ६७, ७०,

७२, ८२, ८७, ९०, ९१ टि०,

९३-९६, १००, १०३ टि०,

१०५, १०६ टि०, १०७, १०९,

११० टि०, ११४, ११७, १२१,

१२४, १२५ टि०, १२८-९,

१३० टि०, १३७, १४८

१५५-६, १५८, १६३, १७६,

१७७ टि०, १९३ टि०, १९६,

१९७ टि०, १९९ २०० टि०,

२०१-२, २०३ टि०, २०७,

२०८ टि०, २०९-२१२, २३६,

२८४, २८७, २९०, २९४-२९७,

३०४-५, ३०९, ३१३, ३१८

छाया, ३०६

देवानुप्रास, ५१, ६५

ज

जगती, ३१३

जगन्नाथ १६-७, २३ ७८, १११,

११९, १३९, १४७, २४९

जनुकाष्टन्याय, ७३

जनक, ४, १३७, २७५

जनक-याज्ञवल्क्यसंवाद, २९६

जबाला, २९६

जमबग्नि, १०१

जयदेव, २२

जयरथ, १७५

जातवेदा, २६१

जात्युत्प्रेक्षाकार, ११८

जानधुति की कथा, २९६

जानधुति-रथ, २९६

जास, ५

जीव, ६, ११

जीव-जन्तु ३०६

जीवात्मा, १०९

ज्योति, ३०५

ज्योतिष, ४, ३१३

झ

झटित्यर्थप्रतिपादक पदयोजना, १९२

त

तण्डुल, ३०४

तद्गुण अलकार १७७-८, १८८,

२३७

तन्तुनाम, ३०६

तम, ५

तमम्, ३०६

तर्कन्यायमूलक भलकार, १६९
 तर्कशास्त्र, १६४, १६९
 तर्कसंग्रह, २२६
 तिङन्त, २१४
 तिलिन्दिबोपाक, २१५, २१७, २१८
 तिलक, १८४
 तिलतन्त्रुलभ्याय, १९०
 तीन करण, १०२
 तुल्ययोगिता भलकार, १२५
 तुल्यजलायुका, ३०७
 तैत्तिरीयोपनिषद्, २, ९, ३७ टि०,
 ६७, ८२, ८९, १००, १०३ टि०,
 १०४, १०५ टि०, १०७, ११४,
 १२४-५, १३६, १४४, १४५,
 १४९, १५०, १५२-३, १५२,
 १६८, १७८, १८८, १९६,
 १९९-२००, २०३ टि०,
 २०७, २०८ टि०, २११, २४६,
 २४८ टि०, २६७, २८४-५,
 २९२-३, २९५-६, ३०६,
 ३११, ३१८
 त्रुत्तपाक, २१५-२१७
 त्रिंशत्, २६७
 त्रिंशत्, ३१३
 त्वक्, ३०४

द

दण्डाध्यापिकाध्याय, १६४
 दण्डी, १७-८, २०, २४, २६, २७,
 ३०, ४६, ७३, ७७-८, ९२,

उप० ४३

९६, ११९, १२३, १३१-२,
 १३९, १४२, १४२, १४४,
 १६२, १७०, १७५, १७७,
 १८०, १८२, १८६, १९२,
 २०४-५

वधि, ३०९

वर्तमान, ३

वर्तमानास्त्र, ३१३

वस्तु इतिहास, १०२

वस्तु, ३०४

वस्तुत्व, २९६

विलय उपमान, ३०३

वीथ, ३०९

वीथक भलकार, ७७, १२३-१२५

वृत्त आत्मिक, ९

वृष्टान्त भलकार, १४, १२६-१३०,
 १४०, २३४-२३६, २३८

वृष्टान्त-भोजन, ३

वी, ३०४

विलापाक, ३४

विल, ३१०

ध

धनु, ३०८

धर्मलुप्तोपमा, ८५-६, ८८

धर्मवाचकलुप्तोपमा, ८७

धर्मशास्त्र, ३१३

धर्माष्टक, १०३
 धातु-अष्टक, १०२
 धेनु, ३०७
 ध्वनि, ६-७, १४, १६, २३, ४१,
 २१९-२०, २५९-६०
 ध्वनिमेव, २२२
 ध्वनिसिद्धान्त २०, २९, २१९-
 २२१
 ध्वन्यालोक, ३६ टि०, ४१ टि०,
 ४२, ४४, २१९-२२१
 ध्वन्यालोक शोधन, १९ टि०,
 ४० टि०

न

नखिवेता, ९, १४१ २५२ ३,
 २६२, २७३
 नदी, ३०५
 नपुंसक लिंग, २७३
 नमिसाधु २४-५
 नाटकीय शैली, २९७
 नाट्यशास्त्र, २३, २७ टि०,
 ३६-७ टि०, ४६ टि०, २४८ टि०,
 २५१ टि० ३१३ टि०
 नाम-ओचित्य, २७७
 नाम की महत्ता, १७२
 नारायण, २५२
 नारायणतीर्थ, १०६
 नारिकेलपाक, ३४, २१५-६

नासदीय सूक्त, ४,
 नास्तिकभाव, १६५
 नित्यधर्म, २९
 निदर्शना अलंकार, १२६, १३०-२
 निपात, २४४-५, २६०
 निपात औचित्य, २७५
 निपात-ध्वनि, २४४-५
 निमित्तकारण, २६७
 निरव रूपक, १०३-५
 निरुक्त-अनिश्चय, १४४
 नित्यधन-अमित्यधन, १४४
 नीट-सीर-भ्याय, १८६
 नीलकण्ठदीक्षित, १८ टि०
 न्याय, १६९

प

पञ्चकोशविवेक, २९५
 पञ्चमहाभूत, १५८
 पद्मीशराकु, ३०९
 पद्म, २६०
 पद्मगतध्वनि, २४०, २४१
 पद्मध्वनि २३९
 पद्मपरार्थव्यञ्जता, ३६
 पद्मपूर्वार्थव्यञ्जता, ३६
 पद्मयोगना, ६
 परार्थगत काव्यलिंग, १७०
 परार्थरस, २४८

| | |
|--|--|
| पदोचित्य, २६०-१ | पार्वती, ११२ |
| पटाकाव्य, २८३ | पार्वी, ३११ |
| परमपुण्य, १७३ | पाश, ३०७ |
| परमात्मा, १०-१, १०९ | पितृसन्ध्याक, २१२ |
| परम्परित रूपक, ९७ | विष्ट, १२९ |
| पराविद्या, ३ | विप्लव, ३०५ |
| परिकर भर्तृकार, १३२-१३४, १५८-९, १९१, २३१, २३७ | वी० बी० कानो, ११३ टि० |
| परिकराकुर भर्तृकार, १३४-१३८, २३६ | पुच्छ, ३११ |
| परिणाम भर्तृकार, १०८, ११०, १८७ | पुच्छरीक, ३०४ |
| परिवृत्ति भर्तृकार, १६०, १६१ | पुष्प, ३१० |
| परितृप्त्य भर्तृकार, १६१-१६४, २३९ | पुनरुत्पन्नवर्णमात्र, १८४ |
| पर्व, ३०४ | पुर, ३१० |
| पर्याय भर्तृकार, १५९, १६०, १९० | पुराण, ३१३ |
| पर्यायोक्त भर्तृकार, १३८-१४०, १९० | पुरुषसूक्त, ६० |
| पाव मलेश, १०२ | पुण्योपमा, ७७-८४ |
| पाव सशय, १०२ | पूतकर्म, १४१ |
| पाव सूक्ष्मभूत, १०२ | पुर्वमीमांसा, १६१ |
| पाव स्पृष्टभूत, १०२ | पृष्ठ, ३११ |
| पाषाणी, ३०-१, ५९, २०५-६ | पेशाकारी, ३१० |
| पाक, ३१, ३३, २१३-२१५ | पीप, ४८ |
| पादोदर, ३०६ | प्रकरणव्यवस्था, ३६ |
| पारिजातमन्दरीमर्दन, १३९ | प्रकृति, ६, ११, १०९ |
| पारिभाषिक त्रिप, १६९ | प्रकृति-अष्टक, १०२ |
| | प्रकृति-काव्य, १३ |
| | प्रवृत्त, ३०८ |
| | प्रतापकदीप, ३२, ३४ टि० |
| | प्रतिपत्तुपमा भर्तृकार, १२६, १३०, १४० |

प्रतिषेध असकार, १८८-१९०,
 २३५, २३९
 प्रतिहारेन्दुराज, २२, १७९
 प्रतीक योजना, ५
 प्रतीयमान अर्थ, २१९-२१
 प्रतीयमानव्यवच्छेदा परिसरणा, १६२
 प्रतीयमानोत्प्रेक्षा, ११६
 प्रत्यय-भौक्षित्य, २७४
 प्रत्ययव्यति, २४५
 प्रवर्धव्यवृत्ता, ३६
 प्रत्य-धौक्षित्य, ४९, २६०
 प्रयाग, ५१
 प्रवाहण, २९६
 प्रथमपूर्विका परिसरणा, १६२
 प्रथमोत्तरात्मक सकार, २९६
 प्रथमोपनिषद् २, ६६, ८१, ९३,
 १०४, १०५ टि०, १०७-८,
 ११३-४, ११५ टि०, ११८,
 १२७-८, १८०, १८७, १९६,
 १९८, २०० टि०, २०१,
 २०३ टि०, २०७, २०८ टि०,
 २०९, २१७, २३४, २५५,
 २६६, २८४, २८९, २९६,
 ३०३, ३०५-६, ३१०
 प्रसाद गुण, १८, २५-६, २८, ३१,
 ५७, ११२, १९४-५, २००
 प्रस्थानत्रयी, ३
 प्रावरणिक अर्थ, १६४
 प्राणमय कोश, १००

प्राणायाम, २४४
 प्रेम-काव्य, १३
 प्रीति शब्दगुण, ३४
 प्लव, ३०८
 प्लुत-व्यति, २४६
 प्लेटी, ३००

फ

कसोत्प्रेक्षा, ११६-७

ब

बबरपाक, २१५
 बभारस, ५१
 बाणमट्ट, ३१, ११६, १६२, २०४-५
 बाणमूलास्वादवत्, २२७
 बाह्य (शब्दगुण), २५
 बिम्बप्रतिबिम्बभाव, १२७-३२
 बिम्बविधान, ५
 बुद्धिबाध, १६२
 बृहदारण्यकोपनिषद्, २, ४ टि०,
 ५, ८, ९, ११, ६६ टि०, ८३, ८७,
 ९०, ९१ टि०, ९४-५, १०१-२,
 १०३ टि०, १०५, १०६ टि०,
 १११, ११५, ११७-८, १२२,
 १२९, १३० टि०, १३२, १३४,
 १३७-८, १४५, १४७, १५१,
 १७२, १७३ टि०, १७६,
 १७७ टि०, १८३, १८८,

१९६-७, १९९, २०० टि०,
२०२-३, २०८, २१०, २१२,
२१६, २३६, २४३, २४६, २५४,
२५७, २७०, २७५, २८४
२८८, २९१, २९७-८,
३०४-३११, ३१६, ३१९

बेन, २२

बोध-दर्शना, १३१

बौद्धधर्म, ३

बह्म, ५, ६, १०, ११, ६३, १४४,
१७२, १७४, १८३

बह्मचक्र, २८२

बह्मप्राप्ति, २९५

बह्मविद्या, ३, १६०

बह्मसूत्रभाष्य, २

बह्माण्ड, १४

बह्माण्डवचन, २४८

ब्राह्मी उपनिषद्, १६७

भूमिफौलड, ३

भू

भक्तिरस, २५१

भगवद्गीता, १३३ टि०

भट्टतीत, १५, ४०

भट्टनायक, १८-२०, ३-८, २४८

भट्टसोल्लट, २४८

भयित्ति-वैचित्र्य, १८

भयानक रस, ४०

भरतमुनि, १६ टि०, २३, २७,
३६-७, ५१, ७७, ८६, १२३,
१९२, २०४, २४८, २५१,
२५८, ३१२

भरतमुनि, २४८

भरतमुनि, १०१

भक्तमूर्ति, ५०

भागीरथी, ५१

भाष्य, १६, १७ टि०, १८,
१९ टि०, २०-२, २४, २९-३०,
३५, ४६, ५१, ७३, ७७, ९६,
११९, १२३, १३१-२, १३९,
१४२, १४२, १५४, १६०,
१६५, १७०, १७५, १७७, १८०,
१८२, १८६

भारवि, ६, ५०, ५२

भार्गव, २९६

भाष, २५६-७

भाषना, १७९

भावसत्त्वता, २५१

भावज्ञानि, २५१

भावसन्धि, २५१

भाषाभाष, २५१

भाविक अलंकार, १७९-१८१, २३५

भावोदय, २५१

भृगु, २९५

भृगु-वाक्यि सवाद, २९६

मोक्षराज, १९ टि०, २१-२, २५,
३०, ३२, १८०, १९२, २०५,
२५१

श्रान्तिमान् अलंकार, १११-२

मु

मगल (भाषार्थ), २१४

ममिका, २०६

मग्न, ३०९

महात्मा, १०३

मधुर, ३०६

मधुरता, १९४

मनोमयकोश, १००

मम्मट, १७ टि०, २०, २२, २३ टि०,
२५, ४४ टि०, ७३, ७८,
८५, ९७, १११, १७७ टि०,
१३२, १३५, १५४, १३७,
१६२, १६३, १६७, १७९,
१८४, १८६, २४८, २४९

मरीचि, ३०३

महाभारत, ५०, ३२-३, १९३

महामत्स्य, ३०७

महावाक्य, २४४

महिमामट, २३ टि० ३९ टि०, ४५

माघ, ६, ३२

माघशुक्ल महाश्रावण, ९९.

माण्डूक्योपनिषद्, २, ६५, ६७,

१६, १९, १०३ टि०, १०४,

१०५ टि०, १२३, १३४ टि०,
१७१-२, १८१, १८८, १९६,
१९९, २०० टि०, २०९,
२३५-६, २३८, २८४-५, २९०

माता, ३१०

माधुर्यगुण, १४, १८, २५-२७,
५६, १९२, १९४-५, २१६,
२८७

मायाजात, २६३

मार्गत्रय, १०३

मात्सर्यपक्ष, १०७

मात्स्योपनिषद्, ८८-९१, ११०, २३२

मास, ३११

महाहरजन वास, ३०८

मीमांसा, १६९

मीमांसासमत प्रमाण, १६४

मुक्तक, २८४

मुक्तकगद्य, २८६

मुक्ति, १७१

मुक्तिकोपनिषद्, १ टि०

मुल, ३०४

मुल्लकोपनिषद्, २, ७, ११-२,
६६ टि०, ६७, ८१, ८९,
९८-९, १०४, १०८-९,
११८, १२१, १२५-६, १२३,
१३५, १४५, १४२, १५५,
१५६ टि०, १६०, १६३,
१६७, १७१, १७३ टि०,
१८३, १८७-८, १९६, १९७

टि०, १९८, २०१, २०३ टि०,
२०७, २०८ टि०, २०९,
२१० टि०, २११, २१७-८,
२३४-५, २४१, २६६, २८०-१,
२८४, ३०५-६, ३०८, ३१०,
३१४, ३१६, ३१८

मृहीकापाक, २१५, २१८
मैत्रुपनिषद्, ७७
मोक्षरत्न, २४८

य

यज्ञ, २६१
यजुर्वेद, ११
यम, ९
यमकालकार, ६९, १८७
यम-यमी सवाद, २९९
यव, ३०४
याज्ञवल्क्य, ४, २४३, २४७
याज्ञवल्क्य-आर्याणि, २९६
याज्ञवल्क्य-आर्त्तभाग, २९६
याज्ञवल्क्य-उपस्थि, २९६
याज्ञवल्क्य-बृहत्, २९६
याज्ञवल्क्य-गार्गी, २९६
याज्ञवल्क्य-मुण्ड, २९६
याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी, २५४, २९६
याज्ञवल्क्य-शाकल्य, २९६
यास्क, ७७
योगशास्त्र, १७९

र

रघुवंश, ६५ डि०
रत्निमाव, ३७, २५६-७
रघ, ३०८
रघुवक्, १२९
रत्नि, ३०४
रत्न, १६, २३, २७, ३६, २१५,
२२१, २४९-२५०, २५९-
२६०, ३०४
रत्नगंगाधर, १७, टि०, १११,
२४९ टि०
रत्नध्वनि, २८, ४४, २५०
रत्नध्वनि-सिद्धान्त, २०५
रत्न-विश्लेषण, २५१
रत्नसिद्धान्त, २०, २९, २४९
रत्नाभास, २५१
रत्नोचित्य, ४९
राघवण, बी०, ५०
राजशेखर ३४, ७७, २१३-२१६
राजा, ३१०
राम, १९४
रामायण, ५०, ५२-३, १९३
रोति, ७, १४, १६, २९, २०४-५,
२२१, २५८, २६०
रोति-औचित्य, ४९
रोति-सिद्धान्त, १८, ३०-१
रघ, १५३

द्वष्ट, २२, २४-५, ४६, ७१, ७३,
१६, १११, १२३, १३२,
१३९, १४२, १४४, १४७,
१४९, १६७, १७५, १७७,
१८०, १८२, २०५

द्वष्टासन्, १९४

द्व्यक, १७, ७३, १११, ११९,
१३१-२ १३८-९, १४१,
१४४, १४७, १४९ टि०-
१६१ टि०, १६७, १७०,
१७५ टि०, १७७ टि० १८०,
१८२, १८४-५, १८६ टि०,
१९१ टि०

द्वयक मलकार, ११-१४, २७, ५१,
५४, ७६, ८३, ९६-७, १२६,
१८८, २३४

द्वय-योमना, ५

द्वयकानिधोक्ति मलकार, ७, ५३,
१२०-१२३, १८८

द्विष्टरस, २५३

ल

लक्षणा, ४३

लक्षणासूत्रक अर्थान्ततिरस्त्वृत्तवाच्य-
द्वनि, २२४

लक्षणासूत्रक अर्थान्तरलक्षित-
वाच्यद्वनि, २२२-३

लक्षणासूत्रक द्वनि, २२२

लघुना, १९४

लघुवृत्ति, १७९

लघ, ३१२

लक्षिगमस, ४७

लाटिका, २०६

लावण्य, २५

लिग, १६९

लिगी, १६९

लिगीचित्थ, २६०, २७१-२

लुप्तोपमा, ८५

लोकन्यायमूलक मलकार, १७५

लौकिक ध्वन, ३१३-५

व

वध, ३०४

वधरथ ध्वन, ३१७

वधोक्ति मलकार, १६, १८, ३५,
७१-२, २३६

वधोक्तिचोचित, १८८, १९८, २००,
२५, ३५, ३६ टि०, ४६ टि०

वधोक्तिसिद्धान्त, २०

वधोक्तिचिन्त, २६०, २७२-३

वध, ३०३

वधासि, ३०६

वधण, २९५

वधमूलक, ६०

वध-योजना, १९५

वधविन्यासवक्रता, ३६

वधित्थ, १०१

वस्तुध्वनि, ४३-४, २२२, २३१,

२४३, २५०

वस्तुहृष्यध्वनि, २२९

वस्तुव्यग्यध्वनि, २३३

वस्तु से वस्तु-व्याग्यध्वनि, २२५

२२७-२२९ २३४

वाक्य, २६०

वाक्य-ध्वनि, २४२

वाक्यपाक, २१५

वाक्यधनता, ३६

वाक्यार्थगत कार्यकारणभाव, १७०

वाक्यार्थोपमा अलंकार, ९२-९५,

२३८

वाक्यीध्वन्य, २६०, २६३

वाक्यकल्पता, ८७

वाक्यव्यवच्छेदा परिसरणा, १६२

वाक्या वियोत्रेक्षा, ११७

वाक्योत्रेक्षा, ११६-७

वास्तव्य रस, २५१

वाचन, १८, २०-१, २४, २७,

२९, २९-३९, ३३-४, ४६, ७३,

९६, १२३, १३२, १३९,

१५२, १५४, १७०, १७५, १७७,

१८०, १८२, २०४-५, २१४,

२८३-४

वाचन अलंकार, १२३, १६०-१,

१६९

वाच्य, २७०, ३०५

वाचकपाक, २१५

वात्मीकि, ३०-१, १९३, ३१२

वात्मीकि-रामायण, १९४ टि०,

३१२ टि०

वासवदत्ता, २८८

विकटपद्योजना, १९२

विकटवर्ण-योजना, १९५

विज्ञान-अधिज्ञान, १४४

विज्ञानमय कोश, १००

विद्या, १४१

विद्याधर, ३४

विद्यानाथ, ३२-३४

विद्युत्, ३०४

विद्रूपिका, १२

विनोक्ति अलंकार, २३८

विभाव, ३७

विभावना अलंकार, १४२, १४६-७

विभावानुभाव, ३७, २५६

विमर्षिणी टीका, १५१

विरोध अलंकार, १४२, १४९,

२३१-३, २३५, २३८

विरोधमूलक अलंकार, १४२,

१५१

विरोधमूलक उदात्त अलंकार, १८२

विरोधाभास अलंकार, ६, ७०,

१४२-६, १८७-९

विश्रुतान्यपरमात्मनि, २२२
 विवृतिदोका, १७
 विशेष अलकार, १५१-३, १८९,
 १९०, २३९
 विशेषणीकृत्य, ६१, २६०, २६९,
 २७१
 विशेषोक्ति अलकार, १८२, १४६-८
 विश्वनाथ, २६, २८६, ३९-४०,
 ६५, ६९, ७२-७४, ७८, ८५,
 ९७, ११०, ११२-३, ११६,
 ११९-१२०, १२३-४, १२६-७,
 १३१-२, १३५, १३९,
 १४०, १४२-३, १४७-
 १५१, १५४, १५७, १५९,
 १६१-२, १६५, १६७, १७०,
 १७३, १७४, १७७, १८०,
 १८२, १८६, १९१, १९५
 १९७, २००, २०६, २४९,
 २५०, २५२, २५६, २८४

विश्वामित्र, १०१
 विश्वेश्वर, ३२
 विषय अलकार, १४८-९
 विष्णुसूक्त, ६१
 वीरराम, ४०, २५१
 वृक्ष ३०४-५
 वृक्षगणि गद्य, २८६, २८९, २९५
 वृक्षप्रमाण, ६६
 वृक्षात्-याव, २१३
 वेदान्त, ३, २६८
 वैशिष्ट्य, १९४

वेदमं, २०४
 वेदमो रीति, ३०-१, ३४, ५१,
 ५८, २०५-६, २८७
 वेदिक छन्द, ३१३-४
 वेदोद्यक (काण्ड-गुण), २५-६
 व्यजना, ४३
 व्यक्ति-विवेक, २३ टि०, ३९ टि०
 व्यतिरेक, ९६
 व्यभिचारिभाव, ३७
 व्यवच्छेद १६२
 व्यष्टि, २०५
 व्याप्त, २७२
 व्याप्त, ५०, १९३
 ग्रीहि, ३०४

शु

शकराचार्य २
 शकरानन्द, १०६
 शकल, ३०४
 शास्त्रगुण, २५
 शब्दतत्त्व, १७
 शब्दपाक, ३३, २१५
 शब्दशक्तिप्रसूत (व्याख्याननि), २२२
 शब्दशक्तिमयप्रमाणव्याव, १७
 शब्दशक्तिकार, १८, २५, ३२, ६३-४,
 १८४-५
 शास्त्रा, ३१-३४
 शर, ३०४

शाकरमाध्य, ७१, १०६, ११७-८,
१३७, २८०
शान्तरस, ३५१-२५४, २५७
शांतिग्राम, १५४, १५७
शिर, ३११
शिलक, २९६
शिव, ११२
शिवसीतार्जव, १८ टि०
शुकनासोपवेश, २८६
शृङ्खलाबन्धमूलक अलंकार, १५६
शृङ्गारप्रकाश, १९ टि०, २५२ टि०
शोक, ३७
शौर्य १८
शौच उद्गीष, १२
श्यामाक, ३०४
श्वेत, १२९, ३०७
श्रीशकुन्त, २४८
धृत्यनुप्रास, ६८
रत्नकण्ठा, १९४
रित्यधपदम्परितरूपक, १०६
रित्यधरूपक, १०६
रसेय अलंकार, ७३-७४, १४२,
१६२, १८४
रवान-कथा, ९
रवेतश्वेतु, ९
रवेतश्वेतु की कथा, २९६
रवेतारवतरोपनिबद्, २, ६६ टि०,

६७, ७१, ७४, ८३-४, ८६, ९१,
९५, १०२-३, १०५-७, १०९,
११५, १२२-३, १२५, १२९,
१३०, १३४, १३८-९, १४१,
१४५, १४७, १५३, १५६,
१६०, १६३-४, १६८, १७३-
४, १७७-८, १८१, १८३,
१८६, १८९-१९०, १९७,
१९९, २००, २०३, २१७,
२२९, २३६-७, २३९, २४३,
२४५, २५७, २६३, २६७-२७०,
२७४-२७७, २८१, २८४,
३०५-६, ३०८-३१०, ३१४-
३१७, ३१९

प

पङ्कग, ३१२

पद्मस्तु धातु, २

स

सकर अलंकार, १८४, १८६,
१९०-१

सघटनोचित्य, ४९

सवारी धातु, २५६

सविग्रहरूप सकर, १९१

संयोग-न्याय, १८५

सप्तम्यक्रमव्याख्यानि, ४४, २२२

संवाद, ६

सवादात्मक शैली, २९६

सरलेष, १८५

समृष्टि अलकार, १८४-१९१

संस्कृत साहित्यशास्त्र, २०४

संक्षी, ३११

सत्, २४८

सत्-असत्, १४४

सत्यकाम, २९६

सत्यकामजावाल की कथा, २९६

सत्यवाह, १६०

सन्वेह अलकार, ७६, ११०-१

सन्देहकर अलकार, १९१

समवाय न्याय, १८५

समष्टि १९, २०५

समस्तवस्तुविषयक रूपक, ९८

समाधि, २४४

समान, २७२

समातकार, १४८

समासोक्ति, ५४

समिद्ध, ३१०

समिद्ध, ३०९

समुच्चय अलकार, १६६-१६८,
१८९, २३७

समुद्, ३०५

समुद्बन्ध, १७ १८, २०

सम्बन्धातिशयोक्ति, १२३

सम्बन्धवस्तुसम्बन्धनिबन्धना (निबन्धना),
१३१

सम्भावनामूलक उपप्रेक्षा, ११६

मरस्वनीकः शठभरण, २५ टि०

सर्पिः, ३०९

सर्वस्वकार (रुपक), १८५, १९१

सर्वेष, ३०४

सतन्वेह, १११

सस्य, ३०४

सहकारपाक, २१५

साध्यकारिका, १७४

सागुण्यक अलकार, ५५, ९८-

१०१, १०३, १८७, २३६

सावुशयमूलक अर्थालकार, ७६, ११६

सार अलकार, १५६-१५८

साहित्यवर्णन, २६ टि०, २८ टि०,

४० ४१ टि०, ४३, ६३, ६५-६९,

७२, ७४, ७८-९, ८५, ८८, ९६-

९८, १०३, १०६, १०८, ११०,

११२, ११३ टि०, ११६, १२०,

१२३, १२५-१२७, १३१-२,

१३९ १४०, १४२, १४७-१५१,

१५४, १५७, १५९, १६१-२,

१६५, १६७, १७०, १७५, १७७,

१८०, १८२, १८६, १९१, १९५,

१९७, २००, २०६, २२३ टि०,

२४८, २५९ टि०, २५२ टि०,

२५६ टि०, २८४

सिद्धि-अष्टक, १०२

सुकेसा, २९६

सुपर्णा, ३०६

सुवन्त, २१४

सुवन्तु १६२, २०५

सुमनोभता, १९४

सुवर्णविन्द, १३०

सुवर्णविन्द, १३०

सूत्र, ३१०

सूर्य, ३०३

सूत्रा, ३०७

सृष्टि, ११

सेतु, ३१०

सेनावति, ३१०

संग्रहविन्द, ३०८

स्तन, ३११

स्थापिभाव, ३७, २५६

सकुटता, १९४

सक-सूत्रग्याय, २५४

स्वयंपरीक्षा, ११६

स्वर्गलोक, २६२

ह

हम, २, ८, १६०, ३०७

हनुमान्, १९३

हय, ३०७

हयग्रीव, १३९

हर्षचरित, २०४ डि०

हाकिमन गीतम्, २९६

हास्यरत्न, ४७

हिमालय, ८

हेतु अलकार, २३८

हेतुप्रेक्षा, ११६

हेतुहेतुमद्भाव, १६९

हेमचन्द्र, १५६ डि०, १९ डि०, १८२

हेरम्बोपनिषद्, २

शुद्धिपत्र

| पृष्ठ | पङ्क्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|-------|---------|--------------------|-----------------------|
| २ | २५ | छन्दोग्य | छान्दोग्य |
| ५ | २६ | अनश्वमहत्त्व- | अनश्वहृत्त्व- |
| ६ | ३ | महत्त्व | महत्त्व |
| २४ | ३ | माधुर्यं | माधुर्यं |
| ३७ | २६ | प्रयन्त्यमिविशन्ति | प्रयन्त्यमित्तविशन्ति |
| ५६ | १४ | मदुधान् | मदुधान् |
| ६३ | १६ | मर जाते है | भर जाने है |
| ६६ | २७ | यन्मूर्तं | यन्मूर्तं |
| ७० | २० | ध्रीर | ध्रोर |
| १०३ | १४ | ऊर्मियो | ऊर्मियो |
| ११४ | ११ | य | य |
| १२३ | ७ | सम्बन्धातशयोवित | सम्बन्धातशयोवित |
| २८ | २१ | ऋच | ऋच |
| ४३ | २७ | बहुभिर्यो | बहुभिर्यो |
| ५३ | ७ | मपमकम्प | मुपसङ्गम्प |
| ६८ | १३ | योनि | योनि |
| ८१ | १४ | भूत | भूत |
| ८२ | १३ | लक्ष्मीनिहिता | लक्ष्मीनिहिता |
| ८४ | २५ | अविद्यत | अविद्यत |
| ०१ | १२ | मिद्यते | मिद्यते |
| ०४ | २२ | वक्तु | वक्तु |
| १२२ | ४ | अभिषामूलक | अभिषामूलक |

| पृष्ठ | पङ्क्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|-------|---------|---------------|---------------|
| २४२ | ५ | ३ २.३ | ३ २ ५ |
| २७३ | ६ | नपुसक | नपुसक |
| २८२ | ६ | ही | ही |
| २८७ | १६ | विजिघ्रित्स | विजिघ्रित्स |
| २८७ | २७ | प्रजायोप | प्रजायेयाप |
| २८८ | १५ | सब त परादाद | सब त परादाद |
| २८९ | १६ | तुम्य प्राण | तुम्य प्राण |
| २९० | १४ | नोभयत प्रण | नोभयत प्रण |
| ३०३ | ३ | महत्प | महत्प |
| ३१२ | १२ | पग पलिया | पशु पलियो |
| ३१२ | २० २१ | उत्तसे वेद का | उत्तसे वेद का |
| ३१५ | २८ | विनियोजयेथ | विनियोजयेथ |
| ३१५ | २९ | कृतकम नाग | कृतकमनाग |
| ३१५ | ३० | कम लाये | कमक्षय |
| ३१८ | ६ | कदप्रस्थ | कदप्रस्थ |
| ३२५ | १ | २२३ | ३२५ |